CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उ-4/12

1.2

प्रेम

आम्नाय-ग्रन्थालय,
पत्लनिधि, करौंदा
वाराणसी

श्रीभगवन्नामकौमुदी

आम्नाय-ग्रन्थालय,
पत्लनिधि, करौंदा
वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

L. C. Sharma

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
ॐ
परमनिधि, करौंदी

प्रेम-दर्शन

देवर्षि नारदरचित

भक्तिसूत्र

हनुमानप्रसाद पोद्दार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0: In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

प्रेम-दर्शन

देवर्षि नारद विरचित

(भक्तिसूत्र)

प्रेमरूपा भक्तिका सुन्दर वर्णन व्याख्यासहित

लेखक

हनुमानप्रसाद पोद्दार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुद्रक तथा प्रकाशक

घनश्यामदास जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ प्रथम संस्करण ५२५०

सं० १९९५ द्वितीय संस्करण ३०००

सं० १९९७ तृतीय संस्करण ३०००

मूल्य ।-) पाँच आना

गी ता प्रे स, गो र ख पु र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
रत्ननिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

श्रीराधेश्याम

वन्देऽमन्दविभाविभासितभुवं राधामुकुन्दद्वयीम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

आम्नाय-ग्रन्थालय, भरतमिलाप, फरौंदी वाराणसी-5

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—प्रार्थना और निवेदन	... ...	५
२—देवर्षि नारद	... ...	१३
३—प्रेमरूपा भक्तिका स्वरूप	... ...	२५
४—प्रेममें अनन्यता	... ...	३६
५—प्रेमरूपा भक्तिके लक्षण और उदाहरण	... ...	४६
६—प्रेमरूपा भक्ति फलरूपा है	... ...	६४
७—प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्संगकी महिमा	...	७२
८—प्रेमरूपा भक्तिमें प्रधान बाधा कुसंगति है	...	९६
९—मायासे कौन तरता है ?	...	१०२
१०—प्रेमरूपा भक्ति और गौणी भक्तिका स्वरूप	...	११४
११—भक्तिकी सुलभता और महत्ता	... ...	१२५
१२—भक्तिके साधन और अन्तराय	... ...	१२९
१३—प्रेमी भक्तोंकी महिमा	... ...	१४८
१४—वाद-विवादरूपी विघ्न	... ...	१६१
१५—भक्तिके प्रधान सहायक	... ...	१६५
१६—प्रेमा भक्तिका फल और भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता	...	१९३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र-सूची

		पृष्ठ
१—श्रीराधेश्याम	(बहुवर्ण)	आरम्भमें
२—भक्तितत्त्वका उपदेश	(,,)	२५
३—आनन्दकन्द	(,,)	१९३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

प्रार्थना और निवेदन

नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥
मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः
करविनिहतकन्दुर्बल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणु-
र्वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वां च वृन्दावनाधीश त्वां च वृन्दावनेश्वरि
काकुभिर्वन्द्यमानोऽयं मन्दः प्रार्थयते जनः ॥
योग्यता मे न काचिद्वां कृपालाभाय यद्यपि ।
महाकृपालुमौलित्वात्तथापि कुरुतं कृपाम् ॥
अयोग्ये सापराधेऽपि दृश्यन्ते कृपयाकुलाः ।
महाकृपालवो हन्त लोके लोकेशवन्दितौ ॥
भक्तेर्वा करुणाहेतोर्लेशाभासोऽपि नास्ति मे ।
महालीलेश्वरतया तथाप्यत्र प्रसीदतम् ॥
यदक्षम्यं नु युवयोः सकृद्भक्तिलवादपि ।
तदागः क्वापि नास्त्येव कृत्वाशां प्रार्थये ततः ॥
एष पापी रुदन्नुच्चैरादाय रदनैस्तृणम् ।
हा नाथौ नाथति प्राणी सीदत्यत्र प्रसीदतम् ॥
हाहारावमसा कुर्वन् दुर्भगो भिक्षते जनः ।
एतां मे शृणुतं काकुं काकुं शृणुतमीश्वरौ ॥
वाचेह दीनया याचे साक्रन्दमतिमन्दधीः ।
किरतं करुणस्वान्तौ करुणोर्मिच्छटामपि ॥
मधुराः सन्ति यावन्तो भावाः सर्वत्र चेतसः ।
तेभ्योऽपि प्रेम मधुरं प्रसादीकुरुतं निजम् ॥
नाथितं परमेवेदमनाथजनवत्सलौ ।
स्वं साक्षाद्दास्यमेवास्मिन् प्रसादीकुरुतं जने ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय, ... करौंदी

अञ्जलिं मूर्ध्नि विन्यस्य दीनोऽयं भिक्षते जनः ।
अस्य सिद्धिरभीष्टस्य सकृदप्युपपाद्यताम् ॥
(स्तवपुष्पाञ्जलि)

सन् १९१६ ई० में सबसे पहले मैंने देवर्षि नारदके सूत्रोंकी एक बँगलामें छपी हुई पुस्तक देखी थी। उस समय मैं एकान्तवासमें था। भगवान्की कृपासे परमार्थ-साधनकी ओर कुछ मन लगता था, उसमें देवर्षिके सूत्रोंसे बड़ी सहायता मिली। वहीं सूत्रोंपर विचार करते-करते उनका भावार्थ लिखनेकी इच्छा हुई और कुछ समय बाद भावार्थ लिखा भी गया। छपानेकी न उस समय इच्छा थी और न सुविधा ही। लगभग सन् १९२० ई० में मैं बम्बईमें था, वहाँ एक दिन श्रीवेंकटेश्वरप्रेसके स्वामी स्व० सेठ खेमराजजीसे बातों-ही-बातोंमें सूत्रोंकी चर्चा चल गयी। उन्होंने बड़े आग्रहसे पाण्डुलिपि मुझसे ले ली और छापनेके लिये उसे प्रेसमें भी दे दिया; परन्तु असावधानतावश वहाँ पड़ी रह गयी। मुझे कोई विशेष आग्रह था नहीं, इससे मैंने कोई ताकीद नहीं की। सेठजीका स्वर्गवास हो गया। उसके अनन्तर कई वर्षों बाद मैं वहाँसे उस प्रतिको वापस माँग लाया। छपवानेका मन नहीं था। सङ्कोच था कि भक्तिशास्त्रपर मैं टीका लिखनेवाला कौन? परन्तु ज्यों-ज्यों प्रसिद्धि बढ़ने लगी, वह सात्त्विक सङ्कोच हटने लगा। और अन्तमें छपानेकी बात स्थिर हो गयी। मैंने फिरसे उसे पढ़ा; उसमें कई जगह परिवर्तन-परिवर्द्धनकी आवश्यकता जान पड़ी, इससे छपानेका काम रुक गया। इस बार भगवत्-प्रेरणासे पुनः उसकी देख-भाल हुई और कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुधार-बिगाड़ करनेके बाद 'कल्याण'में क्रमशः सब सूत्र छप गये। उसका कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप इस पुस्तकमें है।

जिस समय सन् १९१६में इसका भावार्थ लिखा गया था, उस समय हिन्दीमें शायद एक-दो टीकाएँ इसपर हुई होंगी। अब तो कई टीकाएँ हो चुकी हैं। इतना होनेपर भी इस टीकाको छपानेमें दो ही कारण हो सकते हैं—पहला तो मान-बड़ाईकी छिपी हुई कामना और दूसरा भक्तिशास्त्रकी आलोचनासे अपने कल्याणकी आशा। वस्तुतः भक्तिकी जितनी चर्चा हो उतना ही मङ्गल है। क्योंकि भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये भक्ति ही सर्वप्रधान साधन है, और साध्यरूपमें वही भगवत्प्रेम है। आशा है कि भक्त और विद्वान् पाठकगण इस प्रकार विचारकर मेरे इस कार्यको नितान्त निन्दनीय नहीं समझेंगे और मेरी धृष्टतापर क्षमा करेंगे, साथ ही मेरी भूलोंके लिये क्षमा करेंगे। प्रेममें भाषाकी अपेक्षा भावका ही विशेष मूल्य हुआ करता है। यद्यपि भक्तिशास्त्रपर कुछ भी व्याख्या-रूपसे लिखनेका मुझे अधिकार नहीं तथापि आशा है कि इस कार्यमें मेरी जो प्रवृत्ति हुई, उसको विज्ञ महानुभाव भगवत्-प्रेरणा और भगवत्कृपा समझकर मुझपर प्रसन्न होंगे। क्योंकि भगवत्कृपा बिना मनुष्यकी उत्तम कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। भक्तिशास्त्रकी आलोचना उत्तम-से-उत्तम कार्य है ही। कारण, इसमें भगवान्‌के दिव्य गुण, भगवान्‌के अलौकिक प्रेम, भगवान्‌की भक्ति, भगवत्प्रेमप्राप्तिके साधन और अन्ततः भगवान्‌के पवित्र नामोंकी तो चर्चा हुई है। इससे अवश्य ही मेरे नीरस और भक्तिशून्य हृदयमें कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसका और भक्तिका सञ्चार हुआ होगा। एक महात्मा भक्तके इन वचनोंपर हमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌के पवित्र नाम-गुणोंके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्यका कलुषित हृदय भी क्रमशः पवित्र होकर शिशुकी भाँति सरल हो जाता है। भगवान्‌के गुण और नामोंका कीर्तन हृदयकी सारी कालिमाओंको निःशेषरूपसे धो डालता है और प्रेमावेशके कारण शुद्ध और शान्तिमय दिव्य भावोंकी उत्पत्ति होकर उसके जन्म और जीवनको सफल कर देती है।

महापातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
पुनस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥

'महापातकी व्यक्ति भी यदि निमेषमात्र श्रीभगवान्‌का ध्यान करे तो वह पुनः पवित्र होकर पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र कर सकता है।'

फिर इस ग्रन्थमें व्याख्यारूपसे जो कुछ लिखा गया है सो सभी संतोंकी जूठन-प्रसादी है। मेरा वस्तुतः इसमें कुछ है भी नहीं। इसलिये पाठकोंको मेरी ओर न देखकर सूत्रकार, सूत्र और सूत्रकी व्याख्यारूपमें लिखे हुए शास्त्रों और संतोंके भावोंपर ध्यान देना चाहिये।

षड्दर्शनोंकी भाँति भक्तिसूत्र भी एक दर्शन माना गया है। इसे भक्तगण सप्तम दर्शन कहते हैं। ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष ही वास्तवमें भगवत्प्रेमके प्रकृत अधिकारी होते हैं। देवर्षिने चौरासी सूत्रोंमें ही भक्तितत्त्वकी व्याख्या, भक्तिके अन्तराय, भक्तिके साधन, भक्तिकी महिमा और भक्तोंका महत्त्व भलीभाँति प्रकट कर दिया है। अवश्य ही इसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान्‌के सगुण साकार दिव्य स्वरूपकी भक्तिका वर्णन है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानसे इस भक्तिका कोई विरोध है। वरं स्वयं देवर्षिने व्रजगोपियोंका उदाहरण देकर उनके मनमें श्रीभगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान होना सिद्ध किया है। श्रीभगवान्‌का ज्ञान ही न हो तो प्रेम किसमें हो। और यह तत्त्व सत्य ही है कि अभिन्न अखण्ड अनन्य अविकारी प्रेम होनेपर ही हृदयके असली तत्त्वका—प्रियतमके मनकी बातका पता लगता है। अतएव ज्ञान और भक्तिका इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार कर्मका भी विरोध नहीं है। भगवान्‌के लिये निष्काम कर्म करनेकी तो आज्ञा ही दी है। और कर्मोंका सर्वथा त्यागी भक्त भी अहर्निश भगवान्‌के प्रेममें मस्त होकर भगवच्चिन्तनरूपी कर्म तो छोड़ ही नहीं सकता। इसलिये देवर्षिकथित भक्तिमें ज्ञान और कर्म दोनों ही हैं, अवश्य ही वे होने चाहिये भक्तिके अनुकूल। शुष्क ज्ञान और कर्मको इसमें स्थान नहीं है। इसमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सर्वत्र रस-ही-रस है। भगवान् रसमय हैं ही। और उसी रसमें परम आनन्द है। श्रुति भी यही कहती है—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'

भक्तिसे ही उस रसमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भक्तिसे ही वह ऋषिमुनिदेवदुर्लभ परमानन्द मिलता है। अतएव भक्तिका ही आश्रय सबको लेना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'सूर्यभगवान् रोज-रोज उदय और अस्त होते हैं; इसमें मनुष्योंकी आयु वृथा ही नष्ट होती है। बस, उतना ही समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सफल होता है जिसमें हरिचर्चा की जाती है। संसारमें जीते रहना, और खाना-पीना कोई महत्त्वकी बात नहीं है। जैसे मनुष्य जीते हैं, वैसे ही क्या जड़ वृक्ष नहीं जीवित रहते ? लोहारकी धौंकनी क्या मनुष्योंके समान ही साँस नहीं लेती ? गाँवोंके पशु, कुत्ते, सूअर आदि क्या भोजन नहीं करते और मल-मूत्रका त्याग नहीं करते ? कुत्ते जिस प्रकार दर-दर भटकते हुए लाठियाँ खाते हैं, गाँवोंके सूअर जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं, ऊँट जैसे काँटे खाता है और गदहा जैसे केवल बोझ ढोता है, ठीक वैसे ही भगवान्‌की भक्तिसे हीन मनुष्य कुत्तेके समान सब ओरसे तिरस्कार पाता है, सूअरके समान असार विषयोंको ग्रहण करता है, ऊँटके समान दुःखभरे विषयरूपी काँटोंको खा-खाकर सदा दुखी रहता और गदहेके समान संसारके भारको ढोता और रोता रहता है। मनुष्यके वे कान साँपके बिलके समान हैं जिनमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला नहीं जाकर विषयवार्ता-रूपी साँप जाते हैं। वह जीभ मेंढककी जीभके समान है जो भगवान्‌के नाम-गुण नहीं गाती। वह सिर सुन्दर बालों और साजोंसे सजा हुआ होनेपर भी भाररूप है जो श्रीहरिके सामने नहीं झुकता। वे हाथ मुर्देके हाथोंके समान हैं जो सोनेके गहनों-से सजे होनेपर भी कभी श्रीहरिकी सेवा नहीं करते। मनुष्यकी वे आँखें मोरकी पाँखोंमें दीखनेवाली आँखोंके समान वृथा हैं जो भगवान्‌की पवित्र मूर्तियोंका दर्शन नहीं करतीं। वे पैर पेड़ोंके समान व्यर्थ हैं जो भगवान्‌के पवित्र स्थानों (मन्दिरों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और तीर्थों) में नहीं जाते। वह मनुष्य जीता ही मरेके समान है जो श्रीभगवान्‌की चरणधूलिको सिरपर नहीं धारण करता या भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी गन्धको नहीं सूँघता। और वह हृदय तो वज्रका ही है जो श्रीहरिनामोंको सुनकर उमड़ नहीं आता, गद्गद नहीं होता, जिससे रोमाञ्च नहीं होता और नेत्रोंमें आनन्दके आँसू नहीं भर आते।'

अन्तमें मैं अत्यन्त विनम्रभावसे भगवान्‌के प्रेमी समस्त भक्तोंके चरणकमलोंमें यही प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग सब मिलकर मुझको कृपापूर्वक ऐसा आशीर्वाद दें जिससे मेरा मन-मधुकर सदा श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें ही विहरण करनेवाला बन जाय। क्योंकि मनुष्यको तभीतक भय, शोक, स्पृहा, परिभव या लोभ रहता है जबतक कि वह भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं ले लेता—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भागवत ३।९।६)

भक्तोंके चरणरजका दासानुदास

हनुमानप्रसाद पोद्दार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवर्षि नारद

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥
(श्रीमद्भागवत १।६।३९)

'अहो! ये देवर्षि नारदजी धन्य हैं, जो वीणा बजाते, हरिगुण गाते और मस्त होते हुए इस आतुर जगत्को आनन्दित करते फिरते हैं।'

कारक पुरुष जगत्में वैसे ही लोककल्याणार्थ आते और विचरते हैं, जैसे स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान्की पवित्र लीलाके लिये भूमि तैयार कर देना, उनकी लीलाके लिये वैसे ही लीलोपयोगी उपकरणोंका संग्रह करना, लीलामें सहायक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना, यह उनका स्वाभाविक कार्य होता है। ऐसे महापुरुष मुक्त होनेपर भी मुक्त न होकर जगत्में जीवोंके साथ उनके कल्याणार्थ विराजते हैं। यों तो इनका कार्य सदा ही अबाधितरूपसे चलता रहता है, परन्तु किसी खास भगवदवतारके समय इनका कार्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है। इनका मंगलमय जीवन जगत्के महान् मंगलके लिये होता है। अविद्या, अहङ्कार, ममत्व, आसक्ति आदिसे सर्वथा रहित ये महापुरुष यन्त्री भगवान्के हाथोंमें यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं। इनके सारे कार्य भगवान्के ही कार्य होते हैं। ऐसे ही महापुरुषोंमें देवर्षि नारदजी एक हैं। सभी युगोंमें, सभी लोकोंमें, सभी शास्त्रोंमें, सभी समाजोंमें और सभी कार्योंमें नारदजी-का प्रवेश है। आप सत्ययुगमें भी थे; त्रेता, द्वापरमें भी और इस घोर कलिकालमें भी, कहते हैं कि, अधिकारी भक्तोंको आपके शुभ दर्शन हुआ करते हैं। गोलोक, वैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक आदिसे लेकर तल-अतलादि पातालतक सर्वत्र आपका प्रवेश है। और योगबलसे मन करते ही तुरन्त कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं। वेद, स्मृति, पुराण, संहिता, ज्योतिष, संगीत आदि सभी शास्त्रोंमें आप दृष्टिगोचर होते हैं। साक्षात् भगवान् विष्णु, शिव आदिसे लेकर घोर राक्षसतक आपका सम्मान, विश्वास और आदर करते हैं। देवराज इन्द्र भी आपके वचनोंका आदर करते हैं, और देवशत्रु हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधू भी आपकी बातपर विश्वासकर आपके आश्रममें अपनेको सुरक्षित समझती है। कहीं आप व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव-सरीखे महापुरुषोंको परमतत्त्वका उपदेश देते दिखायी देते हैं, तो कहीं दो पक्षोंमें कलह और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवाद खड़ा कर देनेके प्रयासमें लगे दीखते हैं। वास्तवमें आप अपने लिये कुछ भी नहीं करते। जिस कार्यसे जिसका मंगल देखते हैं और भगवान्‌की लीलाका एक सुन्दर दृश्य सामने ला पाते हैं, उसी कार्यको करने लगते हैं। इनका विवाद और कलह कराना भी लोकहितार्थ और भगवान्‌की लीलाके साधनार्थ ही हुआ करता है। क्योंकि इनकी प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की ही चेष्टा होती है। इनको तो वस्तुतः भगवान्‌का 'मन' ही समझना चाहिये; गम्भीर दृष्टिसे विचार करनेपर भगवत्कृपासे यह बात स्पष्ट दीखती है। कुछ लोग कहते हैं कि नारद नामके कई भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए हैं। उनमें वे सात मुख्य मानते हैं—१ ब्रह्माके मानस पुत्र, २—पर्वतऋषिके मामा, ३—वशिष्ठपत्नी अरुन्धतीके भाई या सत्यवतीनामक स्त्रीके स्वामी, ४—यहाँकी वहाँ करके आपसमें लोगोंको भिड़ा देनेवाले, ५—कुबेरके सभासद्, ६—भगवान् श्रीरामकी सभाके आठ धर्मशास्त्रियोंमेंसे एक और ७—जनमेजयके सर्पयज्ञके एक सदस्य।

यहाँपर हमें न तो इस विवादमें पड़ना है कि नारद एक थे या अनेक; और न विवाद करके इसका निर्णय करनेकी हममें योग्यता ही है। हाँ, हमारी दृष्टिमें तो हमें एक ही नारद दिखायी देते हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न कल्पों और युगोंमें भगवान्‌के यन्त्रकी हैसियतसे विभिन्न कार्य किये हैं और कर रहे हैं, यहाँ तो हमें नारदजीके उस कार्यके सम्बन्धमें कुछ कहना है जिसका सम्बन्ध भक्तिसे है। और वास्तवमें यही नारदजीका प्रधान कार्य है। समस्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्रोंके सुपण्डित तथा समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता और व्याख्याता होकर भी अन्तमें नारदजी भगवान्‌की भक्तिका ही उपदेश करते हैं। वाल्मीकि, व्यास, शुकदेव, प्रह्लाद, ध्रुव आदि महान् महात्माओंको भगवद्भक्तिमें लगाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं वीणा हाथमें लेकर सभी युगों और सभी समाजोंमें निर्भय और निश्चिन्त हुए सदा-सर्वदा भगवान्‌के पवित्र नामोंका गान करते हुए सारे विश्वके नर-नारियोंको पवित्र और भगवन्मुखी करते रहते हैं। इन भगवान् श्रीनारदने अपने दो कल्पों-के चरित्रका कुछ स्वयं वर्णन किया है। भागवतमें उक्त प्रसङ्ग बड़ा ही सुन्दर है। अपने और पाठकोंके मनोरञ्जनके लिये उसका कुछ मर्म नीचे दिया जाता है।

दिव्यदृष्टिसम्पन्न महर्षि व्यासजीने लोगोंके कल्याणके लिये वेदोंके चार विभाग किये। पञ्चम वेदरूप नानाख्यानोंसे पूर्ण महाभारतकी रचना की। पुराणोंका निर्माण किया। इस प्रकार सब प्राणियोंके कल्याणमें प्रवृत्त होनेपर भी व्यास भगवान्‌को तृप्ति नहीं हुई, उनके चित्तमें पूर्ण शान्ति न हुई, उन्हें अपने अन्दर कुछ कमी-सी प्रतीत होती ही रही; तब वे कुछ उदास-से होकर सरस्वती नदीके तटपर बैठकर विचारने लगे—'मैंने सब कुछ किया, तथापि मुझे अपने अन्दर कुछ अभावका-सा अनुभव क्यों हो रहा है? क्या मैंने भागवत धर्मोंका विस्तारसे निरूपण नहीं किया। क्योंकि भागवत धर्म ही परमेश्वर और परमहंस भक्तोंके प्रिय हैं।' वे इस प्रकार सोच ही रहे थे कि हरिगुण गाते प्रसन्नवदन श्रीनारदजी वहाँ आ पहुँचे। आवभगत और कुशलसमाचार पूछने-कहनेके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाद श्रीव्यासजीने अपनी स्थिति बतलाकर देवर्षिसे उसके लिये उपाय पूछा। तब श्रीनारदजी कहने लगे—

हे मुनिवर्य! आपने अपने ग्रन्थोंमें जिस प्रकार अन्यान्य धर्मोंका वर्णन किया है, उसी प्रकार भगवान्‌की कीर्तिका कीर्तन नहीं किया। इसीलिये आपके मनमें उदासी छायी है। जिस वाणीमें—जिस कवितामें जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमा और कीर्तिका वर्णन नहीं किया गया है, वह वाणी या कविता मृदु, मधुर और चित्र-विचित्र पदोंवाली (काव्यगुणसम्पन्न) होनेपर भी सारासारको जाननेवाले ज्ञानी-लोग उसे 'काकतीर्थ' के नामसे पुकारते हैं। अर्थात् जैसे विष्ठापर चोंच मारनेवाले कौओंके समान मलिन विषयभोगी कामी मनुष्यों-का मन उस कवितामें रमता है वैसे मानसरोवरमें विहरण करनेवाले राजहंसोंके समान परमहंस भागवतोंका मन उसमें कभी नहीं रमता। परन्तु सुननेमें कठोर और काव्यालंकारादिसे रहित, एवं पद-पदपर व्याकरणादिसे अशुद्ध होनेपर भी वह वाणी परम रम्य और जनसमूहके पापोंको नाश करनेवाली होती है जिसमें भगवान्‌के नाम और भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा भरी होती है। अतएव उस भगवद्गुण-नामसे पूर्ण वाणीको साधु-महात्मागण सुनते हैं, सुनाते हैं और कीर्तन करते हैं। हे मुनिवर! आप अमोघदर्शी हैं, आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। इसलिये अब आप संसारके कल्याणके लिये श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन कीजिये। विद्वानोंने मनुष्यके तप, श्रवण, नित्य धर्म और तीक्ष्ण बुद्धि आदिका परम फल केवल एक-मात्र भक्तिपूर्वक श्रीहरिका गुण वर्णन करना ही बतलाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरे पूर्वजन्मका इतिहास सुनकर उसका विचार कीजिये कि श्रीहरिके गुणश्रवणसे मैं क्या-से-क्या हो गया।

हे महामुनि ! मैं पूर्वकालमें एक दासीपुत्र था । एक समय चातुर्मास्य बितानेके लिये वर्षाकालमें हमारे गाँवमें बहुत-से महात्मा पधारे । मैं छोटा बालक था । मेरी माताने मुझे उन महापुरुषोंकी सेवामें लगा दिया । मैं उन महात्माओंके सामने किसी प्रकारका लड़कपन नहीं करता था, सब खेलोंको छोड़कर शान्तिके साथ उनके चरणोंमें बैठा रहता था । और बहुत ही कम बोलता था । इन्हीं सब कारणोंसे वे महात्मा समदृष्टि होनेपर भी मुझपर प्रसन्न होकर विशेष कृपा रखने लगे । उन मुनियोंकी आज्ञासे मैं उनके पत्तोंमें बची हुई जूठन खा लेता था । इसीके प्रभावसे मेरे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये । ऐसा करते-करते कुछ समयमें मेरा चित्त शुद्ध हो गया जिससे उनके धर्ममें (भागवत-धर्ममें) मेरी रुचि हो गयी । वहाँ वे लोग नित्य श्रीकृष्णकी कथाएँ गाते थे और मैं उन महात्माओंके अनुग्रहसे उन मनोहर कथाओंको श्रद्धाके साथ सुनता था । ऐसा करते-करते श्रीभगवान्‌में मेरी भक्ति हो गयी । हे महामुनि ! पहले भगवान्‌में मेरी रुचि हुई, फिर मेरी स्थिर दृढ़ मति हो गयी । उस विशुद्ध दृढ़ बुद्धिके प्रभावसे मैं अपने माया-रहित शुद्ध परब्रह्मरूपमें समस्त सत्-असत् प्रपञ्चको मायासे कल्पित देखने लगा । इस प्रकार वर्षा और शरद् दोनों ऋतुओं-भर वे महात्मा प्रतिदिन भगवान्‌के निर्मल यशका गान करते रहे, जिसके सुननेसे मेरे हृदयमें रजोगुण और तमोगुणको नाश करने-वाली सात्त्विकी भक्ति उत्पन्न हो गयी । मुझको अनुरागी, आश्रित,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जितेन्द्रिय, श्रद्धालु और पापहीन बालकरूप दास समझकर दीनों-पर दया करनेवाले उन महात्माओंने गाँवसे जाते समय परम कृपा करके साक्षात् भगवान्के द्वारा कहा हुआ गुह्यतम ज्ञान मुझसे कहा, जिस ज्ञानके द्वारा मैं भगवान् वासुदेवकी मायाके प्रभावको जान गया, जिसके जाननेसे पुरुष परमात्माके परमपदको प्राप्त होता है।*

इसके अनन्तर मुझे ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मा तो दूसरी जगह चले गये। मैं उनके बतलानेके अनुसार भजन करता रहा। मेरी माताके मैं ही एकमात्र पुत्र था, जिससे मुझपर माताका बड़ा भारी स्नेह था। वह मुझको ही अनन्य गति समझती थी। एक दिन कालप्रेरित सर्पने मेरी स्नेहमयी माताको डस लिया, जिससे

---

* प्रसिद्ध गीताके टीकाकार महात्मा श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने अपने भक्तिरसायन-ग्रन्थमें देवर्षि नारदजीके इसी क्रमका अनुसरण करते हुए भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतलायी हैं—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

१–प्रथम महापुरुषोंकी सेवा, २–तदनन्तर उनकी दयापात्रता, ३–उससे इनके धर्मोंपर श्रद्धा, ४–श्रद्धासे हरिगुणका श्रवण, ५–श्रवणसे प्रेमके अङ्कुरकी उत्पत्ति, ६–प्रेमसे स्वरूपप्राप्ति, ७–उससे परानन्द-स्वरूपमें प्रेमवृद्धि, ८–प्रेमवृद्धिसे परमानन्दका स्फुरण, ९–उससे भागवत-धर्ममें निष्ठा, १०–उससे अपनेमें उन गुणोंका प्राकट्य और ११–उससे प्रेमकी पराकाष्ठा। इस प्रकार भक्तिकी भूमिकाएँ कही गयी हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी मृत्यु हो गयी। तब 'भक्तोंका कल्याण चाहनेवाले भगवान्ने मुझपर कृपा की' ऐसा मानकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। और वहाँ एक घने वनमें पहुँचकर नदीकिनारे एक पीपलके वृक्षकी जड़में बैठकर भगवान्का चिन्तन और चित्तको एकाग्र करके भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंका ध्यान करने लगा। उस समय प्रेमावेशसे मेरी आँखोंमें आनन्दके आँसू भर आये। और मैंने देखा मेरे हृदयमें भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन पाते ही प्रेमकी बाढ़-सी आ गयी। मेरे रोम खड़े हो गये। मैं आनन्द-के समुद्रमें डूब गया और संसारसहित अपने आपको भूल गया।

सहसा भगवान्का वह मनमोहन परम सुन्दर रूप अन्तर्हित हो गया। तब मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं पुनः दर्शनार्थ चेष्टा करने लगा, तब मैंने आकाशवाणीसे सुना कि 'हे बालक! इस जन्ममें तुझको मेरे दर्शन नहीं होंगे, प्रेम बढ़ानेके लिये मैंने एक बार तुझे दर्शन दिये हैं। अल्पकालके सत्संगके प्रतापसे तेरी मुझमें दृढ़ भक्ति हुई है। तू इस शरीरको छोड़कर मेरा निजजन होगा, मुझमें तेरी अचल बुद्धि होगी और मेरी कृपासे कल्पान्तमें भी तुझे इस जन्मकी बातें याद रहेंगी।' तब मैंने अपनेको भगवान्का कृपापात्र जाना और झुककर प्रणाम किया और लज्जा छोड़कर भगवान्के परम गुप्त कल्याणमय नाम और गुणोंका कीर्तन और स्मरण करता हुआ सन्तोषके साथ अहङ्कार और ईर्ष्या त्यागकर निरीह हुआ संसारमें विचरने लगा। मैंने श्रीकृष्णमें मन लगाकर संसारका संग त्याग दिया। यथासमय मेरा वह शरीर नष्ट हो गया और मुझे शुद्ध दिव्य पार्षददेहकी प्राप्ति हुई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदनन्तर कल्पके अन्तमें संसारको अपनेमें लीन करके प्रलयसमुद्रमें शयन करनेवाले ब्रह्माजीके हृदयमें श्वासके साथ मैंने प्रवेश किया। सहस्र युगके उपरान्त जब ब्रह्माजी जगत्की रचना करने लगे तब मरीचि आदि ऋषियोंके साथ उनके श्वाससे मैं उत्पन्न हो गया।

तबसे अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करके मैं तीनों लोकोंमें बाहर-भीतर चाहे जहाँ विचरता हूँ। भगवान्की कृपासे मेरे लिये कहीं भी रुकावट नहीं है। स्वयं भगवान्की दी हुई इस स्वरमय ब्रह्मसे विभूषित वीणाको बजाकर हरिगुण गाता हुआ मैं सर्वत्र विचरता हूँ। भगवान्की मुझपर इतनी अपार कृपा है कि जब मैं प्रेमसे गद्गद होकर भगवान्की लीला गाता हूँ तभी मंगलकीर्ति पूज्यचरण भगवान् उसी क्षण प्रकट होकर मुझे ऐसे दर्शन देते हैं, जैसे कोई किसीके पुकारते ही शीघ्र आ जाता है।

जो लोग भोगोंकी इच्छासे बार-बार व्यग्रचित्त होकर संसारके विषय-भोगोंमें आसक्त हैं उनके संसारसागरसे तरनेके लिये केवल श्रीहरिचर्चा ही दृढ़ नौका है। इसीलिये मैं अपने और लोगोंके कल्याणके लिये सदा-सर्वदा हरिगुणगान करता हुआ विचरण करता हूँ। भगवान् श्रीहरिके भजनसे विषयी पुरुषोंका चित्त जितना शीघ्र शान्त होता है उतना योगादिके द्वारा नहीं होता। इतना कहकर हरिगुण गाते हुए श्रीनारदजी वहाँसे चल दिये।

महाभारतमें कहा है कि देवर्षि नारदजी समस्त वेदोंके तत्त्वज्ञ, देवताओंके पूज्य, इतिहासपुराणोंके विशेषज्ञ, अतीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्पोंकी बातोंको जाननेवाले, धर्म-तत्त्वके ज्ञाता, शिक्षा-कल्प-व्याकरणके असाधारण पण्डित, संगीतविशारद, परस्पर विरुद्ध विधिवाक्योंकी मीमांसा जाननेवाले, वाक्योंका पृथक्करण करनेमें पूर्ण योग्य, प्रभावशाली व्याख्यानदाता, मेधावी, स्मृतिमान्, नीतिशील, कवि, ज्ञानी, समस्त प्रमाणोंद्वारा वस्तुका विचार करनेमें समर्थ, बृहस्पति-जैसे विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करनेवाले, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले, योगबलसे समस्त दिशाओंसे परिपूर्ण भूमण्डलके प्रत्यक्षदर्शी, मोक्षाधिकारके ज्ञाता, कल्याणके लिये विवाद खड़ा कर देनेवाले, सन्धि और विग्रहके सिद्धान्तोंके ज्ञाता, अनुमानसे ही कार्यका तत्त्व जाननेवाले, समस्त शास्त्रोंके पूर्ण पण्डित, विधिका उपदेश करनेवाले, समस्त सद्गुणोंके आधार और अपार तेजस्वी थे। वे ज्ञानके स्वरूप, विद्याके भाण्डार, आनन्दके समूह, सदाचारके आधार, सब भूतोंके अकारण प्रेमी, विश्वके सहज ही हितकारी, भक्तिके महान् स्वरूप और आचार्य थे।

ऐसे देवर्षि नारदजीने सब कुछ उपदेश करनेके बाद 'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः' कहकर अन्तमें भक्तितत्त्वका उपदेश किया। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिका दर्जा बहुत ही ऊँचा है।

इस प्रकार लोगोंपर अकारण कृपाके कारण हरिगुण गाते हुए त्रिलोकीमें घूमनेवाले देवर्षि नारदजीके चरणोंमें प्रणामकर हमलोगोंको उनके परम प्रिय भक्तिके अनुपम उपदेशोंको ध्यानसे पढ़कर तदनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

प्रेमरूपा भक्तिका स्वरूप

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

१—अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

इस सूत्रके 'अथ' और 'अतः' शब्दसे यह प्रतीत होता है कि भक्तिमार्गके आचार्य परम भक्तशिरोमणि, सर्वभूतहितमें रत, दयानिधि देवर्षि नारदजी अन्यान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या तो कर चुके; अब जीवोंके कल्याणार्थ परम कल्याणमयी भक्तिके स्वरूप और साधनोंकी व्याख्या आरम्भ करते हैं। नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन्* परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

---

* पाठभेद "कस्मै"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

भक्तिके अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, परन्तु नारदजी जिस भक्तिकी व्याख्या करते हैं वह प्रेमस्वरूपा है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। ज्ञान, कर्म आदि साधनोंके आश्रयसे रहित और सब ओरसे स्पृहाशून्य होकर चित्तवृत्ति अनन्य भावसे जब केवल भगवान्‌में ही लग जाती है; जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे तथा परलोककी समस्त सुख-सामग्रियोंसे, यहाँतक कि मोक्ष-सुखसे भी चित्त हटकर एकमात्र अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌में लगा रहता है; सारी ममता और आसक्ति सब पदार्थोंसे सर्वथा निकलकर एकमात्र प्रियतम भगवान्‌के प्रति हो जाती है, तब उस स्थितिको 'अनन्य प्रेम' कहते हैं।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

३—और अमृतस्वरूपा (भी) है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है; वह सबसे अधिक मधुर है और जिसको यह प्रेमामृत मिल जाता है वह उसे पानकर अमर हो जाता है। लौकिक वासना ही मृत्यु है। अनन्य प्रेमी भक्तके हृदयमें भगवत्प्रेमकी एक नित्य नवीन, पवित्र वासनाके अतिरिक्त दूसरी कोई वासना रह ही नहीं जाती। इसी परम दुर्लभ वासनाके कारण वह भगवान्‌की मुनिमनहारिणी लीलाका एक साधन बनकर कर्मबन्धनयुक्त जन्म-मृत्युके चक्करसे सर्वथा छूट जाता है। वह सदा भगवान्‌के समीप निवास करता है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् उसके समीप ! प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद भगवान्‌का यह नित्य अटल संयोग ही वास्तविक अमरत्व है । इसीसे भक्तजन मुक्ति न चाहकर भक्ति चाहते हैं ।

अस बिचारि हरिभगत सयाने । मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

४—जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है ।

जिसने भगवत्-प्रेमामृतका पान कर लिया, वही सिद्ध है, 'सिद्ध' शब्दसे यहाँ अणिमादि सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषसे अभिप्राय नहीं है । प्रेमी भक्त, इन सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता । ये सिद्धियाँ तो ऐसे प्रेमी भक्तकी सेवाके लिये अवसर ढूँढ़ा करती हैं, परन्तु वह भगवत्प्रेमके सामने अत्यन्त तुच्छ समझकर इनको स्वीकार ही नहीं करता । स्वयं भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

'मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्माका पद, इन्द्रासन, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सब सिद्धियाँ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते।

एक भक्त कहते हैं—

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते॥

(बोधसार)

'प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्तिसे मन प्रफुल्लित हो गया। प्रेमके आँसुओंने मुखको, और गद्गद वाणीने कण्ठको सुशोभित कर दिया। अब तो हमें एक क्षणके लिये भी फुरसत नहीं है कि हम किसी दूसरे विषयको स्वीकार करें। इतनेपर भी सायुज्य आदि चारों प्रकारकी मुक्तियाँ न जाने क्यों हमारे दरवाजेपर खड़ी हमारी दासी बननेके लिये आतुर हो रही हैं।'

भक्त यदि भुक्ति और मुक्तिको स्वीकार कर लें तो वे अपना परम सौभाग्य मानती हैं, परन्तु भक्त ऐसा नहीं करते।

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

(नारदपाञ्चरात्र)

'मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकारकी विलक्षण भुक्तियाँ (भोग) दासीकी भाँति हरिभक्ति महादेवीकी सेवामें लगी रहती हैं।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काकभुशुण्डिजी महाराज कहते हैं—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥
तथा मोच्छ-सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ॥

इसलिये यहाँ सिद्धिका अर्थ 'कृतकृत्यता' लेना चाहिये । भक्त-को किसी वस्तुके अभावका बोध नहीं रहता । वह प्रियतम भगवान्‌के प्रेमको पाकर सर्वथा पूर्णकाम हो जाता है । यह पूर्णकामता ही उसका अमर होना है । जबतक मनुष्य कृतकृत्य या पूर्णकाम नहीं होता, तबतक उसे वारंवार कर्मवश आना-जाना पड़ता है । पूर्णकाम भक्त सृष्टि और संहार दोनोंमें भगवान्‌की लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव कर मृत्युको खेल समझता है । वास्तवमें उसके लिये मृत्युकी ही मृत्यु हो जाती है । प्रभु-लीलाके सिवा मृत्युसंज्ञक कोई भयावनी वस्तु उसके ज्ञानमें रह ही नहीं जाती, और इसलिये वह तृप्त हो जाता है । जबतक जगत्‌के पदार्थोंकी ईश्वर-लीलासे अलग कोई सत्ता रहती है तभीतक उनको सुखद या दुःखप्रद समझकर मनुष्य निरन्तर नये-नये सुखप्रद पदार्थोंकी इच्छा करता हुआ अतृप्त रहता है । जब सबका मूल स्रोत, सबका यथार्थ पूर्ण स्वरूप उसे मिल जाता है तब उन खण्ड और अपूर्ण पदार्थोंकी ओर उसका मन ही नहीं जाता । वह पूर्णको पाकर तृप्त हो जाता है ।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५–जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उत्साह होता है।

वह प्रेमी भक्त उस परम महान् वस्तुको पा लेता है, जिसके पानेपर सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जगत्के प्रेम, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, बल, यश, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त पदार्थ जिनके लिये भोगी और त्यागी सभी मनुष्य अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सदा ललचाते रहते हैं, भगवत्प्रेमरूपी दुर्लभ पदार्थके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं। विश्वभरमें फैले हुए उपर्युक्त समस्त पदार्थोंको एक स्थानपर एकत्रित किया जाय तो भी वे सब मिलकर जिस भगवान्‌रूपी समुद्रके एक जलकणके समान ही होते हैं, वे भगवान् स्वयं जिस प्रेमके आकर्षणसे सदा खिंचे रहते हैं, उस प्रेमके सामने संसारके पदार्थ किस गिनतीमें हैं?

श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥
(श्रीमद्भा० ६। १२। २२)

'जो परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करता है वह अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा करता है। गढ़ैयामें भरे हुए मामूली गन्दे जलके सदृश किसी भी भोगमें या स्वर्गादिमें उसका मन चलायमान नहीं होता।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमामृतसमुद्रमें डूबा हुआ भक्त क्यों अन्य पदार्थोंकी इच्छा करने लगा ?

जैसे भक्त भोग, मोक्ष आदिकी इच्छा नहीं करता; वैसे ही इनके नष्ट हो जानेका शोक भी नहीं करता । भोगोंके नाशको वह परमात्माकी लीला समझता है, इससे सदा—हर हालतमें आनन्दमें ही रहता है । परन्तु भगवत्प्रेमके सेवनमें यदि सायुज्य मोक्षके साधनमें कमी आती है तो वह उसके लिये भी शोक नहीं करता; वरं सदा यही चाहता है कि मेरा भगवत्प्रेम बढ़ता रहे, चाहे जन्म कितने ही क्यों न धारण करने पड़ें ।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतुरहित अनुरागु रामपद बढु अनुदिन अधिकाई ॥

इसी प्रकार वह किसी जीवसे या लौकिक दृष्टिसे प्रतिकूल माने जानेवाले पदार्थ या स्थितिसे कभी द्वेष नहीं करता । वह सब जीवोंमें अपने प्रभुको और सब पदार्थों और स्थितिमें प्रभुकी लीलाको देख-देखकर क्षण-क्षणमें आनन्दित होता है ।

निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध ॥

भक्तका मन सदा प्रभु-प्रेममें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि आधे क्षणभरके लिये भी अन्य किसी पदार्थमें नहीं रमता । गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधौ, मन न भए दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन अपने पास रहता ही नहीं, तब वह दूसरेमें कैसे रमे ? इसीलिये तो प्रेमियोंके भगवान्‌का नाम 'मनचोर' है—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हर लियो माधुरी मूरति, निरख नयनकी कोर॥

वे प्रेमी भक्तके चित्तको ऐसी चातुरीसे चुराकर अपनी सम्पत्ति बना लेते हैं कि उसपर दूसरेकी कभी नजर भी नहीं पड़ सकती। दूसरा कोई दीखे तब न कहीं उसमें आसक्ति या प्रीति हो, परन्तु जहाँ मनमें दूसरेकी कल्पनातकको स्थान नहीं मिलता, वहाँ किसमें कैसे आसक्ति या रति हो। प्रेममयी गोपियोंने कहा है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाईसों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

जब एक प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरेका मनमें प्रवेश ही निषिद्ध है तब दूसरे किसीकी प्राप्तिके लिये उत्साह तो हो ही कैसे ? कोई किसीको देखे, सुने, उसके लिये मनमें इच्छा उत्पन्न हो, तब न उसके लिये प्रयत्न किया जाय ? मन किसीमें रमे, तब न उसे पानेके लिये उत्साह हो। मन तो पहलेसे ही किसी एकका हो गया; उसने मनपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और स्वयं उसमें आकर सदाके लिये बस गया। दूसरे किसीके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी; यदि कोई आता भी है तो उसे दूरसे ही लौट जाना पड़ता है! क्या करे जगह ही नहीं रही।

रोम रोम हरि रमि रहे, रही न तनिकौ ठौर।

नेत्र बेचारे मनकी अनुमति बिना किसको देखें? जब कोई कहीं दीखता ही नहीं, तब उसको पानेके लिये उत्साहकी बात ही नहीं रह जाती।

दूसरी बात यह है कि उत्साह होता है मनुष्यको किसी सुखकी इच्छासे। जब समस्त सुखोंका खजाना ही अपने पास है तब क्षुद्र सुखके लिये उत्साह कैसे हो? इसलिये प्रेमोत्साहके पुतले भगवत्प्रेमी पुरुषोंमें लौकिक कार्योंके प्रति विषयोंके प्रति कोई भी उत्साह नहीं देखा जाता।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ, अशुभ सबका त्यागी है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६–जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त हो) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है, (और) आत्माराम बन जाता है।

भगवत्-प्रेम प्रकट होते ही मनुष्यको पागल कर देता है; अतः प्रेमी भक्त सदा प्रेमके नशेमें चूर हुआ दिन-रात प्रभुके ही गुण गाता, सुनता और चिन्तन करता रहता है। बाहरकी दूसरी बातोंका उसे होश ही नहीं रहता। जैसे पागल मनमानी बकता और करता है, इसी प्रकार वह प्रेमोन्मत्त भी प्रभुकी चर्चामें ही तल्लीन रहता है; क्योंकि उसके मनको यही अच्छा लगता है। भागवतमें कहा है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।३९-४०)

'भक्त चक्रपाणि भगवान्‌के कल्याणकारक एवं लोकप्रसिद्ध जन्मों और कर्मोंको सुनता हुआ, उनके अनुसार रक्खे गये नामोंका लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसारमें अनासक्त होकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचरता है। इस प्रकारका व्रत धारणकर वह अपने प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनसे उनमें अत्यन्त प्रेम हो जानेके कारण द्रवितचित्त हुआ उन्मत्तके समान कभी अलौकिक भावसे खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है।'

यों उन्मत्तकी तरह आचरण करता हुआ प्रेमी आनन्दमें भरकर कभी चुप हो जाता है, शान्त होकर बैठ जाता है। यह स्तब्धता उसकी पूर्णकामताका परिचय देती है। प्रभुकी मूर्ति हृदयमें प्रकट हो गयी, रूपमाधुरीमें आनन्दमत्त होकर भक्त ध्यानमग्न हो गया।

सुतीक्ष्णकी दशा बताते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

मुनि मग माहिं अचल है बैसा। पुलक सरीर पनसफल जैसा॥

नृत्य करते-करते प्रभुमय बन जानेपर ऐसी ही अवस्था हुआ करती है। उसका चित्त और शरीर सर्वथा स्तब्ध—शान्त हो जाता है। आत्मा आनन्दमय बन जाता है। इसीको आत्माराम कहते हैं। इस आत्मारामस्थितिमें विषयतृष्णा तो कहीं रह ही नहीं जाती—

न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥

अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। यही प्रेमाद्वैत या रसाद्वैत है। प्रियतमके साथ मिलकर प्रेमीका पृथक् अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेममें अनन्यता

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

७–वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है ।

यह प्रेमाभक्ति सर्वथा त्यागरूप है । इसमें धन, सन्तान, कीर्ति, स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी कामना नहीं रह सकती । जिस भक्तिके बदलेमें कुछ माँगा जाता है या कुछ प्राप्त होनेकी आशा या आकांक्षा है वह भक्ति कामनायुक्त है, वह स्वार्थका व्यापार है । प्रेमाभक्तिमें तो भक्त अपने प्रियतम भगवान् और उनकी सेवाको छोड़कर और कुछ चाहता ही नहीं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि 'मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (इन पाँच प्रकारकी*) मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते।' यथार्थ भक्तिके उदय होनेपर कामनाएँ नष्ट हो ही जाती हैं। क्योंकि वह भक्ति निरोधस्वरूपा यानी त्यागमयी है। वह निरोध क्या है?

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

८—लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं।

प्रेमाभक्तिमें यह कर्मत्याग अपने-आप ही हो जाता है। प्रेममें मतवाला भक्त अपने प्रियतम भगवान्को छोड़कर अन्य किसी बातको जानता नहीं; उसका मन सदा श्रीकृष्णाकार बना रहता है, उसकी आँखोंके सामने सदा सर्वत्र प्रियतम भगवान्की छवि ही रहती है। दूसरी वस्तुमें उसका मन ही नहीं जाता। श्रीगोपियोंने भगवान्से कहा था—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।

---

* पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ ये हैं—
सालोक्य—भगवान्के समान लोकप्राप्ति।
सार्ष्टि—भगवान्के समान ऐश्वर्यप्राप्ति।
सामीप्य—भगवान्के समीप स्थानप्राप्ति।
सारूप्य—भगवान्के समान स्वरूपप्राप्ति।
सायुज्य—भगवान्में लयप्राप्ति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
याम: कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३४)

'हे प्रियतम ! हमारा चित्त आनन्दसे घरके कामोंमें आसक्त हो रहा था, उसे तुमने चुरा लिया । हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी तुम्हारे पाद-पद्मोंको छोड़कर एक पग भी हटना नहीं चाहते । अब हम घर कैसे जायँ और जाकर करें भी क्या ?'

जगत्का चित्र चित्तसे मिट जानेके कारण वह भक्त किसी भी लौकिक (स्मार्त) अथवा वैदिक (श्रौत) कार्यके करने लायक नहीं रह जाता । इससे वे सब स्वयमेव छूट जाते हैं । सुन्दरदासजी ऐसे प्रेमी भक्तकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यौ करै ।
न संक भूत-प्रेतकी, न देव-जच्छते डरै ॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना ।
कहै न बात और की, सुभक्ति प्रेमलच्छना ॥
कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिर लागै ।
कबहुँक गदगद कंठ, सबद निकसैं नहिं आगे ॥
कबहुँक ह्वै उमंग बहुत ऊँचे सुर गावै ।
कबहुँक ह्वै मुख मौन गगन जैसो रहि जावै ॥
चित्त वित्त हरिसों लग्यो सावधान कैसे रहै ।
यह प्रेमलच्छना भक्ति है, शिष्य सुनो 'सुन्दर' कहै ॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९—उस प्रियतम भगवान्‌में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

बाहरी ज्ञान बना रहनेकी स्थितिमें प्रेमी भक्त अपने प्रियतमके प्रति अनन्य भाव रखता हुआ उसके प्रतिकूल कार्योंसे सर्वथा उदासीन रहता है। इस प्रकार सावधानीसे होनेवाले कर्म भी निरोध कहलाते हैं। प्रेमी भक्तके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा अपने प्रियतमके अनुकूल होती है और अनन्य भावसे उसीकी सेवाके लिये होती है। प्रतिकूल चेष्टा तो उसके द्वारा वैसे ही नहीं होती जैसे सूर्यके द्वारा कहीं अँधेरा नहीं होता या अमृतके द्वारा मृत्यु नहीं हो सकती।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

१०—(अपने प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

प्रेमी भक्तके मनमें अपने प्रियतम भगवान्‌के सिवा अन्य किसीके होनेकी ही कल्पना नहीं होती, तब वह दूसरेका भजन कैसे करे ? वह तो चराचर विश्वको अपने प्रियतमका शरीर जानता है, उसे कहीं दूसरा दीखता ही नहीं—

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

रहीम कहते हैं कि आँखोंमें प्यारेकी मधुर छवि ऐसी समा रही है कि दूसरी किसी छविके लिये स्थान ही नहीं रह गया—

प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोपियोंकी सर्वत्र श्याममयी चित्तवृत्तिका वर्णन करते हुए श्रीदेवकविने कहा है—

औचक अगाध सिंधु स्याहीकौ उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गए एक संगमें।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद सु
न्यारे करि बाँचे कौन जाँचे चितभंगमें॥
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैन जिमि,
जंबूनद-बुंद जमुना-जल-तरंगमें।
यों ही मन मेरो मेरे कामको न रह्यो माई,
स्याम रँग ह्वै करि समानो स्याम रंगमें॥

यदि कोई उससे दूसरेकी बात कहता है तो वह उसे सुनना ही नहीं चाहता या उसे सुनायी ही नहीं पड़ती। यदि कहीं जबरदस्ती सुननी पड़ती भी है तो उसका मन उधर आकर्षित होता ही नहीं। शिवजीकी अनन्योपासिका पार्वतीजीको सप्तर्षियोंने महादेवजीके अनेक दोष बतलाकर उनसे मन हटाने और सर्वसद्गुणसम्पन्न भगवान् विष्णुमें मन लगानेको कहा, तब शिवप्रेमकी मूर्ति भगवतीने उत्तर दिया—

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न तु रहउँ कुआँरी॥
महादेव अवगुनभवन, बिष्णु सकल गुनधाम।
जेहिकर मन रम जाहिसन, तेहि तेही सन काम॥

इसी तरह गोपियोंने भी उद्धवजीसे कहा था—

ऊधौ! मन मानेकी बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो चकोरको दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपकसों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

इस प्रकार प्रेमी भक्त एकमात्र अपने प्रियतम भगवान्‌को ही जानकर, उसीको सर्वस्व मानकर, जैसे मछलीको केवल जलका आश्रय होता है वैसे ही केवल भगवान्‌का ही आश्रय लेकर, सारी चेष्टाएँ उसीके लिये करता है।

एक भरोसो एक बल, एक आस बिसवास।
एक राम घनस्याम हित चातक 'तुलसीदास'॥

वह चातककी टेककी भाँति केवल भगवान्‌में ही चित्त लगाये, सम्पूर्णरूपसे उसीपर निर्भर करता हुआ, उसीके लिये शरीर धारण करता है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना, देना-लेना, दान-पुण्य करना, सब कुछ उसीके लिये होता है। अतएव उसके समस्त कर्म भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमभावसे सम्पन्न होनेके कारण स्वाभाविक ही कल्याणमय होते हैं।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥११॥

११—लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

अनन्यभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवालेके लिये भगवान्‌के प्रतिकूल कर्मोंका अपने आप ही त्याग हो जाता है। वैदिक या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लौकिक (श्रौत या स्मार्त), कोई भी ऐसा कर्म वह नहीं कर सकता जो भगवान्‌के अनुकूल न हो, यानी जिससे प्रेमाभक्तिकी वृद्धिमें सहायता न पहुँचती हो ।

पुत्रके लिये माता-पिताकी, स्त्रीके लिये स्वामीकी और शिष्यके लिये गुरुकी आज्ञा मानना वेद और लोक-धर्मके अनुसार सर्वथा कर्तव्य है; परन्तु उनकी आज्ञा भी यदि भगवत्-प्रेमसे विरुद्ध है तो प्रेमी भक्त कष्ट सहकर भी उसका त्याग कर देता है, क्योंकि उसके द्वारा अपने प्यारेके प्रतिकूल आचरण होना असम्भव है ।

गोस्वामीजी महाराजने उदाहरण देते हुए कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरीसम जद्यपि परमसनेही ॥
पिता तज्यो प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुर तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भए जग मंगलकारी ॥

प्रह्लादने भगवान्‌के प्रतिकूल पिताकी आज्ञा नहीं मानी, विभीषणने भाईका साथ छोड़ दिया, भरतजी माताकी आज्ञाको टाल गये, राजा बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात नहीं सुनी और व्रजवनिताओंने पतियोंकी आज्ञापर ध्यान नहीं दिया, और ये सभी जगत्‌के लिये कल्याणकारी हुए ।

कर्म चार प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध । इनमें मद्य-मांस-सेवन, चोरी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो सभीके लिये त्याज्य हैं । शास्त्रीय काम्य (सकाम) कर्म बन्धनकारक तथा जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले होनेके कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'काम्यानां कर्मणां न्यासम्' इस भगवद्-वचनानुसार त्याज्य हैं। रहे नित्य और नैमित्तिक कर्म, इनको लौकिक और वैदिक विधिके अनुसार फलासक्ति छोड़कर केवल भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये। भगवत्-प्रीत्यर्थ वही कर्म होते हैं जो भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ानेवाले हों। गीताके अनुसार आसक्ति और फलाशा छोड़कर मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना और प्रतिकूल कर्मोंका त्याग करना ही विरोधी कर्मोंमें उदासीनता है। प्रेमाभक्तिकी उन्मादमयी स्थिति प्राप्त न होनेतक ऐसे भगवदनुकूल कर्म प्रेमी भक्तके द्वारा स्वाभाविक हुआ ही करते हैं।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥१२॥

१२—(विधिनिषेधसे अतीत अलौकिक प्रेमप्राप्ति करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये। अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

प्रेमकी बाह्यज्ञानशून्य, विधि-निषेधसे अतीत सिद्धावस्थामें लौकिक और वैदिक कर्मोंका त्याग अपने-आप ही हो जाता है जान-बूझकर किया नहीं जाता।

इसलिये जबतक प्रेमकी वैसी, सब कुछ भुला देनेवाली स्थिति प्राप्त न हो जाय तबतक प्रेमके नामपर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। शास्त्रके अनुसार भगवान्‌के अर्पणबुद्धिसे भगवदनुकूल नित्य-नैमित्तिक कर्म और श्रवण-कीर्तनादि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूप भजन करते-करते ही भगवान्‌का वह परमोच्च प्रेम प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

अतः तुम्हारे लिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, यह जानकर तुम्हें शास्त्रविधिके अनुसार ही कर्म करना चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥ १३ ॥

१३—नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

जो मनुष्य जान-बूझकर शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन न करके शास्त्रके प्रतिकूल, अमर्यादित कार्य करता है और उसे प्रेमका नाम देकर दोषमुक्त होना चाहता है, वह अवश्य ही गिर जाता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है वह न सिद्धि पाता है, न परम गति पाता है और न उसे सुखकी ही प्राप्ति होती है।' जान-बूझकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना प्रेमका आदर्श नहीं है, मोह है, उच्छृङ्खलता और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वेच्छाचार है । ऐसा करनेवाला परिणाममें आसुरी योनि, नरक और दुःखोंको ही प्राप्त होता है ।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

१४—लौकिक कर्मोंको भी तबतक (बाह्यज्ञान रहनेतक विधिपूर्वक करना चाहिये ।) पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे ।

वैदिक कर्मके साथ ही लौकिक जीविका, गृहस्थ-पालन आदिके कार्य भी सावधानीके साथ भगवदनुकूल विधिके अनुसार करने चाहिये । अवश्य ही एक ऐसी बाह्यज्ञानशून्य सिद्धावस्था* होती है जिसमें वैदिक, लौकिक कार्य अनायास ही छूट जाते हैं; परन्तु उस स्थितिके प्राप्त होनेतक दोनों प्रकारके कर्म विधिवत् अवश्य करने चाहिये । वैसी विधिनिषेधातीत फलस्वरूपा स्थितिमें तो वे आप ही छूट जायँगे । परन्तु आहारादि कर्म उस अवस्थामें भी रहेंगे । कारण, वे शरीरके लिये आवश्यक हैं । यद्यपि प्रेमके नशेमें चूर भक्त आहारादिके लिये कोई चेष्टा नहीं करता, परन्तु योगक्षेमवहनकारी भगवान्‌के विधानसे उसे आहारकी प्राप्ति होती रहती है । अवश्य ही वह भगवत्प्रसाद ही होता है ।

---

* बाह्यज्ञानशून्य सिद्धावस्थासे यहाँ 'भावसमाधि' नहीं समझनी चाहिये । यह प्रेमकी वह पूर्णतम सफल स्थिति है जिसमें प्रेममय भगवान्‌को छोड़कर 'बाह्य' और कुछ रहता ही नहीं । भगवान्‌के अतिरिक्त 'बाह्य' का ज्ञान सम्पूर्णतया निःशेष हो जानेपर ही यह विधिनिषेधातीत फलस्वरूपा स्थिति प्राप्त होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमरूपा भक्तिके लक्षण और उदाहरण

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

१५—अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण बताये जाते हैं ।

विभिन्न आचार्योंने भक्तिका स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपसे बतलाया है, पहले उनका वर्णन करके फिर देवर्षि नारदजी अपना मत दिखलाना चाहते हैं ।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

१६—पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है ।

अपने तन, मन, धनको भगवान्‌की पूजन-सामग्री समझना और परम श्रद्धापूर्वक यथाविधि तीनोंके द्वारा भगवान्‌की प्रतिमाकी अथवा विश्वरूप भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये । भगवत्-पूजामें मन लगनेसे संसारके बन्धनकारक विषयोंसे मन अपने-आप ही हट जाता है । बाह्य और मानस दोनों ही प्रकारसे भगवान्‌की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूजा होनी चाहिये। भगवत्की पूजासे भगवान्का परमपद प्राप्त होता है—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

(विष्णुरहस्य)

'इस धरातलमें जो लोग भगवान्की पूजा करते हैं वे सनातन आनन्दमय परमपदको प्राप्त होते हैं।'

कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥

१७—श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

श्रीभगवान्की दिव्य लीला, महिमा, उनके गुण और नामोंके कीर्तन तथा श्रवणमें मन लगाना निस्सन्देह भक्तिका प्रधान लक्षण है। संसारमें अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं जिन्हें भगवान् और भगवान्की कथासे कोई मतलब ही नहीं है। दिन-रात विषय-चर्चामें ही उनका जीवन बीतता है। न तो वे कभी भगवान्का गुणगान करते हैं और न उन्हें भगवच्चर्चा सुहाती है। 'श्रवन न रामकथा अनुरागी।' इस अवस्थामें जिन मनुष्योंका मन भगवान्के गुणानुवाद सुनने और कहनेमें लगा रहता है वे अवश्य ही भक्त हैं। सूत्रकार आचार्य श्रीनारदजीने स्वयं महर्षि वेदव्याससे कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(श्रीमद्भा० १।५।२२)

'विद्वानोंने यही निरूपित किया है कि भगवान्‌का गुणानुवाद-कीर्तन ही तप, वेदाध्ययन, भलीभाँति किये हुए यज्ञ, मन्त्र, ज्ञान और दान आदि सबका अविनाशी फल है।' श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

रामकथा सुंदर करतारी। कलिमलबिहग उड़ावनिहारी ॥
भवसागर चह पार जो जावा। रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा ॥

अतएव श्रीहरिकथामें यथार्थ अनुराग होना भक्ति है और इस भक्तिसे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

१८—शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है।

अविच्छिन्नरूपसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें रत रहना ही आत्मरति है; इस आत्मरतिमें नित्य स्थित रहनेको ही अव्यक्तोपासक महानुभाव भक्ति कहते हैं। श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें श्रीभगवान् ही विराजमान हैं, अतः उन सर्वात्मामें रति होना वस्तुतः भगवान्‌की भक्ति ही है। और ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई सन्देह नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥१९॥

१९—परन्तु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

नारदजीको महर्षि व्यास, गर्ग और शाण्डिल्यकथित भक्तिके लक्षणोंसे कोई विरोध नहीं है। भगवान्‌की पूजा करना, भगवान्‌के गुणगान करना और सर्वात्मरूप भगवान्‌में प्रेम करना उचित और आवश्यक है। व्यासजीको तो भगवद्‌गुणगानमें श्रीनारदने ही लगाया था। अतः इन लक्षणोंका खण्डन करने या इन्हें तुच्छ बतलानेके लिये नहीं, परन्तु इन्हींको और भी पुष्ट करनेके लिये नारदजी इन सभी लक्षणोंसे युक्त एक सर्वाङ्गपूर्ण भक्तिका लक्षण निर्देश करते हुए कहते हैं कि अपने समस्त कर्म, (वैदिक और लौकिक) भगवान्‌में अर्पण करके प्रियतम भगवान्‌का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी उनका यदि विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूला जाय) तो परम व्याकुल हो जाना, यही सर्वलक्षणसम्पन्न भक्ति है। इसमें पूजा-कथामें अनुराग और विश्वात्मा भगवान्‌में रति तो रहती ही है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें सब प्रकारके योगियोंमें इन्हीं लक्षणोंसे युक्त भक्तियोगीको सर्वोत्तम बतलाया है—

> **तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
> **कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४६-४७)

'तपस्वियोंसे, शास्त्रज्ञानियोंसे और सकाम कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; अतएव हे अर्जुन ! तू योगी बन । परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी वह भक्तियोगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है जो मुझमें श्रद्धावान् है और अन्तरात्माको मुझमें लगाकर निरन्तर मुझे भजता है ।'

भगवान्‌ने फिर आज्ञा की है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय (बिना विराम) मेरा स्मरण कर और (स्मरण करता हुआ ही मेरे लिये ही) युद्ध कर । इस प्रकार मुझमें ही मन-बुद्धि अर्पण करके तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख आदिकी परवा न करके, आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, शरीर और संसारमें अपने लिये अहंता-ममतासे रहित होकर, एकमात्र परम प्रियतम श्रीभगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, परम सुहृद् समझकर, अनन्यभावसे, अत्यन्त श्रद्धाके साथ, प्रेमपूर्वक निरन्तर तैलधारावत् उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते हुए परमानन्दमें मग्न रहना और इस प्रकार चिन्तनपरायण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहते हुए ही केवल उन परम प्रियतम भगवान्‌के लिये, उनकी रुचि तथा इच्छाके अनुसार, उन्हींके प्रीत्यर्थ, उन्हींको सुख पहुँचानेके दृढ़ और परम स्वार्थसे प्रेरित होकर, सर्वथा निःस्वार्थ-भावसे समस्त दैहिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंका आचरण करना। यदि किसी कारणवश क्षणभरके लिये भी उनका चिन्तन-स्मरण छूट जाय तो जलसे निकाली हुई मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुलताका अनुभव करना, यही सर्वोच्च भक्ति है।

ऐसा पूर्ण समर्पणकारी प्रेमी भक्त त्रैलोक्यके राज्यसुखकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्षके लिये भी, किसी भी हालतमें अपने प्रियतम भगवान्‌का स्मरण छोड़ना नहीं चाहता। भगवान् ऐसे भक्तकी प्रशंसा करते हुए भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १५—१७)

'हे उद्धव! इस प्रकारके तुम भक्त मुझको जैसे प्रिय हो, वैसे प्रिय ब्रह्मा, शङ्कर, बलराम, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। ऐसे किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले, शान्तचित्त, निर्वैर, सर्वत्र समभावसे मुझको देखनेवाले और निरन्तर मेरा मनन करनेवाले प्रेमी भक्तोंकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा-सर्वत्र उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ। मुझमें चित्तको अनुरक्त कर रखनेवाले, सर्वस्व मुझको अर्पण करके अकिञ्चन बने हुए ऐसे शान्त, और मेरे नाते सब जीवोंके प्रति स्नेह करनेवाले तथा सब प्रकारकी कामनाओंसे शून्य हृदयवाले महात्मा जिस परमसुखका अनुभव करते हैं, उस निरपेक्ष परमानन्दको दूसरे लोग नहीं जानते।' बस, श्रीनारदजीके मतसे यही भक्ति है। ऐसा भक्त समस्त आचरण श्रीभगवान्‌के अर्पण करके अनवच्छिन्नरूपसे भगवत्स्मरण करता रहता है, और कहीं तनिक भी भूल जानेपर परम व्याकुल हो जाता है।

अस्त्येवमेवम् ॥२०॥

२०—ठीक ऐसा ही है।

देवर्षि नारद पिछले सूत्रमें बतलाये हुए सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये कहते हैं कि वस्तुतः भक्तिका यही स्वरूप है!

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥२१॥

२१—जैसे व्रजगोपियोंका (भक्ति)।

भक्तिका लक्षण बतलाकर अब देवर्षि उदाहरणमें प्रेमिका-शिरोमणि प्रातःस्मरणीया श्रीगोपिकाओंका नाम लेते हैं। वस्तुतः गोपियोंकी ऐसी ही महिमा है। जगत्‌में ऐसा कौन है जो गोपियोंके प्रेमके तत्त्वका बखान कर सके? उनका तन, मन, धन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक, परलोक सब श्रीकृष्णके अर्पित था। वे दिन-रात श्रीकृष्णका ही चिन्तन करतीं, गद्गद वाणीसे निरन्तर श्रीकृष्णका ही गुणगान करतीं और सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्णको ही देखा करती थीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'हे गोपिकाओ! तुमने मेरे लिये गृहस्थकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरा भजन किया है। तुम्हारा यह कार्य सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओंकी आयुपर्यन्त भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। तुम अपनी उदारतासे ही मुझे ऋणमुक्त करना।'

उद्धवको सँदेसा देकर भेजते समय भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद वाणीसे कहा था—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४—६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हे उद्धव ! गोपियोंने अपना मन मुझको समर्पण कर दिया है, मैं ही उनके प्राण हूँ, मेरे लिये उन्होंने अपने देहके सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिये समस्त लौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनको मैं सुख पहुँचाता हूँ। वे गोपियाँ मुझको प्रियसे भी अति प्रिय समझती हैं, मेरे दूर रहनेपर मुझे स्मरण करके वे दारुण विरहवेदनासे व्याकुल होकर अपने देहकी सुधि भूल जाती हैं। मेरे बिना वे बड़ी ही कठिनतासे किसी प्रकार प्राण धारण कर रही हैं, मेरे पुनः व्रज जानेके सन्देशके आधारपर ही वे जी रही हैं। मैं उन गोपियोंकी आत्मा हूँ और वे मेरी हैं।'

उद्धवने व्रजमें आकर जब प्रेममयी गोपियोंकी दशा देखी, उन्हें सब ओर, बाहर-भीतर श्रीकृष्णके दर्शन करते पाया और जब उनके मुखसे सुना—

[१]

नाहिन रह्यो हियमहँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदयते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ ! लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेमपूरन, घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[२]

ऊधौ! जोग जोग हम नाहीं।
अबला ग्यानसार कहा जानैं, कैसे ध्यान धराहीं॥
ते ये मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपटकी मधुकर हमते सुनी न जाहीं॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भसम बतावत, बिरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो है हम पाहीं।
'सूरदास' सो न्यारो न पल छिन ज्यों घटते परिछाहीं॥

गोपियोंने कहा—'उद्धवजी! योग उन्हें जाकर सिखाओ, जहाँ श्यामसुन्दरका वियोग हो। यहाँ तो देखो, सदा ही संयोग है; हमारा प्यारा श्याम सदा-सर्वदा हमारे साथ ही रहता है।' तब उद्धवकी आँखें खुलीं, वे गोपियोंके शुद्ध प्रेमके प्रबल प्रवाहमें बह गये—

सुनि गोपीके बैन नेम ऊधौके भूले।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूले॥
खिन गोपिनके पग परै, धन्य सोइ है नेम।
धाइ धाइ द्रुम भेंटहीं, ऊधौ छाके प्रेम॥

उन्होंने भक्तिप्रणत चित्तसे कहा—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५८, ६०-६१)

'जगत्‌में इन गोपललनाओंका ही देह धारण करना सफल है, क्योंकि इनका चित्त विश्वात्मा भगवान् श्रीगोविन्दमें लगा हुआ है, जिनकी भवभयसे भीत हुए मुनिगण तथा हमलोग सभी इच्छा करते हैं। सत्य है, जो श्रीअनन्तकी लीला-कथाओंके रसिक हैं उन्हें ब्राह्मणोंके तीनों जन्मों (जन्म, यज्ञोपवीत और यज्ञदीक्षा) की क्या आवश्यकता है? रासलीलाके समय भगवान् श्रीहरिके भुजदण्डको कण्ठहार बनाकर पूर्णकाम हुई इन व्रजबालाओंको श्रीहरिका जो प्रसाद प्राप्त हुआ है, वैसा निरन्तर हृदयमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजी और कमलकी-सी कान्ति और सुगन्धिसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है? इन महाभागा गोपियोंने कठिनतासे छोड़े जा सकनेवाले बन्धुओंको और आर्यधर्म-को त्यागकर श्रुति जिसकी खोज करती है, उस मुकुन्दपदवीका अनुसरण किया है। अहो! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई होऊँ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है ।' मथुराकी कुलाङ्गनाओंने गोपियोंकी दशाका वर्णन करके उनके जीवनको धन्य बताते हुए कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, वालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें छिड़काव करते तथा झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे, आँखोंमें आँसू भरे, गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके गुणगान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है !'

इन गोपियोंकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है । सर्वत्यागी व्रजवासी भक्तोंने तो गोपीपदपङ्कजपराग ही बनना चाहा है । सत्य ही कहा है—

गोपी प्रेमकी धुजा ।
जिन घनस्याम किये बस अपने उरधरि स्यामभुजा ॥

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव-सदृश महान् त्यागी महापुरुषोंने तो गोपियोंको प्रेममार्गका गुरु माना है । महान् भक्त श्रीनागरी-दासजी कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जयति ललितादि देवीय व्रज श्रुतिरिचा,
कृष्ण प्रिय केलि आधीर अंगी ।
जुगल-रस-मत्त आनंदमय रूपनिधि,
सकल सुख समयकी छाँह संगी ॥
गौरमुख हिमकरनकी जु किरनावली,
स्रवत मधु गान हिय पिय तरंगी ।
'नागरी' सकल संकेत आकारिनी,
गनत गुनगननि मति होति पंगी ॥

एक व्रजभक्तने कहा है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तियतें न्यारी ।
कमलनयन गोविंदचंदकी प्रानपियारी ॥
निरमत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी ।
निरमल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी ॥
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावैं ।
क्यों नहिं परमानन्द प्रेमभगती सुख पावैं ॥

गोपियोंकी महिमा तभी कुछ समझमें आ सकती है, जब साधक विषयोंसे परम वैराग्य धारणकर प्रेमपथपर कुछ अग्रसर होता है ।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥

२२—इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं ।

अर्थात् गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव, रहस्य और गुणोंको जानती थीं । कुछ लोगोंका कहना है कि प्रेममें माहात्म्य-ज्ञान नहीं रहता, माहात्म्यज्ञान होगा तो प्रेम नहीं रहेगा, परन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोपियोंमें ऐसी बात नहीं थी। गोपियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् जानती हुई ही अपना प्रियतम समझती थीं। लौकिक प्रेम और भगवत्प्रेममें यही खास भेद है। भगवत्प्रेममें वस्तुतः ऐसा ही होता है। जो लोग कहते हैं कि गोपियाँ श्रीकृष्णको भगवान् नहीं जानती थीं, वे श्रीमद्भागवतके नीचे लिखे श्लोकोंका मनन करें—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(१०। २९। ३१-३२, ३६-३७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ॥
(१० । २९ । ४१)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(१० । ३१ । ४)

'हे विभो ! आप ऐसे कठोर शब्द (वापस जानेकी बात) न कहिये । हमने अन्य सम्पूर्ण विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके ही चरणकमलोंका आश्रय लिया है । हे स्वच्छन्द ! जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको भजते हैं, (उनके इच्छानुसार उन्हें स्वीकार करते हैं) उसी प्रकार आप हमें अङ्गीकार कीजिये, त्यागिये नहीं । हे हरि ! आप धर्मको जाननेवाले हैं (फिर आप कैसे कहते हैं कि तुमलोग लौट जाओ, आपकी शरण आनेपर भी क्या कोई कभी वापस लौटता है ?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है सो यह उपदेश उपदेशके स्थान आप ईश्वरके विषयमें ही रहे क्योंकि समस्त देहधारियोंके प्रियतम बन्धु और आत्मा तो आप ही हैं । हे कमललोचन ! जिस समय श्रीलक्ष्मीजीको (श्रीविष्णुरूपमें) कभी-कभी आनन्दित करनेवाले आपके चरणकमलोंको हमने स्पर्श किया था और वनवासी तपस्वियोंके प्रिय आपने हमें आनन्दित किया था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तभीसे हमारे लिये अन्यत्र कहीं ठहरना असम्भव हो गया है। जिनकी कृपादृष्टि पानेके लिये देवगण अत्यन्त प्रयास करते हैं, वे लक्ष्मीजी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वीके आपके वक्षःस्थलमें स्थान पाकर भी तुलसीजीके सहित अन्य भक्तोंसे सेवित आपकी चरण-रजकी इच्छा करती हैं, हम भी निःसन्देह आपकी उसी चरणरजकी ही शरणमें आयी हैं, क्योंकि देवताओंकी रक्षा करनेवाले आप आदिपुरुष परमात्मा ही व्रजमण्डलका भय और दुःख दूर करनेके लिये प्रकट होकर अवतीर्ण हुए हैं। यह निश्चय है कि आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं वरं समस्त देहधारियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही आपने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।'

ऐसे अनेकों प्रमाणोंसे तथा युक्तियोंसे यह सर्वथा सिद्ध है कि गोपियोंने श्रीकृष्णको साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् समझकर ही उन्हें आत्मसमर्पण किया था।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥२३॥

२३–उसके बिना (भगवान्‌को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला ऐसा प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है।

माहात्म्यज्ञान बिना स्त्रियोंके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला ऐसा प्रेम जारोंका-सा प्रेम होता है। जिस प्रेममें सर्वार्पण है, जिसमें लौकिक स्वार्थकी तनिक-सी गन्ध भी नहीं है, ऐसा प्रेम केवल भगवान्‌के प्रति ही हो सकता है। यद्यपि जाने-अनजाने किसी प्रकार भी भगवान्‌के प्रति किया हुआ प्रेम निष्फल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होता, परन्तु जानकर होनेवाले प्रेममें विशेषता होती है। भगवान् हमारे प्रियतम हैं, इस कल्पनामें ही कितना अपार आनन्द है। फिर जिनको वे भगवान् परम प्रियतमरूपमें प्राप्त हो जायँ उनके सुखका तो कहना ही क्या है? गोपियाँ इसी परम पवित्र दिव्य सुखकी भागिनी थीं। इसीसे जीवन्मुक्त महात्मा शुकदेव मुनिने मृत्युके लिये तैयार हुए राजा परीक्षित्‌को यह पवित्र प्रेमलीला सुनायी थी। अतएव यह प्रेम भगवत्-माहात्म्यके ज्ञानसे युक्त परमपवित्र था।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

२४—उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

व्यभिचारी मनुष्य कामवश होकर केवल अपने सुखके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये प्रीति किया करते हैं; वे अपने प्रेमास्पदके सुखसे सुखी नहीं होते। गोपियोंके प्रेममें यह भाव नहीं था। लौकिक कामजनित प्रीतिमें प्रेमास्पद पुरुष जार होता है और उसके अंग-संगकी इच्छा होती है। यहाँ प्रेमास्पद साक्षात् विश्वात्मा भगवान् थे और गोपियोंके मनोंमें अंग-संगकी कामना नहीं थी। गोपियाँ केवल श्रीकृष्ण-सुखकी अभिलाषिणी थीं। उन्होंने अपना तन, मन, बुद्धि, रूप, यौवन, धन, प्राण आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजनसामग्री बना दिया था। अपना सर्वस्व देकर वे श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना चाहती थीं। जिस बातमें श्रीकृष्णकी प्रसन्नता होती, वही करना उनका धर्म था। उसीमें उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती थी। इसके अतिरिक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके मनमें अन्य प्रकारसे होनेवाले सुखकी कामना तो दूर रही, कल्पना भी नहीं थी। यही तो काम और प्रेमका अन्तर है। काम चाहता है दूसरेके द्वारा अपने सुखी होना, और प्रेम चाहता है अपने द्वारा प्रियतमको सुखी करना और उसे सुखी देखकर ही सुखी होना। श्रीचैतन्यचरितामृतमें गोपियोंके प्रेमका वर्णन करते हुए बहुत ही ठीक कहा गया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल। कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार। कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म। लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन। कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग। स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कोन दाग॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अंतर। काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणे नाहि कामगंध! कृष्णसुख हेतु मात्र कृष्णेर संबंध॥

भगवान् श्रीकृष्णको सर्वस्व अर्पण, पलभरके लिये भूल जानेमें परम व्याकुलता, श्रीकृष्णके प्रभाव और माहात्म्यका सम्यक् ज्ञान और श्रीकृष्णके सुखमें ही सुखी होना, यही चार बातें गोपी-प्रेममें मुख्य हैं।

यह गोपी-प्रेम परम पवित्र और अलौकिक है। इसमें जो पाप या व्यभिचार देखते हैं, उनपर श्रीकृष्ण दया करें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमरूपा भक्ति फलरूपा है

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

२५–वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है ।

कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, परन्तु भक्ति इन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ है। उनमें वर्ण, आश्रम, अधिकार आदिका विचार है; साथ ही गिरनेका भय भी है परन्तु सच्ची भक्तिमें भगवान्‌की पूरी सहायता रहनेके कारण कोई भी भय नहीं है। तथा इसमें स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभीका अधिकार है। गोसाईं तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जे अस भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई । जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैंडि पार चाहहिं जड़ करनी ॥

उमा जोग जप दान तप, नाना व्रत मख नेम ।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निस्केवल प्रेम ॥
पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन ।
यह बिचारि मुनि पुनि-पुनि करत राम-गुन-गान ॥

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २०-२१)

'जिस प्रकार मेरी दृढ़भक्ति मुझे वश करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते। सन्तोंका प्रिय आत्मारूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्तिके द्वारा वशमें हो सकता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्रहृदय बनानेमें समर्थ है।'

इसी प्रकार श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५३-५४)

'हे अर्जुन! जैसा तुमने मुझको देखा है, ऐसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदिसे मैं नहीं देखनेमें आता। हे परन्तप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस प्रकार मेरा देखा जाना, मुझे तत्त्वसे जानना और मुझमें प्रवेश पाना सम्भव है।'

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

२६—क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

वस्तुतः यह भक्ति फलरूपा है, साधन नहीं है। जो भक्ति ज्ञानका साधन मानी जाती है वह गौणी भक्ति साधारण उपासना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, प्रेमरूपा भक्ति नहीं है। प्रेमरूपा भक्ति तो समस्त साधनोंका फल है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना करम धरम ब्रत नाना। संजम नेम ग्यान बिग्याना॥
भूतदया गुरु-द्विज सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥२७॥

२७—ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

कर्म, ज्ञान और योगके साधकोंको अपने बलका और साधनका अभिमान हो सकता है। भगवान्‌का तो नाम ही दर्पहारी है। यद्यपि वस्तुतः भगवान्‌का न किसीमें द्वेष है, न राग है। उनके लिये सभी समान हैं। वे सभीका उद्धार करते हैं। हाँ, उद्धारके साधन भिन्न-भिन्न हैं। अभिमानीका उद्धार उसे दण्ड देकर करते हैं और दीन सेवकका उसे प्रेमसे गले लगाकर। इसीसे भगवान्‌के क्रोधको भी वरके तुल्य बतलाया गया है। अभिमानीके प्रति भगवान् द्वेषीकी-सी लीला करते हैं और दीनके साथ प्रेमीकी-सी। इसीसे दीनबन्धु, अशरण-शरण और 'कङ्गालके धन' आदि उनके नाम हैं। यथार्थमें तो अभिमानीके प्रति भी उनके हृदयमें प्रेम ही होता है, इसीलिये तो वे उसका अभिमान नष्ट करते हैं।

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेहितें करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अति रूरी ॥

इतना होनेपर भी दण्डमें द्वेष दीखता ही है, परन्तु दीन अमानी गरीबको तो आप हृदयसे लगा लेते हैं । उसका छोटे-से-छोटा काम करनेमें भी नहीं सकुचाते । भक्तजन तो स्वाभाविक ही अपनेको किंकर समझते हैं, वे कहते हैं—

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा ।
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥

'हे प्रभो ! मुझ समस्त साधनोंसे हीन, मायाके सर्वथा पराधीन हुए पापोंसे लदे हुए दीनकी तो केवल तुम ही गति हो ।'

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥

यह दीनता उस अभावकी स्थितिका नाम नहीं है जिसमें मनुष्य धन, मान, वैभव आदिके अभावसे ग्रस्त होकर उनकी प्राप्तिके लिये व्याकुल रहा करता है । यह दीनता तो उस निरभिमानता और अहङ्कारशून्यताका नाम है जो बड़े-से-बड़े वैभवशाली सम्राट्को भी भगवत्कृपासे प्राप्त हो सकती है । इस दीनताका अर्थ है अभिमान और कर्तृत्व-अहंकारका नाश हो जाना । यह समझना कि मैं और मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सो सब भगवान् हैं और सब भगवान्का है, सब कुछ उन्हींकी शक्ति और प्रेरणासे होता है, करने-करानेवाले वे ही हैं ।

परन्तु भगवान्की प्यारी यह सच्ची दीनता सहज ही नहीं प्राप्त होती । अभिमानका सारा भूत उतरे बिना दीनता नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आती। वर्ण, जाति, धन, मान, विद्या, साधन, स्वास्थ्य आदिका अभिमान, और कर्तापनका अहंकार मनुष्यमें ऐसी दीनता उत्पन्न नहीं होने देता; ऊपरसे मनुष्य दम्भपूर्वक दीन बनता है, भगवान्‌के सामने अपनेको दीन कहता है, रोनेका स्वाँग भरता है; परन्तु उसकी दीनताकी परीक्षा तो तभी होती है, जब बड़े-से-बड़े सांसारिक पदार्थों और साधनोंकी प्राप्तिमें भी स्वाभाविक दीनता ज्यों-की-त्यों बनी रहे। जो सब लोगोंके सामने अपनेसे हीन स्थितिके दूसरे मनुष्योंद्वारा दीन और पापी कहा जाना केवल सह ही नहीं लेता, वरं उसे सत्य समझकर प्रसन्न होता है और प्रभु-प्राप्तिके लिये सदैव जिसका चित्त खिन्न रहा करता है, ऐसे ही खिन्न—दीन भगवान्‌को प्यारे होते हैं। सच्ची भक्तिमें अपने पुरुषार्थ या साधनका अभिमान आ ही नहीं सकता, इसीलिये भक्ति श्रेष्ठ है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥२८॥

२८—उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किन्हीं (आचार्यों) का यह मत है।

यद्यपि भक्तिमें इस ज्ञानकी तो परम आवश्यकता है कि मैं जिसकी भक्ति करता हूँ वे ही सबके स्वामी, सबके आधार, सबके महेश्वर, जगत्‌के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले, मायाके पति, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, सगुण, साकार भगवान् हैं, उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं। क्योंकि इतना ज्ञान भी यदि न होगा तो श्रद्धा नहीं होगी; श्रद्धा विना प्रीति नहीं होगी और प्रीति विना भक्ति दृढ़ नहीं होगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहि प्रीती ॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई । जिमि खगेस जलकी चिकनाई ॥

परन्तु इसमें अद्वैतज्ञानके साधनकी आवश्यकता नहीं होती। केवल श्रद्धा और भावसे ही परमात्माकी भक्ति प्राप्त हो जाती है। गृध्रराज, गजेन्द्र, ध्रुव, शबरी आदिने केवल भगवान्‌की ऐसी ही भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त किया था।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

२९—दूसरे (आचार्यों) का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं।

ऐसा भी होता है गौणी भक्तिसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान होता है और तत्त्वके जाननेसे भगवान्‌में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होता है। परन्तु केवल भक्तिके प्रेमीजन इस मतकी परवा नहीं करते। क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि जब निर्मल प्रेमस्वरूपा भक्तिका पूर्ण उदय होता है तब किसीका ज्ञान अलग रह ही नहीं जाता। प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों एक हो जाते हैं। फिर किसका ज्ञान किसको होगा?

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः* ॥ ३० ॥

३०—ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

अतएव यह भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य है। मूल भी वही और फल भी वही। भक्तगण भक्तिके लिये ही भक्ति

* पाठभेद "ब्रह्मकुमारः"।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते हैं । क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूपा है । वह न किसी साधनसे मिलती है और न कोई उससे श्रेष्ठ वस्तु है जिसकी प्राप्तिका वह साधन हो ।

सो स्वतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान-बिग्याना ॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

३१–राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है ।

यह पूर्वकथित भक्तिकी फलरूपताको समझनेके लिये उदाहरण है ।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

३२–न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी ।

केवल राजमहलका वर्णन सुनने और जान लेनेसे काम नहीं चलता । राजा धर्मात्मा है, शक्तिशाली है, प्रजाहितैषी है, रूपगुणसम्पन्न है, यह बात भी जान ली; परन्तु इससे क्या हुआ, इस जानने मात्रसे राजा प्रसन्न थोड़े ही हो गया । इसी प्रकार जान लिया कि हलुआ मीठा होता है, घी और शक्करसे बनता है, बड़ा स्वादिष्ट है; परन्तु इससे भूख तो नहीं मिटती । इसी तरह केवल शब्दज्ञानसे न तो भगवान्‌की प्रसन्नता होती है और न हमें शान्ति ही मिलती है । यद्यपि भगवान्‌के लिये सभी समान हैं, तथापि उनकी प्रसन्नता तो भक्तिसे ही मिलती है । वे स्वयं कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें सम हूँ, न कोई मेरा द्वेष्य है और न प्रिय है; परन्तु जो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।'

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

३३–अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये ।

भक्तिसे भवबन्धन तो अनायास कट ही जाता है, साक्षात् भगवान् उसके प्रेमास्पद बनकर उसके साथ दिव्य लीला करते हैं।

अति दुरलभ कैवल्य परमपद । संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवै बरिआईं ॥

अन्यान्य बड़े-बड़े साधनोंसे भी सहजमें न मिलनेवाली अति दुर्लभ मुक्ति बिना ही माँगे बलात्कारसे आती है, परन्तु वह भक्त तो—

मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥

मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता । ऐसी सुलभ और सर्वोपरि स्थितिरूप भक्तिको छोड़कर दूसरे साधनको कोई क्यों करे ? श्रद्धालु और बुद्धिमान् पुरुषोंको केवल भक्ति ही करनी चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्संगकी महिमा

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

३४—आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

कर्म और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके अब देवर्षि नारद भक्तिशास्त्रके प्रधान प्रवर्त्तक और भक्ति-तत्त्वके अनुभवी आचार्यों एवं सन्त-भक्तोंद्वारा गान किये हुए उस श्रेष्ठतम भक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

३५—वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और संगत्याग-से सम्पन्न होता है।

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, क्योंकि जीव परमानन्दस्वरूप परमप्रेमरूप भगवान्‌का ही सनातन चिदंश है; परन्तु विषयोंके प्रति प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है और इसीसे वह प्रेम दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो रहा है और इसी कारण उसके परमात्ममुखी दिव्य स्वरूपका प्रकाश नहीं होता। प्रेमके दिव्य स्वरूपके प्रकाशके लिये उसकी विषयाभिमुखी गतिको पलटकर ईश्वराभिमुखी करनेकी आवश्यकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इसके लिये दो उपाय हैं—१–विषयोंका स्वरूपसे त्याग और २–विषयोंकी आसक्तिका त्याग। जो लोग यह मानते हैं कि विषयोंमें आसक्त रहते और यथेच्छ अमर्यादित विषयोंका संग्रह एवं उपभोग करते हुए ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जायगी, अथवा भगवद्भक्तिके मार्गमें विषय और विषयासक्तिके त्यागकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, वे बहुत बड़ी भूलमें हैं। भक्तिमें तो अपने भोगके लिये कोई वस्तु रह ही नहीं जाती; जब भोक्ता ही कोई नहीं रहता, तब भोग्य वस्तु कहाँसे रहे? वहाँ तो एकमात्र प्राणाधार भगवान् ही सर्वभोक्ता हैं और हम अपने समस्त अंगों एवं समस्त सामग्रियोंसहित भगवान्‌के भोग्य हैं। एकमात्र वे ही पुरुष हैं और सब उनकी भोग्या प्रकृति हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तका अपना कोई भोग्य विषय रह ही नहीं जाता। इसको यदि ऊँची स्थिति कहकर कोई इससे बचना चाहे तो उसे भी साधन-कालमें विषयोंका और विषयासक्तिका यथासाध्य उत्तरोत्तर त्याग करना ही पड़ता है। शरीर विषयभोगमें लगा होगा और मन विषयोंमें आसक्त रहेगा, तो फिर प्रियतम भगवान्‌की सेवा किस तन-मनसे होगी? अतएव विषयत्यागकी बड़ी भारी आवश्यकता है। बाह्य भोग तो क्या, मनसे भी विषयोंका चिन्तन छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि यह नियम है कि मन जिस वस्तुका चिन्तन करेगा उसीमें उसकी आसक्ति होगी। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमें लीन हो जाता है।

मनको जहाँ लगाओ वहीं लग जाता है, और वह लगाना होता है इन्द्रियोंके द्वारा ही; हम बार-बार जिस प्रकारके दृश्योंको देखेंगे, जैसी बात सुनेंगे, जैसी चीज खायँगे, जो कुछ सूँघेंगे, जैसी वस्तुका स्पर्श करेंगे, उन्हींका मनमें बार-बार चिन्तन होगा और जिस वस्तुका अधिक चिन्तन होगा, उसीमें आसक्ति होगी। नाटक देखेंगे, वेश्याका गाना सुनेंगे, उनमें आसक्ति होगी; भक्त-लीला देखेंगे, कीर्तन सुनेंगे तो उनमें आसक्ति होगी। अतएव भक्तिकी अभिलाषा रखनेवालोंको भगवान्के प्रतिकूल तमाम विषयोंका त्याग कर देना चाहिये। वास्तवमें इस सूत्रमें विषयत्यागमें उन्हीं विषयोंका त्याग समझना चाहिये जो हमारे मनको भगवान्से हटाकर भोगोंमें—जगत्-प्रपञ्चमें लगा देते हैं। ध्यान, चिन्तन, कीर्तन, भगवत्सेवा, साधुसत्कार, सत्संग आदि जो भगवदनुकूल विषय हैं, उनमें तो तन-मनको चाह करके लगाना चाहिये। और जिन विषयोंके संग्रह और सेवनकी शरीरयात्रा या कुटुम्ब-पोषणके लिये नितान्त आवश्यकता हो, उनका भी यथासम्भव बहुत ही थोड़े परिमाणमें संग्रह और सेवन करना चाहिये, और वह भी शास्त्रानुकूल तथा ईश्वरकी आज्ञा समझकर अन्य किसी भी फलकामनाको मनमें स्थान न देते हुए केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही! इस प्रकारसे किया हुआ विषय-सेवन भी विषयत्यागके ही तुल्य समझा जाता है। केवल बाहरसे किसी विषयका त्याग कर दिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाय और मनमें उसका स्मरण बना रहे, तो वह यथार्थ त्याग नहीं है; इसीलिये सूत्रमें विषयत्यागके साथ-ही-साथ आसक्तित्याग-की भी आवश्यकता बतलायी गयी है। महाभारतमें कहा है—

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च।

(शान्तिपर्व १९२। १७)

'विषयासक्ति और विषय दोनोंके त्यागका नाम ही त्याग है।' इसीसे विषयानुरागका त्याग होगा, और विषयानुरागसे रहित हृदय ही भगवत्प्रेमका दिव्य धाम बन सकता है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होनेपर तो विषयका त्याग स्वाभाविक ही रहता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

अमृतके स्वादको चख लेने और उसके गुणसे लाभ उठा लेनेपर फिर विषकी ओर किसीकी नजर ही क्यों जाने लगी! परन्तु उस अमृतकी प्राप्तिके लिये भी—उसकी ओर गति होनेके लिये भी विषयविषके त्यागकी आवश्यकता है। विषयासक्तिका त्याग करके भगवान्में आसक्त होनेमें ही परम सुख है। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२)

'मुझमें चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़ने-वाले भक्तको आत्मस्वरूप मुझसे जो परम सुख मिलता है, वह सुख विषयासक्तचित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है?'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

३६—अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है) ।

भजन भक्तिका प्रधान अङ्ग है, यह साध्य और साधन दोनों है । जो भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिये अखण्ड भजन स्वाभाविक हो जाता है, और जिनको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति करनी है उनको अखण्ड भजनका अभ्यास करना चाहिये । जो मनुष्य भजन बिना मुक्ति और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति चाहता है वह भूलता है । गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

वारि मथे बरु होइ घृत, सिकतातें बरु तेल ।
बिनु हरि-भजन न भव तरहिं, यह सिद्धांत अपेल ॥

'जलके मन्थनसे चाहे घी निकल आवे, बालूसे चाहे तेल निकले; परन्तु भगवान्‌के भजन बिना भवसागरसे मनुष्य नहीं तर सकता, यह सिद्धान्त अकाट्य है ।' अतएव भजन तो अनिवार्य साधन है । फिर भक्तिके साधकके लिये तो यही एक खास वस्तु है । विषयसे मन हटाकर यदि भगवान्‌में न लगाया जाय तो वह वापस दौड़कर वहीं चला जायगा । विषयत्याग वैराग्य है और भगवत्-भजन अभ्यास । इन्हीं अभ्यास-वैराग्यसे विशुद्ध भगवत्प्रेम-की प्राप्ति होती है । परन्तु जो भजन अभी होता है, घड़ीभर बाद नहीं होता; आज किया कल नहीं,—वह प्रेम और आदरयुक्त अखण्ड भजन नहीं है । भजनरूपी अभ्यास तो वही सिद्ध होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है जो सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(१ । १४)

'दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारके साथ करनेपर ही अभ्यास दृढ़ होता है।' इस नित्य-निरन्तरके अखण्ड स्मरणसे भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। स्वयं भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८ । १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

अतएव अखण्डरूपसे भगवान्‌का प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही स्नान, भोजन, व्यापार आदि सब काम करने चाहिये। भगवत्-स्मरणयुक्त होनेसे प्रत्येक कार्य ही भजन हो जायगा। इस प्रकार भजनका ताँता क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये। स्वरूपका चिन्तन न हो सके तो निरन्तर भगवान्‌का नामस्मरण ही करना चाहिये। भगवान्‌के नामस्मरणसे मन और प्राण पवित्र हो जायँगे और भगवान्‌के पावन पदकमलोंमें अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जायगा। नाम-जपकी सहज विधि यह है कि अपने श्वास-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्वासके आने-जानेकी ओर ध्यान रखकर श्वास-प्रश्वासके साथ-ही-साथ मनसे, और साथ ही धीमे स्वरसे वाणीसे भी भगवान्‌का नाम-जप करता रहे। यह साधन उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते, खड़े रहते, सब समय किया जा सकता है। अभ्यास दृढ़ हो जानेपर चित्त विक्षेपशून्य होकर निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें अपने आप ही लग जायगा। प्रायः सभी प्रसिद्ध भक्तों और सन्तोंने इस साधनका प्रयोग किया था। महात्मा चरणदासजी कहते हैं—

स्वासा माहीं जपेतें दुबिधा रहे न कोय।

इसी प्रकार कबीरजी कहते हैं—

साँस साँस सुमिरन करो, यह उपाय अति नीक।

मतलब यह कि भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, रहस्य, गुण, लीला अथवा नामका चिन्तन निरन्तर तैलधाराकी भाँति होते रहना चाहिये। यही अखण्ड भजन है।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात् ॥३७॥

३७-लोकसमाजमें भी भगवद्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

मनसे तो नित्य भगवान्‌का चिन्तन करना ही चाहिये, परन्तु कान और वाणीसे भी सदा-सर्वदा लोगोंके बीचमें भी भगवान्‌का गुण ही सुनना और कहना चाहिये। मनसे भगवत्-चिन्तनकी चेष्टा तभी सफल होती है, जब हमारी इन्द्रियाँ भी भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगी रहें। सभी कार्योंका प्रायः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आधार होता है सुनना और बोलना। यदि कानोंमें सदा विषयों-की चर्चा आती रहेगी और वाणीसे सदा विषयोंकी बातें की जायँगी तो मनसे भगवान्‌का चिन्तन होना असम्भव-सा ही समझना चाहिये परन्तु यदि कान और जबान भगवान्‌में लगे रहेंगे—उन्हें दूसरे कार्यके लिये फुरसत ही नहीं मिलेगी, तो अन्यान्य इन्द्रियाँ और मन भी स्वतः ही भगवत्परायण हो जायँगे। अतएव कान और जीभको भगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिके सुनने और गानेमें ही निरन्तर लगाये रखना चाहिये। यही जीवनको सफल बनानेके साधन हैं। केवल जीवित रहने, श्वास लेने, खाने और मैथुन करने आदिमें ही जीवनकी सफलता मानी जाय तो क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते ? क्या लोहारकी धौंकनी श्वास नहीं लेती और क्या पशु भोजन या मैथुन नहीं करते। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
(२।३।१९-२०)

'जिसके कर्णपथमें भगवान्‌के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश नहीं किया वह मनुष्यरूपी पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गदहेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है। हे सूतजी! जो कान भगवान्‌की लीलाका श्रवण नहीं करते वे सर्पादिके बिलके समान हैं और जो दुष्टा जिह्वा भगवान्‌की लीला-कथाका गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ बकवाद करनेवाली है।' इसीका अनुवाद गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना। स्रवनरंध्र अहिभवन समाना॥
जो नहि करहिं राम-गुन-गाना। जीह सो दादुरजीह समाना॥

श्रीमद्भागवतके अन्तमें कहा गया है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(१२।१२।४८-४९)

'जिस वाणीसे अधोक्षज भगवान्‌की कथा न कही जाकर विषयोंकी बुरी बातें कही जाती हैं, वह वाणी असत् और व्यर्थ है। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणोंको प्रकट किया जाता है, पुण्यकीर्ति भगवान्‌का यश वर्णन किया जाता है, वास्तवमें वही वचन सत्य हैं, वही मंगलरूप हैं, वही पुण्य हैं, वही मनोहर हैं, वही रुचिर हैं, वही नित्य नये-नये रसमय हैं, वही सदा मनको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महान् आनन्द देनेवाले हैं और वही मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रको सुखानेवाले हैं ।'

अतएव कानोंसे भगवान्‌के गुण और नामोंका श्रवण और वाणीसे उनका कीर्तन करना चाहिये । इसीसे भगवान्‌का निर्मल प्रेम उदय होता है ।

आम्नाय-ग्रन्थालय,
नरसनिधि, करौंदा
वाराणसी-5

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥
(११ । २६ । २९)

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
(११ । ३१ । २७-२८)

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
(११ । २६ । ३०)

भगवान् कहते हैं—'जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते और उनका अनुमोदन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'हे राजन् ! जो मनुष्य देवदेव भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है। भगवान् श्रीहरिके अति मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओंको सुनने तथा उनका गान करनेसे मनुष्य परमहंसोंकी गतिस्वरूप भगवान्‌में परा भक्तिको प्राप्त होता है।'

भगवान् कहते हैं—'इस प्रकार मुझ अनन्तगुणसम्पन्न सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु पुरुषको और कौन-सी वस्तु प्राप्त करनी बाकी रह जाती है ? अर्थात् वह कृतार्थ हो जाता है।'

भगवान्‌के नाम-श्रवण और कीर्तनका महान् फल होता है। जहाँतक भगवान्‌के नामकी ध्वनि पहुँचती है, वहाँतकका वातावरण पवित्र हो जाता है। मृत्युकालके अन्तिम श्वासमें भगवान्‌का नाम किसी भी भावसे जिसके मुँहसे निकल जाता है उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌के नामका जहाँ कीर्तन होता है वहाँ यमदूत नहीं जा सकते। अतएव दस नामापराधोंसे* बचते हुए भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन और श्रवण अवश्य ही करना चाहिये।

---

* नामके दस अपराध ये हैं—१—सन्तोंकी निन्दा, २—भगवान्‌के नामोंमें छोटे-बड़ेका भेदभाव, ३—गुरुका अपमान, ४—शास्त्रनिन्दा, ५—नाममें अर्थवाद (अर्थात् यह समझना कि यह केवल प्रशंसामात्र है, ऐसा फल नहीं होता) मानना, ६—नामका सहारा लेकर पाप करना, ७—धर्म, व्रत, दान और यज्ञादिके साथ नामकी तुलना करना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६।२।१४, १८)

'पुत्रादिके नामसङ्केतसे, परिहासमें, स्तोभ या अवहेलनासे भी भगवान्‌का नाम लेनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान्‌का नाम मनुष्यके पापको उसी प्रकार जला देता है जैसे अग्निमें किसी प्रकारसे भी डाला हुआ ईंधन भस्म हो जाता है।'

सभी सद्‌ग्रन्थों और संतोंकी वाणियोंमें भगवन्नामकी महिमा गायी गयी है। श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोक मनन करने योग्य हैं। देवी देवहूतिजी भगवान् कपिलदेवसे कहती हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(३।३३।७)

८—अश्रद्धालु, हरिविमुख और सुनना न चाहनेवालोंको नामका उपदेश करना, ९—नाममाहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और १०—अहंकार, ममता तथा भोगादि विषयोंमें आसक्त रहना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अहो, जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया ।'

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥
सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥
(१२ । १२ । ४६-४७)

'कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःखसे पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वरसे 'हरये नमः' पुकार उठता है तो वह सब पापोंसे छूट जाता है । जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारका भी नाश कर देता है, और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है इसी प्रकार अनन्त भगवान्‌का नाम-कीर्तन अथवा उनके प्रभावका श्रवण हृदयमें प्रवेश करके समस्त दुःखोंका अन्त कर देता है ।'

यह तो विवश होकर नाम लेनेका फल है । प्रेमसे लेनेपर तो कहना ही क्या । इसीसे गोसाईंजी कहते हैं—

विवसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक सँचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भवबारिधि गोपद इव तरहीं ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतएव भक्तिकी प्राप्तिके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम-गुण-यशका कीर्तन, श्रवण और चिन्तन निःसन्देह परम साधन है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।३८।

३८—परन्तु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

विषय और विषयासक्तिका त्याग करके अखण्ड भजन और श्रवण-कीर्तनका साधन बतलाया जानेके बाद अब एक ऐसा साधन बतलाया जाता है, जिस एकके प्रतापसे ही पहले तीनों अपने-आप हो जाते हैं——वह साधन है 'महापुरुषोंकी कृपा'। महापुरुष तो कृपालु ही होते हैं, परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनका सङ्ग करना बड़ा कठिन है। महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर विषय तो आप ही छूट जाते हैं। उनके सङ्गसे श्रवण-कीर्तन भी करना ही पड़ता है और रात-दिन जो कुछ सुनने, कहने और देखनेमें आता है, उसका स्मरण अनिवार्य है ही। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जिन महापुरुषोंकी कृपामात्रसे ही फलरूपा प्रेमभक्तिकी प्राप्ति बतलायी है वे महापुरुष केवल शास्त्रज्ञानी और सदाचारी ही नहीं होते, भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर उनमें अनन्य प्रेम करनेवाले भक्त होते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंके सङ्गकी बड़ी महिमा है। इसीसे, यज्ञ-धूमसे जिनके शरीर धुमैले हो गये हैं, ऐसे कर्मकाण्डी विज्ञानविद् ऋषि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवच्चरणकमलरसामृतका पान करानेवाले प्रेममूर्ति सूतजीसे कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १ । १८ । १३)

'हे सौम्य! भगवत्सङ्गी प्रेमियोंके निमेषमात्रके सङ्गकी तुलना, स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, पुनर्जन्मका नाश करनेवाली मुक्तिके साथ भी नहीं की जा सकती; फिर मर्त्यलोकके राज्यादि सम्पत्तिकी तो बात ही क्या है?' इसीके आधारपर रामचरितमानसमें कहा गया है—

तात स्वरग अपबरग सुख, धरिअ तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥

यह उस सत्सङ्गकी महिमा नहीं है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके मोक्षप्राप्ति करवाता है। क्योंकि यहाँ तो मोक्षके साथ लवमात्रके ऐसे सत्सङ्गकी तुलना करना भी असङ्गत बतलाया गया है। अतएव यहाँ उन भगवत्तत्त्वके ज्ञाता होकर भगवत्-प्रेमके रंगमें रँगे हुए मोक्षसंन्यासी भगवत्सङ्गी (सर्वैश्वर्यपूर्ण मधुरतम लीलाविहारी भगवान्‌के नित्य लीलासङ्गी) प्रेमी सन्तोंकी उस कृपाका उल्लेख है, जो केवल मुक्ति ही नहीं, भगवान्‌के प्रेमरूपी भक्तिकी प्राप्ति भी सहज ही करवा देती है। क्योंकि मुक्तिको तो ऐसे प्रेमी चाहते ही नहीं। वरं मुक्तिकी चाहको ही वे प्रेमरूपा भगवद्भक्तिकी उत्पत्तिमें बाधा देनेवाली पिशाचिनी समझकर उसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तिरस्कार किया करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंकी कृपा जिनपर होती है, जो पुरुष ऐसे भक्तोंका संग प्राप्त कर लेता है, योग और ज्ञान आदिसे भी वशमें न होनेवाले भगवान् (सहज ही) उसके वशमें हो जाते हैं। इसीलिये स्वयं भगवान् अपने प्रेमी भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । १-२)

'हे उद्धव ! दूसरे समस्त सङ्गोंका निवारण करनेवाले 'सत्संगसे' मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम, किसीसे नहीं होता।'

इसका कारण यह है कि अन्यान्य सब साधन, सकामभावसे होनेपर भोग और स्वर्गादिकी, और निष्कामभावसे होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। लीलाविहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो केवल एक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, अनन्य और विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंमेंसे किसीसे नहीं मिलता; वह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोंकी महती कृपासे ही मिलता है।

भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हाँ, यदि श्रीभगवान् चाहें तो स्वयमेव अपना प्रेम दे सकते हैं; उनकी कृपाके लेशमात्रसे ही प्रेम मिल सकता है। गोसाईंजीने कहा है—

जाकी कृपा-लवलेसतें मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

परन्तु नित्य कृपावर्षा करनेवाले भगवान्‌का कृपाबिन्दु भी भगवदीय महात्माओंकी कृपासे ही जीवोंको मिल सकता है। अतएव ऐसे प्रेमी सन्तोंका संग ही प्रधान साधन है, परन्तु ऐसा संग प्राप्त होना अपने वशकी बात नहीं! इसीसे देवर्षि नारदजी अगले सूत्रमें महत्संगको दुर्लभ बतलाते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

३९—परन्तु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

संसारमें स्वधर्मपरायण, सदाचारी, साधुस्वभाव, दैवी सम्पत्तिवान् पुरुषोंकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। सच्चे हीरोंकी भाँति जमातों और उपदेशकोंमें सच्चे साधु थोड़े ही होते हैं; पर खोज करनेपर संसारमें सदाचारी, कर्मकाण्डी और कुछ ज्ञानी पुरुष तो मिल भी सकते हैं। परन्तु ऐसे सच्चे प्रेमी महात्मा बहुत ही कम मिलते हैं जिनकी कृपामात्रसे परमदुर्लभ योगि-ज्ञानि-जनवाञ्छित भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती हो। इसीलिये ऐसे महात्माओंका मिलन बहुत दुर्लभ माना जाता है। यदि कहीं ऐसे महापुरुष मिल भी जाते हैं तो उनका पहचानना बहुत कठिन होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि बाह्य आचार तो ढोंगी और नाटकके पात्र भी किसी अंशमें वैसा ही दिखला सकते हैं । आँखोंसे आँसुओंका बहना, रोना, हँसना और चिल्लाना ही प्रेमीके लक्षण नहीं हैं । अनेक बाह्य कारणोंसे भी ऐसा हो सकता है । फिर कोई-कोई सच्चे प्रेमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो इन लक्षणोंवाली स्थितिसे भी आगे बढ़ चुके हों और जिनके बाह्य आचार साधारण समझसे बाहर हों । प्रेमीजन तो किसीको कहने जाते ही नहीं कि हमें प्रेमी मानो; और कहनेसे मानता भी कौन है । अतएव ऐसे निःस्पृही भगवज्जनोंकी पहचान बहुत ही कठिन है, इसीसे उनके संगको दुर्गम बतलाया गया है । परन्तु सौभाग्यसे यदि कहीं ऐसे महात्मा पुरुष मिल जाते हैं तो उनका बिना जाने मिल जाना भी कभी व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह अमोघ है । जब साधारण सदाचारी, विद्वान् साधुओंका समागम ही अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होकर पाप, ताप और दैन्यका निवारण करनेमें समर्थ होता है; तब जिनका हृदय भगवत्प्रेमसे छलकता है, जो प्रेम और आनन्दकी मूर्ति हैं, जिनके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश होता है, उन भगवदीय प्रेमी महात्माओंके दर्शनका महान् फल अवश्य ही प्राप्त होता है ।

जैसे अमावस्याकी अँधेरी रातमें सोया हुआ आदमी यदि सूर्योदय होनेपर भी सोता ही रहे तो उसको न जागनेतक प्रकाशका अनुभव नहीं होता, परन्तु प्रकाश तो सूर्योदयके साथ-साथ हो ही जाता है । और जैसे कोई धनी पुरुष अपने किसी प्रेमी दरिद्र आदमीके नामपर अपनी करोड़ोंकी सम्पत्ति ट्रांस्फर करवा देता है, तो वह दरिद्र उसी समयसे धनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो हो जाता है; परन्तु जबतक उसको इस बातका पता नहीं लगता तबतक वह अपनेको दरिद्र ही समझता है । इसी प्रकार किन्हीं भगवत्प्रेमी महापुरुषके अज्ञात संगसे भी पाप और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश होकर ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश और प्रेमरूप परमनिधि तो मिल जाती है, परन्तु जबतक इस बातका पता नहीं लगता तबतक इस लाभसे अपरिचित रहनेके कारण मनुष्य आनन्दको प्राप्त नहीं होता । अवश्य ही इस स्थितिका परिचय मिलनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता । इसीसे महत्संगको अमोघ (अवश्य फलदायी) बतलाया गया है ।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥

४०—उस (भगवान्) की कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है ।

अवश्य ही ऐसे सन्तका मिलन हरि-कृपासे ही होता है । भगवान् जिसपर कृपा करके अपनाना चाहते हैं, उसीके पास, प्रेमपाशमें अपनेको बाँध रखनेकी शक्तिवाले, अपने ही स्वरूपभूत प्रेमी भक्तको भेजते हैं । वस्तुतः भगवत्कृपा और महान् पुरुषोंका संग एक-दूसरेके आश्रित हैं । महत्पुरुषोंके संग बिना भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता, और भगवत्कृपा बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते । श्रीविभीषणको भी श्रीहनूमान्‌जीके मिलनेपर ही भगवत्कृपाका अनुभव हुआ, इसीसे उन्होंने कहा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

४१—क्योंकि भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) जो भक्तोंका सेवन करते हैं वे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं। भक्त भगवान्‌के हृदयमें बसते हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें। भगवान्‌ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर और किसीको नहीं जानता।' भरत रामको भजते हैं और राम भरतको—

भरत सरिस को रामसनेही। जग जप राम राम जप जेही॥

श्रीभगवान्‌ने प्रेमस्वरूपा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हे अर्जुन ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं, और कोई नहीं जानता ।'

ऐसे प्रेमी भक्तोंमें और भगवान्‌में क्या अन्तर है ? भगवान्‌ने कहा ही है—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

'जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' ऐसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने बाह्य रूपको भूलकर साक्षात् भगवत्स्वरूपका अनुभव करने लगते हैं । गोपियाँ भगवान्‌को ढूँढ़ती हुई ऐसी तन्मय हो गयीं कि वे उन्हींकी लीला करने लगीं—

मोहन लाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं ।
केवल तन्मय भई कछु न जानैं हम को हैं ॥

(नन्ददासजी)

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

४२—(अतएव) उस (महत्सङ्ग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो ।

अतएव भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये ऐसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके संगकी ही प्रबल इच्छा करो । भगवत्कृपासे प्रेमी सन्त मिल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जायँगे और सन्त-मिलनके प्रतापसे ही हम पाप-तापसे छूटकर निर्मल भगवत्प्रेमको प्राप्त कर सकेंगे। इसमें एक बड़ा रहस्य है। मान लीजिये, एक महान् प्रतापी राजा है और साथ ही वह बड़ा भारी प्रेमी भी है; परन्तु प्रेम हरेकके साथ नहीं होता। राजा राजसभामें और अपने राज्यमें अपना प्रभाव और ऐश्वर्य तो खूब दिखला सकता है, परन्तु अपने मुँहसे अपने प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं कह सकता। हम प्रजाके रूपमें विधिके अनुसार उससे मिलकर विधिवत् बातें कर सकते हैं, परन्तु न तो प्रेमका रहस्य पूछ सकते हैं और न वह हमें बतला ही सकता है। उसके प्रेमका गुह्य रहस्य जानना या उसके प्रेमराज्यमें प्रवेश करना हो तो उसके किसी अनन्य प्रेमीका—जिसके साथ राजाका व्यक्तिगत प्रेमका निर्मल (राज्यविधिसे अतीत) सम्बन्ध है और जिसके साथ वह परस्पर खुली प्रेमचर्चा करता है—संग करना होगा, और उसके हृदयमें अपना विश्वास पैदा करके उसके द्वारा राजाके प्रेमका रहस्य जानना होगा और उसीके द्वारा राजाके निकट अपना प्रेमसन्देश पहुँचाना होगा तथा अपनी पात्रता सिद्ध करनी होगी। जब राजा हमें पात्र समझ लेगा तो हमें भी उसीकी भाँति प्रेमगोष्ठीमें शामिल कर लेगा। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रेमका रहस्य अपने मुँहसे नहीं बतलाते। भगवान्‌ने उद्धवको प्रेमशिक्षा दिलानेके लिये गोपियोंके पास भेजा था। प्रियतमका प्रेमरहस्य और उसके प्रेमकी गुह्यतम बातें जैसे उसकी प्रियतमाके द्वारा ही उसकी विश्वस्त सखियोंको मिलती है, इसी प्रकार भगवान्-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के प्रेमका रहस्य भी भगवत्प्रेमी भक्तोंके द्वारा ही साधकको मिलता है। और मिलता भी है उसीको, जिसको भगवान् पात्र समझकर कृपा करके अपने प्रेमका भेद देना चाहते हैं। क्योंकि प्रेमी भक्त प्रेमास्पद प्रियतम भगवान्की इच्छा या आज्ञा बिना उनके प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं खोल सकते। पहले साधकको पात्र बनना होता है। जब भगवान्के निर्मल अत्युच्च प्रेमकी एकान्त आकांक्षा उसके मनमें उत्पन्न हो जाती है तब उसका हृदय भगवत्प्रेमके लिये रोने लगता है। उसके हृदयका आर्तनाद अन्तर्यामी आनन्दमय प्रभु सुनते हैं, और तब कृपा करके वे अपने किसी प्रेमी भक्तको आदेश या संकेत करके उसके समागममें भेज देते हैं। वहाँ पहले उसके प्रेमकी परीक्षा होती है। यदि उसका प्रेम कामनाशून्य और अनन्य होता है, और वह अपने आचरण और व्यवहारसे उस प्रेमी भक्तके हृदयमें पात्रताका विश्वास पैदा कर देता है, तब वे उसका सन्देश भगवान्के पास पहुँचाते हैं और भगवान्की आज्ञा प्राप्त करके क्रमशः प्रेमका रहस्य उसके सामने खोलते हैं और धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उसकी पात्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्की आज्ञासे वे उसे भगवान्के प्रेमराज्यमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर ले जाते हैं और अन्तमें उसपर भगवान्की पूर्ण कृपा होनेसे वह भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेता है। राजा या उसका प्रेमी तो अन्तर्यामी न होनेसे किसीके धोखेमें भी आ सकता है परन्तु भगवान्, और भगवान्की इच्छासे नियुक्त होनेवाले प्रेमी भक्त, कभी धोखा नहीं खाते। अतएव जिसको भगवत्-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उसे देवर्षिके बतलाये हुए साधनोंमें तत्पर होकर पहले पात्र बनना चाहिये, जिससे उसपर भगवान्‌की कृपा हो, और वह भगवत्प्रेमी पुरुषोंके संगका पात्र समझा जाय। साथ ही ऐसे भगवत्प्रेमी पुरुषोंके संगकी इच्छा प्रबलरूपसे बढ़ानी चाहिये, क्योंकि इनके संग बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति महान् कठिन है। इसीसे भगवान् अपने निर्मल प्रेमके प्रचारार्थ ऐसे भक्तोंको, मुक्तिके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी, उनके मनमें प्रेमकी वासना जागृत रखकर उन्हें सायुज्य मुक्ति नहीं देते, और इसीसे प्रेमी भक्तगण इस प्रेम-लीला-सुखको छोड़कर मुक्तिकी कभी चाह नहीं करते। वे मुक्त होकर भी केवल प्रेमवितरणके लिये ही संसारमें आया करते हैं या निवास करते हैं। वे अहैतुक कृपालु होते हैं। हमारी तीव्र इच्छा पावेंगे तो भगवत्कृपासे भगवान्‌का संकेत प्राप्त-कर अपने पुण्यमय दर्शन-स्पर्श-भाषण और अपनी महती कृपासे हमें अवश्य प्रेमदान करेंगे। क्योंकि वे तो प्रेमी जनोंकी खोजमें ही रहते हैं। उनका काम ही प्रेमदान करना है। अतएव उन्हीं भगवत्संगी प्रेमी महानुभावोंका संग प्राप्त करो, उन्हींकी कृपाकी इच्छा करो!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमरूपा भक्तिमें प्रधान बाधा कुसंगति है

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

४३—दुःसंगका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये ।

सत्संगका महत्त्व बतलाकर अब देवर्षि दुःसंगका निषेध करते हैं । जिस प्रकार सत्संगसे भगवत्कथा, भगवच्चर्चा, भगवन्नाम, भगवत्प्रीति, सदाचार, शास्त्र, विवेक, वैराग्य, सत् अभ्यास, सेवा, सरलता, नम्रता, क्षमा, तितिक्षा, शौच, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निरभिमानता और शान्ति आदिके प्रति प्रवृत्ति होती है और मनुष्य सदाचारपरायण परमभक्त बन सकता है; इसी प्रकार इसके विपरीत दुःसंगसे विषयवार्ता, जगच्चर्चा, लोकनिन्दा, भोगप्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषयलोलुपता, दुष्ट अभ्यास, मान, दम्भ, घमण्ड, क्रोध, असहिष्णुता, अपवित्रता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रियलम्पटता, अभिमान और अशान्ति आदिके प्रति प्रवृत्त होकर मनुष्य पापपरायण और अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है । दुःसंगसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुण और दुराचारोंका विकास और विस्तार होता है । दुःसंगसे मनुष्यके समस्त सद्गुणोंका विनाश होकर उसका सर्वनाश हो जाता है । परम सुशीला, स्नेहमयी, प्रेमप्रतिमा देवी कैकेयी मन्थराकी कुसंगतिके कारण ही महाराज दशरथके, भरतके,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने और तमाम अयोध्यावासियोंके परम शोकका कारण बनी थीं और इसीसे उन्हें अन्तमें दुःखप्रद वैधव्यका सहन करना और प्राणप्रिय भरतका अप्रीतिभाजन होकर रहना पड़ा था। शकुनिकी कुसंगति ही महाभारतके भयानक संहारमें एक प्रधान कारण हुई। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥
(३।३१।३२–३४)

'जो मनुष्य शिश्नोदरपरायण (स्त्री और धनमें ही आसक्त) नीच पुरुषोंका संग करके उनके अनुसार बर्ताव करने लगता है वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है। क्योंकि दुष्ट-सङ्गसे सत्य, पवित्रता, दया, मननशीलता, बुद्धि, लज्जा, श्री, कीर्त्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्तचित्त, मूर्ख, नष्टबुद्धि, स्त्रियोंके हाथके खिलौने बने हुए, शोचनीय, असाधु दुष्ट मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये।'

अतएव दुःसंगका त्याग तो सभीके लिये आवश्यक है, पर भगवत्प्रेमकी इच्छा करनेवालोंको तो दुःसंगका त्याग बड़ी ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सावधानीसे करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा है—

वरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

'हे विभीषण! नरकमें रहना अच्छा है, परन्तु विधाता कभी दुष्टका संग न दे।' दुष्ट-संगसे केवल दुराचारी मनुष्योंका ही संग नहीं समझना चाहिये। इन्द्रियोंका कोई भी विषय, जो हमारे मनमें असद्विचार तथा विषयोंकी लालसा उत्पन्न करे और भगवत्प्राप्तिके मार्गसे हमारे चित्तको चलायमान कर दे, दुःसंग हो सकता है। हमें न कोई ऐसी चेतन वस्तु या जड दृश्य देखना चाहिये, न ऐसी बात सुननी चाहिये, न ऐसी चर्चा करनी चाहिये, न वैसे स्थानमें जाना चाहिये, न वैसी पुस्तक या पत्रिका पढ़नी चाहिये, न वैसा चित्र देखना चाहिये, न वैसी वस्तु खानी, सूँघनी या स्पर्श करनी चाहिये और न वैसा विचार ही करना चाहिये, जिससे हमारे चित्तमें विषयचिन्तनकी प्रबलता हो जाय। याद रखना चाहिये कि मनुष्यमें अच्छे और बुरे भावोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें कम-से-कम ये दस बातें प्रधान कारण होती हैं— स्थान, अन्न, जल, परिवार, अड़ोस-पड़ोस, दृश्य, साहित्य, आलोचना, आजीविकाका कार्य और उपासना। यदि ये सब सात्त्विक होते हैं तो इनके सेवनसे सात्त्विकता बढ़ती है। इन्हींका सेवन सत्संग है। और यदि ये राजस या तामस हैं तो इनका सेवन दुःसंग है और उससे अज्ञानकी वृद्धि होकर तमाम दोषोंका विकास हो जाता है। अतएव दुःसंगका सब प्रकारसे सर्वथा त्याग करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

४४—क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है ।

भगवत्सम्बन्धी तत्त्व-रहस्य तथा लीला-कथाओंको छोड़कर इन्द्रियोंको भोगके समय तृप्ति देनेवाले लौकिक विषयोंका चिन्तन ही सर्वनाशकी जड़ है । चित्त निरन्तर या अधिक समयतक जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति होती है । दुःसंगसे—सांसारिक विषयों और विषयी पुरुषोंके शरीर, वाणी और मनद्वारा किये हुए संगसे स्वाभाविक ही विषयासक्ति बढ़ती है । आसक्तिसे कामना होती है, यह कामना ही समस्त पापोंका मूल है; कामनाकी तृप्तिसे अधिक प्राप्तिके लिये लोभ उत्पन्न होता है और अतृप्तिसे वही कामना क्रोधके रूपमें परिणत हो जाती है । इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने राग या आसक्तिरूपा रजोगुणसे उत्पन्न कामको ही पापोंके होनेमें प्रधान कारण बतलाया है । अर्जुनने पूछा कि 'भगवन् ! मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती पकड़ा-सा जाकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?' इसके उत्तरमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ३७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, इस महापापी कामका पेट कभी नहीं भरता; इस विषयमें तुम इस कामको ही (पाप करानेवाला) अपना शत्रु मानो।' यद्यपि कामसे लोभ और क्रोध दोनों ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु संसारमें मनमानी थोड़ी ही कामनाओंकी पूर्ति होती है; अधिकांशमें तो विफलता ही प्राप्त होती है। विफलतामें क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोधकी उत्पत्ति हो जानेपर मनुष्य विवेक-विचारशून्य हो जाता है। उसे हिताहित कुछ भी नहीं सूझता, वह पिशाचकी भाँति केवल विनाशका ही प्रयत्न करता है। इस मोहमें उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, और स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धि मारी जाती है। बुद्धिके नष्ट होनेपर वह इस लोक और परलोकके कल्याणपथसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है। ठीक यही बात श्रीभगवान्‌ने भी गीताके अध्याय २, श्लोक ६२-६३ में कही है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

'विषयोंके चिन्तनसे मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, (कामकी तृप्तिमें बाधा होनेसे) उस कामसे ही क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे सम्मोह होता है, सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे (पुरुषका) सर्वनाश हो जाता है।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वनाशके कारणभूत विषयोंका चिन्तन होनेमें विषय और विषयी पुरुषोंका संग ही प्रधान है, यही दुःसंग है; अतएव इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

४५–ये (काम-क्रोधादि) पहले तरंगकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसंगसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं ।

जबतक दोषोंका समूल विनाश न हो जाय, तबतक तनिक-से दोषसे भी डरते ही रहना चाहिये; जैसे ईंधनमें दबी हुई जरा-सी चिनगारी हवाके जोरसे विशाल अग्निका रूप धारण कर लेती है, इसी प्रकार दबा हुआ जरा-सा भी दोष कुसंग पाते ही पनपकर विशाल रूप धारण कर लेता है । पहले-पहले जब मनमें काम-क्रोधका विकार उत्पन्न होता है तो उसकी एक लहर-सी ही आती है, परन्तु कुसंग पाते ही वह लहर समुद्र बन जाती है; फिर चारों ओरसे सारे हृदयपर उसीका अधिकार हो जाता है, सद्विचारके प्रवेशकी भी गुंजाइश नहीं रह जाती; उससे सर्वनाश ही होता है । अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे अन्दर सद्‌गुण अधिक हैं और दोष कम हैं, इससे कुसंगसे हमारी क्या हानि होगी ! वरं सदा-सर्वदा अत्यन्त सावधानीके साथ सब प्रकारसे कुसंगका त्याग ही करना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मायासे कौन तरता है ?

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः सङ्गाँस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

४६–(प्रश्न) कौन तरता है ? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है ? (उत्तर) जो सब संगोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है ।

नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये सबसे अधिक आवश्यक काम होता है हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फेंकते जाना, निरन्तर जलको काटते रहना; तभी नया तैराक नदीके पार जा सकता है । जलको फेंकना छोड़ दे तो तत्काल डूब जाय । इसी प्रकार इस महाभयावनी दुस्तर माया नदीको तैरकर जो उस पार जाना चाहते हैं, उन्हें अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलग फेंकते रहना चाहिये। अहंकार और आसक्तिरूपी जलसे ही यह मायानदी भरी है; जो अहंकार और आसक्तिको दूर नहीं फेंक सकता, इनका त्याग नहीं करना चाहता, वह इस मायानदी-के जलमें रमकर अतल तलमें डूब जायगा। इसलिये संगत्याग अवश्य करना चाहिये; परन्तु हाथ-पैर मारते-मारते भी उनके थक जानेकी अथवा श्वास टूट जानेकी सम्भावना है, अतएव बीच-बीचमें ऐसा अवलम्बन चाहिये जहाँ कुछ देर ठहरकर वह विश्राम ले सके। इस मायानदीमें भी केवल संगत्यागसे काम नहीं चलता, इसमें भी विश्रामस्थल चाहिये। वे विश्रामस्थल सन्तोंके सुधामय वचन ही हैं, जिनके सहारेसे नवीन बल प्राप्त होता है और उस बलसे मनुष्य मायासमुद्रके पार पहुँच जा सकता है। वस्तुतः सन्तसेवी साधकको अपने बलसे तैरना पड़ता ही नहीं, वह तो सन्त महानुभावोंकी कृपारूपी सुदृढ़ जहाजपर सवार होकर अनायास ही तर जाता है। इसीलिये देवर्षि महानुभावोंकी सेवा करनेको कहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
(११। २६। ३२)

'जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौकाके समान इस भयङ्कर संसारसागरमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महानुभाव सन्तोंकी सेवासे पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
(११।२६।३१)

'जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, इसी प्रकार सन्त पुरुषोंके सेवनसे पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञान-रूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते।'

निर्मल हरिभक्तिकी प्राप्तिके लिये तो महापुरुषोंकी चरणसेवा ही प्रधान है। श्रीमद्भागवतमें भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानिप्रवर अवधूतशिरोमणि जडभरतके वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
(७।५।३२)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(५।१२।१२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता ! जिन भगवान् श्रीहरिके चरणोंका स्पर्श समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाला है, उन श्रीहरिचरणोंमें तबतक प्रेम नहीं होता जबतक अकिञ्चन (सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर चुकनेवाले) साधु महान् पुरुषोंकी चरणधूलिसे मस्तकका अभिषेक न किया जाय ।'

महात्मा जडभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—

'हे रहूगण ! यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्रेम तप, यज्ञ, दान, गृहस्थाश्रमद्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्यकी उपासनासे नहीं मिलता । यह तो महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान करनेसे अर्थात् उनकी चरणसेवासे ही मिलता है ।'

परन्तु इतना स्मरण रहे कि महापुरुषोंकी सेवाका अर्थ केवल उनके समीप रहना या उनके शरीरकी सेवा करना ही नहीं है । उसकी भी यथायोग्य आवश्यकता और सार्थकता है; परन्तु जबतक हम उनके आज्ञानुसार क्रिया नहीं करते, उनके इशारेपर नहीं चलते एवं उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण नहीं करते तबतक सेवामें त्रुटि ही समझनी चाहिये । अतएव इस बातको समझकर सर्वदा और सर्वथा महानुभावोंकी सेवा करनी चाहिये ।

परन्तु इसमें ममता एक बड़ी बाधा है । ममताके बन्धनसे सन्तसेवा हो ही नहीं सकती । घर मेरा, शरीर मेरा, परिवार मेरा, धन मेरा, सम्बन्धी मेरे, मकान मेरा, जमीन मेरी—इस प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरे-मेरेके अनगिनत बन्धनोंमें जीव बँधा है; इन ममताके बन्धनों-को तोड़ना होगा। अवश्य ही सत्संग और सन्तोंकी सेवारूपी दिव्य मणिदीपकके प्रकाशसे ममतारूपी अन्धकारमयी रात्रिका अन्धकार बहुत कुछ कम हो जाता है, तथापि पहले सन्त-संगमें जानेके लिये भी तो ममताको कम करनेकी आवश्यकता है। अतएव संसारके इन ममत्वके विषयोंको दुःखरूप, अनित्य और अज्ञानमूलक समझकर इनके प्रति मेरे भावको सर्वथा त्याग करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है। जिस शरीरको मनुष्य मेरा ही नहीं वरं 'मैं' कहता है वह भी नष्ट हो जाता है, तब फिर अन्य वस्तुओंमें मेरापन समझना तो मूर्खता ही है। मायासे तरनेके लिये इस मेरेपनका नाश जरूर करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह मायासे तर जाता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

४७–जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है।

मायासे तरनेके लिये पूर्वसूत्रमें तीन उपाय बतलाये गये हैं, अब इस सूत्रमें चार उपाय बतलाये जाते हैं और अगले दो सूत्रोंमें क्रमशः पाँच उपाय या लक्षण और बतलायेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

…पुस्तकालय, …

ममताका त्याग दिन-रात ममत्वकी वस्तुओंके बीचमें रहनेसे नहीं होता; संगसे तो ममता उलटी बढ़ती है; अतएव साधकको एकान्त-सेवन करना चाहिये । श्रीभगवान्‌ने गीतामें—

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

(१३ । १०)

—'एकान्त स्थानमें रहने और मनुष्योंकी भीड़भाड़में प्रीति न रखनेकी आज्ञा दी है ।' मनुष्य कितना भी साधन करनेकी चेष्टा करे, परन्तु जबतक वह विषय-वासनासे जकड़े हुए जन-समुदायमें और मोहक विषयोंसे भरे हुए स्थानोंमें रहेगा तबतक भगवान्‌में उसका मन लगना बहुत कठिन है; इसीलिये साधकको एकान्त देशमें रहकर भक्तिका साधन करना बतलाया गया है । साथ ही भगवान्‌के साथ प्रेमका बन्धन बाँधनेके लिये लोकबन्धन-को तोड़ना आवश्यक है । एकान्तदेशसेवनसे लोकसंग छूट जानेके कारण लोकबन्धन स्वयमेव ही ढीला हो जायगा । इसके अतिरिक्त भगवान्‌के रहस्य, प्रभाव और तत्त्वके साथ मृत्युमय और दुःखालय इस लोककी तुलना करके बारम्बार विचार करनेपर लोकबन्धन आप ही टूट जाता है ।

इसके बाद भक्तिके साधकको सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे परे होना पड़ेगा । संसारका प्रकाश इन गुणोंसे ही होता है । गुणोंका ही कार्य यह संसार है, अतएव इस संसारके पदार्थोंमें अनासक्ति या विरक्ति होना ही निस्त्रैगुण्य या असंसारी होना है । जो मनुष्य विषयासक्त और विषयकामी है, वही गुणबद्ध है और जो भगवदासक्त और भगवत्प्रेमी है वही निस्त्रैगुण्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। जो निस्त्रैगुण्य होगा वह योगक्षेमकी चिन्ता क्यों करने लगा? संसारमें तो उसका कोई प्रलोभन ही नहीं है, क्योंकि वह निस्त्रैगुण्य है; और मोक्षकी सिद्धिसे भी वह निःस्पृह है, क्योंकि वह भगवान्‌का प्रेमी है। अप्राप्तकी प्राप्तिको 'योग' और प्राप्तके संरक्षणको 'क्षेम' कहते हैं। इसमें केवल भोजनाच्छादनका भाव ही नहीं है; पारमार्थिक अर्थमें तो योगका अर्थ है भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्राप्तिका सफल साधन, और क्षेमका अर्थ है भगवत्-प्राप्तिके साधनका संरक्षण। प्रेमी भगवद्भक्त इन दोनों ही अर्थोंमें योगक्षेमकी परवा नहीं करता, वह तो भगवत्प्रेममें ही मस्त रहकर भगवत्प्रेरणासे सदा-सर्वदा भगवदनुकूल स्वाभाविक कर्म करता रहता है। भक्तका योगक्षेम स्वयं भगवान् ही चलाते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (९। २२)

'जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी निष्काम उपासना करते हैं उन नित्य मुझमें लगे रहनेवाले भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'*

---

* श्रीजगन्नाथपुरीमें एक सरल हृदयके सदाचारी ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। उनको गीतासे बड़ा प्रेम था, वह दिन-रात गीताका अध्ययन और मनन किया करते थे। अवश्य ही उनका सकाम भाव अभी दूर नहीं हुआ था, परन्तु थे वे बड़े विश्वासी। एक दिन वे गीताके प्रत्येक शब्दका क्रियात्मक अर्थ देखना चाहते थे। पाठ करते समय जब उपर्युक्त श्लोकका 'वहाम्यहम्' शब्द आया, तब ब्राह्मण सोचने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भोजनादिकी चिन्ता तो साधारण विश्वासी भक्तको भी नहीं करनी चाहिये; जो भोजनादिके लिये भगवान्‌का भरोसा न रखकर न्याय और सत्यमार्गका तथा सदाचारका त्याग कर पापकी शरण लेते हैं वे तो एक प्रकारसे नास्तिक ही हैं। कहा है——

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं दासानुपेक्षते॥

लगे कि क्या भगवान् अपने भक्तके लिये आवश्यक वस्तुएँ स्वयं ढोकर उसके घर पहुँचा आते हैं ? नहीं, नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता। भगवान् किसी दूसरे साधनसे संग्रह करा देते होंगे। यह विचारकर ब्राह्मणने 'वहाम्यहम्' का अर्थ ठीक न बैठते देख गीताके उक्त पदको काटकर उसकी जगह ऊपर 'करोम्यहम्' लिख दिया। ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करते थे। भगवान्‌की अपार माया है; एक दिन मूसलाधार वृष्टि होने लगी। ब्राह्मणदेवता उस दिन घरसे न निकल सकनेके कारण दिनभर सपरिवार भूखे ही रहे। दूसरे दिन वर्षा बन्द होनेपर ब्राह्मण भीखके लिये चले। उनके घरसे जानेके थोड़ी ही देर बाद एक खूनसे लथ-पथ अत्यन्त ही सुन्दर बालक ब्राह्मणके घरपर आकर ब्राह्मणी-से बोला——'पण्डितजी महाराजने यह प्रसाद भेजा है।' ब्राह्मणी बालकके मनोहर बदनको देखकर और उसके मीठे वचन सुनकर मुग्ध हो गयी, परन्तु उसके शरीरसे खून बहता देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ। उसने आँसूभरे नेत्रोंसे पूछा—'तुमको किस निठुरने मारा है ?' बालकने ब्राह्मणीके पतिका नाम लेकर कहा कि 'मुझको ब्राह्मणदेवताने मारा है।' ब्राह्मणी तो अचरजमें डूब गयी; कहने लगी—'वे तो बड़े सीधे-सादे, अक्रोधी और परम भागवत हैं; तुम-सरीखे नयन-मनलुभावन बालकको वे क्यों मारने लगे ?' बालकने कहा——'मैं सच कहता हूँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'वैष्णव आहारादिके लिये व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। जो भगवान् समस्त विश्वके सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं वे क्या अपने सेवकोंको कभी भूल सकते हैं ?'

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८॥

माँ! उन्होंने ही एक शूलसे मेरे बदनको काट डाला है, उन्होंने क्यों ऐसा किया, इस बातको तो वे ही जानें।'

इतना कहकर और प्रसाद रखकर बालक वहाँसे चल दिया; ब्राह्मणीको अन्यमनस्क होनेके कारण उसके जानेका पता नहीं लगा। वह कुछ भी न समझकर अति दुःखित चित्तसे स्वामीके घर आनेकी बाट देखने लगी। समयपर ब्राह्मण घर आये। ब्राह्मणीने विनयके साथ, किन्तु रोष और विषादभरे शब्दोंमें सारा वृत्तान्त ब्राह्मणको कह सुनाया। पण्डितजी गृहिणीकी बात सुनकर अवाक् हो गये। गीताके श्लोकपर हरतालकी कलम फेरनेकी घटनाको स्मरण कर वे व्याकुल हो उठे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। ब्राह्मण अब समझे कि सचमुच ही भगवान् अपने विश्वासी भक्तके लिये स्वयं सिरपर ढोकर आहारादि पहुँचाते हैं। गीता श्रीभगवान्का अंग है। गीताका श्लोक काटनेसे भगवान्के शरीरपर चोट लगी है। ब्राह्मण अपनी करनीपर पश्चात्ताप करते-करते मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भगवान्ने उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। कुछ समय बाद उठकर वे भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करने लगे, और भावविह्वल होकर गीताके चारों ओर 'वहाम्यहम्' 'वहाम्यहम्' लिखने लगे!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४८—जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्याग कर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

योगक्षेमकी चिन्ताका त्याग करनेवाला कर्मफलका त्यागी होता ही है, अथवा योगक्षेमके त्यागके लिये भी कर्मफलके त्यागकी आवश्यकता होती है। वस्तुतः अब यहाँसे प्रेमी भक्तके लक्षणोंका आरम्भ हो गया है। ये भक्तिके साधकोंके लिये आदर्श साधन हैं और सिद्ध प्रेमी भक्तोंके स्वाभाविक गुण ! भक्त जो कुछ करता है वह भगवान्‌के लिये ही करता है, उसे उसका अपने लिये कुछ भी फल नहीं चाहिये। उसकी न कर्ममें आसक्ति है, और न उसके फलमें; वह तो यन्त्रवत् कर्म करता रहता है। परन्तु जहाँतक उसे यह स्मरण रहता है कि मैं यन्त्र हूँ, भगवान्‌के लिये कर्म करता हूँ, वहाँतक वह कर्मफलका ही त्यागी कहा जा सकता है; कर्मका त्यागी तो तब होगा जब उसे यह भी पता नहीं रहेगा कि मैं भी कुछ करता हूँ। जब मन-बुद्धिके पूर्ण समर्पणसे भगवान् उसके अहङ्कारको सर्वथा हरण करके स्वयं ही उसके हृदयमन्दिरमें बैठकर कर्म करने-कराने लगेंगे, तब वह कर्मोंका सम्पूर्ण त्यागी होकर सर्वथा निर्द्वन्द्व हो जायगा। फिर उसे सुख-दुःख, हानि-लाभ, अपना-पराया, मैं-तू आदि द्वन्द्वोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। परन्तु जबतक ऐसी स्वाभाविक स्थिति न हो तबतक साधनरूपसे कर्मफलका त्याग और भगवद्विरोधी अथवा अनावश्यक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके निर्द्वन्द्व होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(गीता २।४५)

'हे अर्जुन ! वेद तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकाश करनेवाले हैं; अतएव निस्त्रैगुण्य अथवा असंसारी (निष्कामी), सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंसे रहित, योगक्षेमकी इच्छा न करनेवाला, नित्य सत्त्वमें स्थित और परमात्मपरायण हो जाओ।'

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥

४९.—जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

साधनकी दृष्टिसे उपर्युक्त श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक (२।४५) के अनुसार तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकट करनेवाले वेदोंके त्यागसे, निष्कामी बननेका अर्थ बहुत ही ठीक है। सकाम भावका त्याग ही वेदत्याग है। परन्तु देवर्षि नारद यहाँ जिस प्रेमावस्थाका वर्णन कर रहे हैं, उस अवस्थामें तो भक्त केवल एक अविच्छिन्न अखण्ड भगवत्प्रेमके महान् सागरमें डूबकर तन्मय हो जाता है; इससे वेदोंका आश्रय स्वयमेव ही छूट जाता है, उससे फिर लौकिक-वैदिक कोई-सी भी क्रिया यथाविधि नहीं हो सकती। सारे नियमोंका अपने-आप टूट जाना ही इस प्रेमका एक नियम है। यह भी शास्त्रविधि ही है। इस स्थितिमें वेद अपने अनुयायीको वेदोंका परमफल प्राप्त करते देखकर, उसकी चरम तृप्तिपर स्वयं तृप्त होकर उसे छोड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देते हैं। यह वेदत्याग तिरस्कारमूलक नहीं है, वरं तृप्तिमूलक है। वह जानबूझकर वेदोंको नहीं छोड़ता, वेद ही उसे पूर्णकाम समझकर अपना आधिपत्य उसपरसे उठा लेते हैं। इस अवस्थामें वह प्रेमी भक्त विधि-निषेधमय वेदोंको लाँघकर बस, केवल एक अनिर्वचनीय हरिप्रेममें ही मतवाला रहता है; वह भगवत्प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति होता है। स्वयं भगवान् ही उसके शरीरमें दिव्य प्रेमके रूपमें प्रकट होकर लीला करते हैं।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

५०—वह तरता है, वह तरता है, वह लोगोंको तार देता है।

देवर्षि नारद आनन्दमें भरकर पुकार रहे हैं कि जो इस प्रकार भगवान्‌के प्रेममें मतवाला हो जाता है वह स्वयं तो तर ही गया, अपितु वह समस्त लोकोंको भी तार देता है। वही सच्चा तरन-तारन होता है। भगवान्‌ने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'—ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।

छियालिसवें सूत्रमें मायासे कौन तरता है, यह प्रश्न करके यहाँतक उसका उत्तर दिया गया। चार सूत्रोंमें प्रेमके साधन और प्रेमियोंके लक्षण बतलाये गये। अब आगे उस प्रेमका रूप बतलाया जायगा, जिसको पाकर प्रेमी महानुभावगण इस दुर्लभ स्थितिको स्वाभाविक गुणोंके रूपमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमरूपा भक्ति और गौणी भक्तिका स्वरूप

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

५१–प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है ।

प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं; जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। संसारमें भी हम देखते हैं कि प्रिय वस्तुके मिलनेपर, उसका समाचार पानेपर, उसके स्पर्श, आलिङ्गन और प्रेमालापका सुअवसर मिलनेपर हृदयमें जिस आनन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन वाणी कभी नहीं कर सकती । जिस प्रेमका वर्णन वाणीके द्वारा हो सकता है, वह तो प्रेमका सर्वथा बाहरी रूप है। प्रेम तो अनुभवकी वस्तु है । भगवान् श्रीराम लंकामें स्थित जगज्जननी जानकीजीको सँदेशा कहलाते हैं—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥

प्रेमका अनुभव है मनमें, और मन रहता है सदा अपने प्रेमीके पास । फिर भला, मनके अभावमें वाणीको यत्किञ्चित् भी वर्णन करनेका असली मसाला कहाँसे मिले ? अतएव प्रेमका जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ भी वर्णन मिलता है वह केवल सांकेतिकमात्र है—बाह्य है। प्रेमकी प्राप्ति हुए बिना तो प्रेमको कोई जानता नहीं, और प्राप्ति होनेपर वह अपने मनसे हाथ धो बैठता है। जलमें मुखसे शब्दका उच्चारण तभीतक होता है जबतक कि मुख जलसे बाहर रहता है, जब मनुष्य अतलतलमें डूब जाता है तब तो डूबनेवालेकी लाशका पता लगना भी कठिन होता है। इसी प्रकार जो प्रेमसमुद्रमें डूब चुका है, वह कुछ कह ही नहीं सकता। और ऊपर-ऊपर डुबकियाँ मारने और डूबने-उतरानेवाले जो कुछ कहते हैं सो केवल ऊपर-ऊपरकी ही बात कहते हैं—

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

५२—गूँगेके स्वादकी तरह।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परन्तु गुड़का स्वाद नहीं बतला सकता; इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, परन्तु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको भी बतला नहीं सकते। इस प्रेममें तन्मयता होती है। इसलिये प्रेमी यह नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या जानता हूँ। इसीसे श्रीराधाने एक समय कहा है कि 'हे सखि! मैं कृष्णप्रेमकी बात कुछ भी नहीं जानती, नहीं समझती, और जो कुछ जानती हूँ उसे प्रकट करनेयोग्य भाषा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरे पास नहीं है । मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जब हृदयके अंदर उनका स्पर्श होता है, तभी मेरा सारा ज्ञान चला जाता है।'

प्रकाशते* क्वापि पात्रे ॥५३॥

५३—किसी विरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है ।

यह तो निश्चित है कि वाणीद्वारा प्रेमका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु जब कोई प्रेममदसे छके हुए भाग्यवान् महापुरुष तन-मनकी सुधि भुलाकर दिव्य उन्मत्तवत् चेष्टा करने लगते हैं तब प्रेमका कुछ-कुछ प्रकाश लोगोंको प्रकट दीखने लगता है। उस समय ऐसे महात्माकी केवल वाणीसे और नेत्रोंसे ही नहीं, शरीरके रोम-रोमसे प्रेमकी किरणें अपने-आप ही निकलने लगती हैं । यह प्रेमका प्राकट्य साक्षात् भगवान्‌का ही प्रकाश है । ऐसा प्रकाश किसी विरले ही प्रेमी महापुरुषमें होता है ।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमान-मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥५४॥

५४—यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है ।

किसी गुणको देखकर जो प्रेम होता है वह तो गुण न दीखनेपर नष्ट हो जा सकता है । परन्तु असली प्रेममें गुणोंकी अपेक्षा नहीं है । प्रेमीको अपने प्रेमास्पदमें गुण-दोष देखनेका

* पाठभेद "प्रकाश्यते"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवकाश ही कहाँ मिलता है, वहाँ तो स्वाभाविक सहज प्रेम होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि प्रेम गुणातीत होता है। वह तीनों गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है।

प्रेममें कुछ भी कामना नहीं होती, क्योंकि प्रेममें प्रेमास्पदको सुखी देखनेकी एक इच्छाको छोड़कर अन्य किसी स्वार्थकी वासना ही नहीं रहती। उसका तो परम अर्थ केवल प्रेमास्पद ही है। जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है वहाँ तो प्रेमका पवित्र आसन कुटिल कामके द्वारा कलङ्कित हो रहा है। अतएव प्रेममें कामना-का लेश भी नहीं है।

सच्चा प्रेम कभी घटता तो है ही नहीं, वरं वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। प्रेमीका सदा यही भाव रहता है कि मुझमें प्रेमकी कमी ही है। किसी भी अवस्थामें उसे अपना प्रेम बढ़ा हुआ नहीं दीखता, अतएव उसकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेम बढ़ानेकी होती है। इस विच्छेदरहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। यह विशुद्ध प्रेम दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता ही रहता है।

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनौं यामें नहीं, ताते कबहुँ न सेष॥

यह प्रेम हृदयकी गुप्त गुहामें रहनेवाला होनेके कारण सूक्ष्म-से भी सूक्ष्मतर होता है और केवल अनुभवमें ही आता है। प्रेमी रसखानजी मानो इसी सूत्रका अनुवाद करते हुए कहते हैं—

बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध, कामनाते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो, अति दूर ।
प्रेम कठिन सबते सदा, नित इकरस भरपूर ॥
रसमय स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान ।
सदा एक रस बढ़त नित सुद्ध प्रेम रसखान ॥

यह प्रेम परम आनन्दमय है और आनन्दमय श्रीहरिके साथ मिलाकर प्रेमीको आनन्दमय बना देता है ।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति* तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

५५—इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है ।

परम प्रेमके दिव्य रसमें डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय, रसमय प्रियतमको ही देखता है । उसे कहीं दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं । ऐसी ही स्थितिमें एक गोपी कहती है—

जित देखौं तित स्याममई है ।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है ॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है ।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है ।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है ॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है ।
नर देवनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्म छवि स्याममई है ॥

---

* किसी-किसी प्रतिमें ''तदेव भाषयति'' नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरा भक्त कहता है—

बाटनमें घाटनमें बीथिनमें बागनमें,
वृच्छनमें बेलिनमें बाटिकामें बनमें।
दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचनमें,
हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें॥
काननमें कुंजनमें गोपिनमें गायनमें,
गोकुलमें गोधनमें दामिनमें घनमें।
जहाँ-जहाँ देखौं तहाँ स्याम ही दिखाई देत,
सालिगराम छाइ रह्यो नैननमें मनमें॥

कहि न जाय मुखसों कछू स्याम-प्रेमकी बात।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम दिखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को कासों केहि बिधि कहा, कहै हृदैकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो हरि सर्वत्र लखात॥

ऐसी अवस्थामें उसके कानमें जो कुछ भी आवाज आती है वह केवल प्रेममयके प्रेमसंगीतकी स्वरलहरी ही होती है; वह सर्वदा उसकी मुरलीकी मीठी तानमें मस्त रहता है। इसी प्रकार उसके मुखसे भी प्रेममयको छोड़कर दूसरा शब्द नहीं निकलता। वह प्रेममयका गुण गाते-गाते कभी थकता ही नहीं, बात-बातमें उसे केवल दिव्य प्रेमरसामृतका ही अनुपम स्वाद मिलता रहता है और वह अतृप्त रसनासे सदा उसी अमृतरसपानमें मत्त रहता है। उसके चित्तमें तो दूसरेके लिये स्थान ही नहीं रह गया। वहाँ एकमात्र प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है । ऐसा जरा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपसे भी आ सके । चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन जाता है; इस अवस्थाका अनुमान करते हुए कवि कहता है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो ।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

समस्त अंग केवल उसीका अनुभव कर रहे हैं । सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसीको विषय करती हैं । आँखें अहर्निश सम्पूर्ण विश्वको श्याममय देखती हैं । कान सदा उसीकी मधुरातिमधुर शब्द-ब्रह्ममयी वेणुध्वनि सुनते हैं । नासिका नित्य-निरन्तर उसी नटवरके अंगसौरभको ही सूँघती है । जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेमसुधाका आस्वादन करती है । और शरीर सर्वदा उसी अखिल सौन्दर्यमाधुर्यरसाम्बुधि रसराज परम सुखस्पर्श आनन्द-कन्द श्रीनन्दनन्दनके अनुपम स्पर्श-सुखका अनुभव करता है। आकाशमें वही शब्द है, वायुमें वही स्पर्श है, अग्निमें वही ज्योति है, जलमें वही रस है और पृथ्वीमें वही गन्ध बना हुआ है। सबमें वही भरा है । सबमें वही अपनी अनोखी रूपमाधुरीकी झाँकी दिखा रहा है । सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द है । समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है । सब कुछ आनन्दसे और सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है । दृश्य, द्रष्टा सभी मधुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं; हम-तुम सभी मधुर हैं; उस परमानन्द-रस-सुधामय मधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। 'मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः, मधुमत् पार्थिवं रजः' सर्वत्र मधु-ही-मधु। इस प्रकार प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें सर्वत्र प्रेममय भगवान् हैं और भगवान्की दृष्टिमें भक्त। भगवान्ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो मुझे सर्वत्र देखता है, और सबको मुझमें देखता है, न कभी मैं उसकी आँखोंसे ओझल होता हूँ और न वह मेरी आँखोंसे ओझल होता है।'

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त जिस नित्य महान् दिव्य प्रेमामृत-रससागरमें मग्न रहता है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। यही प्रेमाभक्ति या पराभक्तिका स्वरूप है। यही महान् भूमानन्द है, इसी सर्वव्यापी भूमानन्दके साथ अल्प सुखका तारतम्य दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

(छान्दोग्योपनिषद् ७। २४। १)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता वही भूमा है। और जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है।' इसीलिये प्रेम सदा मधुर, अविनाशी, सनातन और सत्य है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ ५६॥

५६—गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिभेदसे तीन प्रकारकी होती है।

पिछले सूत्रतक उस परा या मुख्या भक्तिका विवेचन हुआ जिसमें प्रेमी भक्त उस प्रेमाभक्तिसे अपने प्रियतम भगवान्के प्रेममय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसीको श्रीमद्भागवतमें अहैतुकी—निर्गुण भक्ति तथा गीतामें ज्ञानीकी भक्ति कहा है। अहैतुकी भक्तिमें भक्तकी चित्तवृत्ति और कर्मगतिका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे स्वाभाविक ही भगवान्की ओर बहता रहता है अर्थात् उसका चित्त निरन्तर निष्काम अनन्य प्रेमभावसे भगवान्में लगा रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ श्रीभगवान्के लिये ही होती हैं (भागवत ३। २९। ११-१२) और गीतोक्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानी महात्मा भक्त भी सब कुछ वासुदेव ही देखता है (अध्याय ७। १७)। ये दोनों तो भगवत्स्वरूप ही हैं। अब यहाँ इस भक्तिकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी गौणी भक्तिका वर्णन किया जाता है। यह गौणी भक्ति सात्त्विकी, राजसी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तामसी-भेदसे अथवा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी-भेदसे तीन प्रकारकी है ।

जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे सब कर्मफलोंको भगवान्में समर्पण करनेके रूपमें, अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य है। यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है, वह सात्त्विकी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १०) ।

जो भक्ति विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे भेददृष्टि-पूर्वक केवल प्रतिमादिके पूजनके रूपमें ही की जाती है वह राजसी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ९) ।

जो भक्ति क्रोधसे हिंसा, दम्भ और मत्सरताको लेकर भेद-दृष्टिसे की जाती है वह तामसी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ८) ।

इसी तरह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुष त्रिविध उपासनासे तीन प्रकारकी भक्ति करते हैं; अर्थात् भक्तोंके भाव-भेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं ।

गौणी भक्तिके साधनोंसे यद्यपि साक्षात् भगवत्प्राप्ति नहीं होती, तथापि इस गौणी भक्तिके साधक भी सुकृती ही होते हैं और उन्हें भी भगवत्कृपासे इसका अनुष्ठान करते-करते अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी मुख्य साधनस्वरूपा या साक्षात् भगवत्स्वरूपा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति होती है । भगवान्की भक्तिमें यही विशेषता है कि इसका अन्तिम फल दुर्लभ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही है । इसीसे गौणी भक्तिको भी श्रेष्ठ और पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होनेवाली माना गया है । क्योंकि भक्तिमात्रमें ही भगवान्का भजन, भगवान्का आश्रय, भगवान्का ध्यान किसी-न-किसी रूपमें रहता है; और भगवद्भजन, भगवदाश्रय तथा भगवान्के ध्यानका फल सीधा भगवत्प्राप्ति ही होता है । अतएव किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्की भक्ति मनुष्यको अवश्य ही करनी चाहिये । परन्तु जहाँतक हो सके सात्त्विकी भक्ति अथवा त्रिभुवनके वैभवको भी अनर्थ, एवं भगवान्को ही परम अर्थ—परम धन मानकर उसीके प्रेमकी प्राप्तिके लिये सच्चे अर्थार्थीके भावसे निष्काम भक्ति करनी चाहिये ।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

५७—(उनमें) उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्व क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है ।

तामसीकी अपेक्षा राजसी और राजसीकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति उत्तम है । इसी प्रकार अर्थार्थी भक्तकी अपेक्षा जिज्ञासुकी और इन दोनोंकी अपेक्षा आर्त्तकी भक्ति विशेष कल्याणकारिणी होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिकी सुलभता और महत्ता

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

५८–अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

इससे पहले भक्तिकी महिमा और कर्म, योग तथा ज्ञानादिकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी भक्तिकी प्राप्ति अन्यान्य फलोंकी अपेक्षा सहज और सुलभ है। भक्तिकी प्राप्तिमें न विद्याकी आवश्यकता है न धनकी, न श्रेष्ठ कुल प्रयोजनीय है और न उच्च वर्णाश्रम, न वेदाध्ययनकी आवश्यकता है न कठोर तपकी, न विवेककी जरूरत है न कठिन वैराग्यकी। आवश्यकता है केवल सरल भावसे भगवान्‌की अपार कृपापर विश्वास करके उनका सतत प्रेमभावसे स्मरण करनेकी। फिर सुलभता तो प्रत्यक्ष ही दीखने लगती है। भगवत्कृपा सबपर सदा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वदा है। मनुष्य विश्वास नहीं करता, इसीसे वह वञ्चित रह जाता है। भगवान्‌ने तो गीतामें डंकेकी चोट कहा है कि 'मैं सब प्राणियोंका सुहृद् हूँ, और जो मुझे सुहृद् जान लेता है वह उसी क्षण शान्ति पा जाता है'—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।
(५। २९)

मनुष्यको चाहिये कि वह भगवत्कृपापर विश्वास करके यह मान ले कि मैं भगवत्कृपाके समुद्रमें डूब रहा हूँ। मेरे ऊपर-नीचे इर्द-गिर्द, भूत-भविष्यत्, सब स्थानों और सब कालमें भगवत्कृपा भरपूर है। ऐसा मानते ही वह उस भगवत्कृपाके प्रतापसे तुरन्त पाप-तापसे मुक्त होकर भगवान्‌की भक्तिका अधिकारी हो जाता है। भगवत्कृपापर इस प्रकार विश्वास और निश्चय करके भगवान्‌के अनन्य स्मरणका अभ्यास किसी भी अवस्थामें बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र कोई भी कर सकता है। इसमें न कुछ छोड़ना है और न ग्रहण करना है। सदा सबपर भगवत्कृपा होनेपर भी हमें जो विश्वास नहीं है, बस, उस विश्वासको स्थिर कर लेना है। फिर भक्तिकी प्राप्तिके सभी साधन अपने आप सहज ही सिद्ध हो जायँगे—('तस्याहं सुलभः पार्थ'—गीता ८। १४)। भक्ति किसी और साधनसे नहीं मिलती, यह भजनसे ही मिलती है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ५९॥

५९—क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको भक्तिसुखका प्रमाण अपने आप ही मिलता रहता है। उन्हें स्वयमेव अनुभव होता रहता है, दूसरे किसी प्रमाणकी इसमें आवश्यकता नहीं है। पतिसुखके आनन्दका अनुभव भार्या बननेपर ही मिल सकता है; यह कुमारी कन्याको समझानेकी बात नहीं है। इसी प्रकार भक्तिसुखका अनुभव भक्तोंको ही होता है, यह कहकर बतलानेकी बात नहीं है। जो पुण्यात्मा महानुभाव सब कामनाओंका त्याग कर एकमात्र भगवत्प्रेमकी कामनासे ही भगवत्कृपाका आश्रय लेकर भगवान्का सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक पुलकित चित्तसे भजन करते हैं वे ही भक्तिसुखका अनुभव करते हैं।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

६०—भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

शान्ति और परम आनन्द साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। अपने प्रेमरूपमें स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण होते हैं, इसलिये यह भगवत्प्रेम भी शान्ति और परमानन्दस्वरूप ही है। आनन्दमय भगवान् स्वयं ही अपनी ह्लादिनी नाम्नी आनन्दशक्तिको निमित्त बनाकर प्रेम और प्रेमिकके रूपमें प्रकट होते हैं और स्वयं ही प्रेमास्पद बनकर अपने आनन्दका आप ही उपभोग करते हैं। यही उनकी आनन्दलीला है। यहाँपर यह समझ लेना चाहिये कि जिन भगवान्की भक्ति या प्रेम शान्तिरूप और परमानन्दरूप है, वे भगवान् निर्गुणवादियोंद्वारा माने हुए प्रकृतिसम्भव सत्त्व, रज, तमरूप त्रिगुणोंसे युक्त 'सगुण ब्रह्म' नहीं हैं। भगवान्का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिव्य तनु उनके अपने आनन्दांश, अपनी योगमायाके निमित्तसे नित्य ही प्रकट है । इसीलिये आत्माराम मुनि, जीवन्मुक्त महापुरुष, व्यास, नारद, शुकदेव, जनक, सनकादि महात्मा उनके एक-एक दिव्य गुण, दिव्य आभूषण, दिव्य गन्ध, दिव्य मुरली-ध्वनि और दिव्य सौन्दर्यपर मुग्ध हो जाते हैं । यदि भगवान्में इस जगत्प्रसविनी, आवरण करनेवाली मलिना मायाके ही गुणोंका विकास होता, या इसीसे निर्मित उनका शरीर होता तो मायाकी ग्रन्थिको काटे हुए ब्रह्मस्वरूप महात्माओंका उनकी ओर इतना आकर्षण कभी नहीं होता । निर्गुणवादी जिस भगवत्स्वरूपको शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं, और वेद जिसे 'नेति-नेति' कहकर सङ्केतसे समझाना चाहते हैं, वही मायातीत विज्ञानानन्दघन परमात्मा भक्तोंके प्रियतम भगवान् हैं । उनको शान्ति और आनन्दके समुद्र कहनेसे भी उनका यथार्थ वर्णन नहीं होता । उनका जो प्रेम है, वही परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप है । इसी प्रेमका वर्णन देवर्षि नारदजी इस सूत्रमें कर रहे हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिके साधन और अन्तराय

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोक-वेदत्वात्* ॥६१॥

६१—लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह (भक्त) अपने आपको और लौकिक, वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है।

भक्त सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर चुकता है, इसलिये उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी चिन्ता करनेकी उसे क्या आवश्यकता है? उसको तो केवल एक प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनकी ही चिन्ता रहनी चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, जन, मानादि पदार्थ रहें या चले जायँ, उसे इनकी कोई परवा नहीं; क्योंकि वह तो इन्हें पहले ही भगवान्‌के समर्पण करके सर्वथा अकिञ्चन हो चुका है। फिर उसके पास इनकी चिन्ता करनेके लिये समय और चिन्ता करनेवाला चित्त भी कहाँ है? उसके चित्तको तो एकमात्र चिन्ताहरण चिन्तामणिकी चिन्ताने चुरा लिया है। वे चतुर चौरचूडामणि कभी उसके चित्तको वापस देना ही नहीं चाहते, फिर वह चित्तके अभावमें किसी हानिकी चिन्ता ही कैसे करे? अतएव इस पथके पथिकको लोकहानिकी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उसे तो सबके सार अर्थ श्रीभगवान्‌का

* पाठभेद 'लोकवेदशीलत्वात्'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही चिन्तन करना चाहिये। और भक्तके हृदयमें ऐसा ही होता भी है।

न तदसिद्धौ* लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥६२॥

६२—(परन्तु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबतक लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु फल त्याग कर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका साधन करना चाहिये।

प्रेमकी प्राप्ति होनेपर लौकिक (और वैदिक) कर्म छूट जाते हैं, जान-बूझकर उनका स्वरूपसे त्याग नहीं करना पड़ता। समर्पणका अर्थ उनका मनसे समर्पण ही है। फिर जब प्रेमकी उच्च दशा प्राप्त होती है तब विधि-निषेधके परे पहुँच जानेके कारण ये सब कर्म स्वतः ही उसे विधिके बन्धनसे मुक्त कर अलग हो जाते हैं। उस स्थितिका यही नियम है। परन्तु जो जान-बूझकर प्रेमके नामपर शास्त्रविधिका त्याग करता है, उसे भक्तिकी सिद्धि सहजमें नहीं होती। इसलिये सूत्रकार कहते हैं कि लोकव्यवहारका त्याग जान-बूझकर मत करो। फलकी कामना छोड़कर कर्म करते रहो। निष्काम कर्म करनेवाला स्वयमेव ही लोकहानिकी चिन्तासे छूट जाता है और उसके वे भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे किये हुए लौकिक कर्म भक्तिकी प्राप्तिमें साधक बन जाते हैं।

---

* पाठभेद 'तत्सिद्धौ' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं* न श्रवणीयम् ॥६३॥

६३—स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सुनना चाहिये ।

६२वें सूत्रमें लोकव्यवहारका त्याग नहीं करनेकी आज्ञा दी गयी है, अतएव लोकव्यवहार तो करना चाहिये; परन्तु प्रेमपथके पथिकको लोकव्यवहारमें भी स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रुके चरित्र-श्रवणसे तो बचना ही चाहिये ।

(१) जिसका मन स्त्रीकी चिन्तामें लग गया, वह भगवान्‌की चिन्ता किसी प्रकार नहीं कर सकता । स्त्रीकी चिन्तासे कामकी उत्पत्ति होती है और काम प्रेममार्गमें सबसे बड़ा बाधक है । स्त्रीसम्बन्धी बातोंके सुनने, पढ़ने और देखनेसे ही स्त्रीचिन्तन होता है । अतएव साधकको चाहिये कि स्त्रीसम्बन्धी बातचीत न करे, स्त्रीसम्बन्धी बात या गान न सुने, स्त्रीसम्बन्धी चित्र न देखे, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तक या अन्य साहित्य न पढ़े, ऐसे नाटक, सिनेमा आदि न देखे, स्त्रीचरित्रपर कुछ भी आलोचना न करे, स्त्रियोंके सम्बन्धमें लेखादि न लिखे, स्त्रियोंमें रहे नहीं और स्त्रियोंसे अनावश्यक मिले नहीं । जो साधक गृहस्थ हों, उन्हें अपनी विवाहिता पत्नीके सिवा यथासाध्य अन्य स्त्रियोंसे मिलनेसे बचना चाहिये । स्त्रीसम्बन्धी चर्चा करना-सुनना, स्त्रियोंके चित्रादि देखना तो सभीके लिये हानिकारक है । श्रीमद्भागवतमें तो कहा है—

> न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
> योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥
>
> (३ । ३१ । ३५)

---

* पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्र'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'स्त्रियोंके संगसे और स्त्रियोंका संग करनेवालोंके संगसे मनुष्यको जैसा मोह और बन्धन प्राप्त होता है वैसा अन्य किसीके भी संगसे नहीं होता।' आगे चलकर पञ्चम स्कन्धमें स्त्रीमें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंकी संगतिको 'नरकका द्वार' बतलाया है। जैसे पुरुषोंके लिये स्त्रीका संग त्याज्य है, इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये भी पुरुषोंका संग सर्वथा त्याज्य है।

(२) धनके चिन्तनसे लोभकी उत्पत्ति होती है। जहाँ चित्तमें धनका लोभ जाग्रत् हुआ, वहीं न्यायान्यायकी बुद्धि मारी जाती है और मनुष्य सत्पथको त्याग कर अन्यायके मार्गपर चलने लगता है। अतएव धन और धनियोंकी भोग और गर्वभरी बातें नहीं सुननी-देखनी चाहिये।

(३) जिनका ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं है, वे ही नास्तिक हैं। ईश्वरका अस्तित्व न माननेवाले नास्तिकोंके समान जगत्के जीवोंका शत्रु शायद ही कोई है। 'इसमें क्या रक्खा है? उसमें क्या है? ईश्वर केवल ढोंग है, किसने ईश्वरको देखा है? आत्मा तो कल्पनामात्र है।' ऐसी बातें बकनेवाले और ईश्वर तथा शास्त्रोंकी निन्दा करनेवाले कुतर्कियोंका संग करने तथा उनके चरित्र सुननेसे ईश्वरमें अश्रद्धा पैदा होती है और ईश्वरमें अश्रद्धाके समान पतनका साधन और कोई-सा भी नहीं है। अतएव नास्तिकोंसे सदा बचना चाहिये।

(४) वास्तवमें भक्तके मन उसका कोई भी शत्रु नहीं है। जो सब जगत्में अपने प्राणाराम परमात्माको व्याप्त देखता है, जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगत्‌को श्रीकृष्णमय देखता है, वह कैसे किसको अपना वैरी मान सकता है। देवदेव श्रीमहादेवजीने कहा है—

उमा जे रामचरनरत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध॥

परन्तु जबतक भक्तिकी सिद्धि न हो, तबतक साधकको ऐसी भावना करनी चाहिये। और मन-ही-मन यह निश्चय करना चाहिये कि सब कुछ मेरे प्रभुका ही स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई दूसरा मनुष्य भ्रमवश साधकसे द्वेष या वैर रक्खे तो उसकी उन वैरसम्बन्धी बातोंको, जहाँतक हो, सुनना ही नहीं चाहिये। क्योंकि उनके सुननेसे क्रोध उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव अपनी ओरसे तो अपने न जीते हुए मनके सिवा किसीको शत्रु माने ही नहीं, और दूसरा कोई शत्रुता रखता हो तो उसपर भी विचार न करे।

स्त्रीके चिन्तनसे काम, धनके चिन्तनसे लोभ, नास्तिकके चिन्तनसे ईश्वरमें अविश्वास और वैरीके चिन्तनसे क्रोध उत्पन्न होता है। अतएव इन चारोंके चरित्रोंको यथासाध्य सुनना ही नहीं चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

६४—अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

इससे पहलेके सूत्रमें स्त्री, धन, नास्तिक, वैरीका चरित्र न सुननेका आदेश दिया गया है। परन्तु वैसा करके यह नहीं मान लेना चाहिये कि मैं कामिनी-काञ्चनका त्यागी हूँ, मैं परम आस्तिक हूँ, मैं अजातशत्रु हूँ। अभिमान सर्वथा पतनका हेतु है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्पत्ति, सन्तति, शक्ति, स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, कुल, वर्ण, आश्रम, आचार, रूप, पद, पुरुषार्थ आदि किसी भी वस्तुका अभिमान नहीं होना चाहिये। जो कुछ सद्वस्तु या सद्गुण प्राप्त हों, अथवा साधन ठीक चलता रहे तो उसमें भगवान्की कृपाको ही कारण समझना चाहिये। अभिमानसे बहुत बड़ी हानि होती है। अतएव अभिमानका सर्वथा त्याग करना चाहिये। यहाँतक कि निरभिमानताके अभिमानको भी छोड़ देना चाहिये। अभिमान-नाशका एक उत्तम उपाय दीनता, विनय और नम्रता है। नमन-भक्तिसे भी अभिमानका नाश होता है। इसी प्रकार दम्भका भी त्याग करना चाहिये। अपनेमें जो गुण न हों, धन-मानके लोभसे या स्वभावदोषसे उन गुणोंको दिखानेकी चेष्टा करना; बाहरसे धर्मात्मा, भक्त, त्यागी बननेका ढोंग करना दम्भ कहलाता है। दाम्भिक पुरुषका साधनपथ बहुत बुरी तरहसे रुक जाता है। वह ऊपरसे अपना कपटवेश बनाये रखनेमें ही अपनी समस्त विद्या, बुद्धि और क्रियाकुशलताको समाप्त कर देता है। निरभिमानता और सरलता ये दो भक्तिके साधनमें परम सहायकरूप हैं और अभिमान एवं दम्भ महान् बाधक। ये दोनों आसुरी सम्पदाके दुर्गुण हैं। इनके साथ 'आदि' शब्द जोड़कर सूत्रकारने आसुरी सम्पदाके* अन्यान्य दुर्गुणोंकी तरफ इशारा किया है। अतएव सभी आसुरी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

* श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें श्लोक ७ से २० तक श्रीभगवान्ने आसुरी सम्पत्तिका जो वर्णन किया है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

६५—सब आचार भगवान्के अर्पण कर चुकनेपर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवान्) के प्रति ही करना चाहिये।

जब सब कुछ भगवान्के अर्पण कर दिया तो फिर काम, क्रोधादिका अर्पण दूसरे किसको किया जाय। प्रियतम भगवान् जैसे

आसुरी मनुष्य धर्माधर्मविषयक प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, इसलिये उनमें न पवित्रता है, न आचार है और न सत्य ही रहता है। वे आसुरी मनुष्य कहते हैं कि यह जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ (धर्माधर्मव्यवस्थासे रहित), ईश्वररहित और अन्योन्यसम्भूत है अर्थात् स्त्रीपुरुषमिथुनजनित है। इस जगत्का और कोई कारण नहीं, यह केवल स्त्री-पुरुषके कामजनित संयोगसे ही उत्पन्न है। वे सब अल्पबुद्धि मनुष्य इस प्रकारकी दृष्टिका आश्रय करके मलिनचित्त, उग्रकर्मा और अहितकारी होकर जगत्के विनाशके लिये ही जन्म ग्रहण करते हैं। वे दुष्पूरणीय (किसी प्रकारसे भी पूरी न हों ऐसी) कामनाओंका आश्रय करके दम्भ, अभिमान और मदके वशीभूत हो मोहवश असदाग्रह (इस षड्यन्त्रसे अमुक मनोरथ पूर्ण हो जायगा ऐसी वेद-शास्त्रविरुद्ध दुराशा) स्वीकार कर अपवित्र व्रत (मद्य-मांसादि तथा चोरी, झूठ, कपटादिद्वारा सम्पादित नरकादि-उत्पादक कुव्रतोंको) धारणकर शास्त्रविरुद्ध कर्मों—पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। अन्तिम श्वासतक अपार विषयचिन्ताओंसे घिरे हुए वे 'कामोपभोग' ही परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार स्थिर निश्चय करके सैकड़ों प्रकारकी आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामभोगके लिये अन्यायपूर्वक (चोरी, विश्वासघात आदिके द्वारा)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने प्रेमी भक्तके प्रेमके पात्र हैं, वैसे ही उसके काम, क्रोधादिके पात्र भी वही हैं। दूसरा तो कोई उसके मन है ही नहीं, तब इनका पात्र और कौन हो ? इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें भी विषयी पुरुषों-जैसे ही काम, क्रोध, अभिमान रहते हैं। आसुरी सम्पदाके दुर्गुणस्वरूप काम, क्रोध, अभिमानादि-

---

धन सञ्चय करनेकी चेष्टा करते हैं। आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ भी पूरा होगा; यह धन मेरा है, फिर वह धन भी प्राप्त होगा। मैंने अमुक शत्रुको मार डाला, अब उन शत्रुओंको भी मारूँगा। मैं ईश्वर (के समान सर्वशक्तिमान्) हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं बड़े कुलवाला हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, मैं (नाम, यश या स्वार्थके लिये) दान करूँगा, मैं मौज करूँगा,—इस प्रकार अज्ञानसे मोहित होकर वे अनेकों विषयोंके चिन्तनमें लगे हुए विभ्रान्त चित्तवाले, मोहजालसे ढके हुए, कामभोगमें आसक्त होकर महान् क्लेशदायक अपवित्र नरकोंमें पड़ते हैं। वे अभिमानी स्वयं अपनेको श्रेष्ठ समझते हैं (अपनेमें पूज्यबुद्धि रखते हैं), अकड़े रहते हैं, धन, मान और मदके नशेमें चूर हुए वे केवल दम्भपूर्वक लोगोंको धर्मात्मापनका स्वाँग दिखानेके लिये (ईश्वरप्रीत्यर्थ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नहीं) अविधिपूर्वक नाममात्रका यज्ञ करते हैं। अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधका आश्रय लिये हुए वे अपने तथा दूसरोंके शरीरमें (आत्मारूपसे) स्थित मुझ (भगवान्) से द्वेष करते हैं और सत्य मार्गपर चलनेवाले साधुओंमें दोषारोपण करते हैं। मैं उन मेरे द्वेषी, क्रूर, नराधम और पापी मनुष्योंको संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ। हे अर्जुन ! वे मूर्ख इस प्रकार जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होकर मुझको (भगवान्‌को) न पाकर (मुझको पाना तो दूर रहा, मेरी प्राप्तिके योग्य मनुष्यशरीरको भी न पाकर) और भी नीची योनियोंको प्राप्त होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के त्यागकी बात तो पहले ही कही जा चुकी है। फिर प्रेमी भक्त महात्माओंमें यह दूषित काम कहाँ। उनमें विषयासक्ति, हिंसा, द्वेष और क्रोध कहाँ। उन अमानियोंमें मानकी गन्ध भी कहाँ। इनका तो उनमें वीज ही नहीं है। अपने सुखकी जब कोई वासना ही नहीं, तब ये दोष कहाँसे आवें? उन भक्तोंके जीवन-का उद्देश्य तो बस एक प्रियतमको सुखी करना ही है—'कृष्णसुखैक-तात्पर्य गोपीभाववर्य।' उनके चित्तमें जगत्‌का संस्कार ही नहीं है; वे तो लज्जा, घृणा, कुल, शील, मान, देह, गेह, भोग, मोक्ष, सबकी सुधि भुलाकर केवल अपने प्रियतम भगवान्‌पर ही न्योछावर हो चुके हैं। अतएव जैसे ये भक्त स्वयं दिव्य भाववाले होते हैं, वैसे ही इनके काम, क्रोध, अभिमान भी दिव्य होते हैं। इसीलिये परम विरागी जीवन्मुक्त मुनियोंने इस प्रकारके भगवत्-रंग-रँगीले प्रेमियोंकी ऐसी लीलाएँ गाने और सुननेमें अपनेको कृतार्थ माना है। जिनका चित्त सब ओरसे हट गया है, एकमात्र भगवान् ही जिनकी कामनाकी वस्तु रह गये हैं, वे भक्त अपने उन भगवान्‌के दर्शनकी कामनाके वेगसे पीड़ित होकर रो-रोकर पुकारते हैं—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एकमात्र बन्धु ! हे हमारे मनोंको अपनी ओर बरबस खींचनेवाले ! हे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?'

श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीरुक्मिणीजी कहती हैं—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर श्रृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३७, ३८, ४३)

'हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो कानोंके द्वारा हृदयमें प्रवेश करके सुननेवालोंके अंगतापको हरण कर लेते हैं वे आपके दिव्य गुण, और जो नेत्रधारियोंकी दृष्टिका सबसे परम लाभ है वह आपका दिव्य रूप, इनकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त सारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकलाजको छोड़कर आपपर अत्यन्त आसक्त हो गया है। हे मुकुन्द ! कुल, शील, रूप, विद्या, वय, द्रव्य और प्रभावमें आपके समान बस आप ही हैं। हे पुरुषोत्तम ! आप नरलोकके मनको मोहनेवाले हैं। हे पुरुषसिंह ! विवाहकाल (आपसे मिलनका अवसर) उपस्थित होनेपर ऐसी (कौन प्रेमी भक्तरूपी) कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कन्या है जो आपके साथ गँठजोड़ा करनेकी इच्छा न करेगी ? हे कमललोचन ! उमापति शंकरके समान महान् देव अपने हृदयका तम दूर करनेके लिये आपकी जिस चरणधूलिमें स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, यदि वह चरणधूलि मुझे प्रसादरूपमें नहीं मिली तो यह निश्चय समझिये कि मैं व्रतादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी, और ऐसे करते-करते कभी सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद मुझको प्राप्त होगा हीं।'

भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानियाँ द्रौपदीसे कहती हैं—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥
(श्रीमद्भा० १० । ८३ । ४१-४२)

'हे साध्वी ! हमें पृथ्वीके साम्राज्य, इन्द्रके राज्य, भौज्यपद-सिद्धियाँ, ब्रह्माके पद, मोक्ष या वैकुण्ठकी भी इच्छा नहीं है। हम तो केवल यही चाहती हैं कि भगवान् श्रीकृष्णकी कमलाकुच-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुंकुमकी सुगन्धसे युक्त चरणधूलिको ही सदा अपने मस्तकोंपर लगाती रहें।' मुक्ति तो ऐसे भक्तोंके चरणोंपर लोटा करती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ॥

'जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है, मोक्षसाम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है।'

आदर्श प्रेममयी भक्तशिरोमणि गोपियाँ प्रियतम भगवान्‌के आँखोंसे ओझल हो जानेपर विलाप करती हुई कहती हैं—

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥
व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ५-६, १३)

'हे यदुकुलशिरोमणि! जो लोग संसारके भयसे तुम्हारे चरणोंकी शरण लेते हैं, तुम्हारे करसरोज उन्हें अभय देकर उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं। हे प्रियतम! अपने उन्हीं करकमलोंको, जिनसे आपने लक्ष्मीका हाथ पकड़ा है, हमारे सिरपर रखिये। हे व्रजवासियोंके दुःखोंको हरनेवाले वीर! आपकी मन्द मधुर मुसकान भक्तोंके गर्वको हरनेवाली है। हे सखे! हम आपकी किंकरी हैं, कृपा करके हमें स्वीकार कीजिये और अपना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुन्दर मुखकमल हमें दिखाइये। हे रमण! हे आर्तिनाशन! तुम्हारे चरणारविन्द प्रणत जनोंकी कामना पूरी करनेवाले हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सदा सेवित हैं, पृथ्वीके आभूषण हैं, विपत्तिकालमें ध्यान करनेसे कल्याण करनेवाले हैं, हे प्रियतम! उन परम कल्याणमय सुशीतल चरणोंको हमारे तप्त हृदयपर स्थापित कीजिये।'

इस प्रकार प्रेमी भक्त श्रीकृष्णके कामसे पीड़ित हुए सदा उन्हींके लिये रोया करते हैं और उन्हें पुकारा करते हैं; और आँखमिचौनीकी-सी लीला करनेवाले लीलाविहारी भगवान् जब उनकी प्रेम-पुकार सुनकर त्रिभुवनकमनीय, योगिजनदुर्लभ, देवदेव-प्रत्याशित, ऋषिमहर्षिमहापुरुषचित्ताकर्षक निखिलसौन्दर्यमाधुर्य-रसामृतसारभूत आनन्दकन्द मदनमोहन मन्मथमन्मथरूपमें मन्द-मन्द मुसकाते हुए और मुरलीमें अपना दिव्य मोहन सुर भरते हुए सहसा प्रकट होकर अपनी प्रेमानन्दरसमाधुरी चारों ओर बिखेर देते हैं, जब अपने सौन्दर्यमाधुर्यसुधासुशीतल वदनविधुकी शुभ्र ज्योत्स्ना चारों ओर छिटका देते हैं, तब वहाँ उन भाग्यवान् दिव्य-चक्षु दिव्यभावापन्न भक्त महात्माओंके चित्तोंकी क्या अवस्था होती है, इसका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। यह अनिर्वचनीय रहस्य है।

उस समय भक्तका अपना सब कुछ उनके चरणोंमें स्वयमेव न्योछावर हो जाता है और वह आनन्दोल्लासमें मत्त होकर सारे जगत्की परवा छोड़कर पुकार उठता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घर तजौं, बन तजौं, नागर नगर तजौं,
बंसीबट-तट तजौं, काहूपै न लजिहौं।
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं,
आज राजकाज सब ऐसे साज सजिहौं॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोकौं,
बावरी कहेते मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया तजौं मैया! पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

जीना और मरना तुम्हारे ही लिये होगा, और तुम्हारे ही चरणोंमें होगा। मेरे हृदयकी यही एकमात्र कामना है। जब सब कुछ न्योछावर हो गया तो फिर मरनेके बाद शरीरके ये पाँचों भूत अलग-अलग बिखरकर भी तुम्हारी ही सेवा करेंगे।

कहीं ये पञ्चभूत जब मुझे छोड़कर अलग हों तब प्रियतमकी सेवासे हट न जायँ, इसीलिये विह्वलचित्तसे भक्त विधातासे प्रार्थना करता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

इसीका अनुवाद करते हुए एक कविने कहा है—

मरिवे डरौं न बिधिहिं बस, पंचभूत करि बास।
पी-बापी, मारग, मुकुर, बीजन, अँगन अकास॥

पाँचों तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही, हे प्रभो! आप इतना कर दीजिये कि जलका भाग उस कुएँमें जाकर मिल जाय जिसके जलको मेरे प्रियतम नहाने और पीनेके काममें लेते हों, अग्नितत्त्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस दर्पणमें जा मिले जिसमें प्रियतम अपना मुख देखते हों, पृथ्वी-तत्त्व उस मार्गमें मिल जाय जिस मार्गसे प्रियतम आते-जाते हों, वायुतत्त्व उस भाग्यवान् पंखेमें जा मिले जिससे प्रियतम हवा लेते हों और आकाशतत्त्व उस आँगनमें जाकर मिल जाय जिसमें प्रियतम बैठते हों ।

और जीव ? वह तो प्रभुके चरणोंसे कभी अलग हो ही नहीं सकता । उसको तो वे अपने हृदयमें ही छिपा रक्खेंगे ! यह है भक्तोंके 'काम'का एक छोटा-सा दृश्य ! अब उनका क्रोध देखिये ।

एक दिन श्रीकृष्णकी किसी खिझानेवाली चालसे श्रीराधाजी खीझ गयीं, सखी समझाने लगी तो वे क्रोधमें भरकर कहने लगीं—तू उनका नाम भी मेरे सामने मत ले; उनकी तो बात ही क्या है, मैं काले रंगकी चीजमात्रका त्याग कर दूँगी । जीवनभर उनके विरहतापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे मिलूँगी नहीं ।

मिलौं न तिनसों भूल, अब जौलौं जीवन जियौं ।
सहौं बिरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं ॥
मैं अब अपने मन यह ठानी । उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी ॥
कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ । मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ ॥
सुनौं न स्रवननि अलि पिक बानी । नील जलज परसौं नहि पानी॥

जरा ध्यान देकर देखिये, इस खीझमें कितनी रीझ भरी है !

एक दिन लीलामयने भक्त सखाओंके प्रणयकोपका आनन्द लूटनेके लिये खेलमें गड़बड़ मचाकर सखाओंको खिझा दिया । सखाओंने मिलकर निश्चय किया कि इस नटखटको खेलसे अलग कर दो । श्यामसुन्दरका वियोग तो क्षणभरके लिये भी सहनेको उनमेंसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक भी तैयार नहीं था, क्योंकि उसे अलग करते ही प्राण अलग हो जाते हैं; परन्तु ऊपरसे बात गाँठकर उन्होंने कहा—'कृष्ण ! तुम खुद ही गड़बड़ मचाते हो, और फिर तनकर रूठ जाते हो; हटो यहाँसे, हम तुम्हें अपने साथ नहीं खेलने देंगे।' बस, जहाँ फटकार मिली कि प्राणधन श्यामसुन्दर ढीले पड़ गये। लगे पैरों पड़ने और शपथ खा-खाकर क्षमा माँगने। सूरदासजीने गाया है—

खेलनमें को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रुसैयाँ॥
जाति पाँति हमते बड़ नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत ताते, जाते अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठ करे ता सँग को खेलै, हा हा खात परत तब पैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेल्यो ही चाहैं, दाँव दियो करि नंद दुहैयाँ॥

यह है उनका क्रोध !

अब रही मानकी बात, सो दूषणरहित मान तो इस प्रेमा-भक्तिका एक भूषण ही है। एक समय श्रीराधारानी रूठ गयीं, मान कर बैठीं और सखियोंसे बोलीं—

सखि नँदलाल न आवन पावैं।
भीतर चरन धरन जिन दीजो, चाहे जिते ललचावैं॥
ऐसनको बिस्वास कहा री कपट बैन बतियावैं।
'नारायन' इक मेरे भवन तजि अनत चहे जहँ जावैं॥

भगवान् मनाते-मनाते थक गये और शेषमें बोले—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतो श्रम नाहिंन तबहुँ भयो।
सुनु राधिका! जितो श्रम मोकों ते यह मानु दयो॥
धरनीधर विधि वेद उधारो, मधु सो सत्रु हयो।
द्विज नृप किये दुसह दुख मेटे, बलिको राज लयो॥
तोरयो धनुष सुयंबर कीनो, रावन अजित जयो।
अघ बक बच्छ अरिष्ट केसि मथि दावानल अँचयो॥
तिय वपु धरयो असुर सुर मोहे, को जग जो न द्रयो।
गुरुसुत मृतक ज्यायबे कारन सागर सोध लयो॥
जानौं नाहिं कहा या रसमें सहजहि होत नयो।
'सूरस्याम' बल तोहि मनावत मोहि सब बिसरि गयो॥

धन्य तेरा मान! बड़े-बड़े काम किये, कहीं हार नहीं मानी, कहीं थकावट नहीं प्रतीत हुई। आज तुझे मनानेमें मेरा सारा बल विला गया। यह भक्तोंकी और भगवान्‌की प्रणय-लीला है—इस लीलामें राग, काम, क्रोध, मान सभी हैं; परन्तु सभी दूसरे रूपमें हैं। सभी पवित्र प्रेमके नामान्तरमात्र हैं, यहाँका यह सर्वधर्मत्याग ही परम धर्म है। यहाँकी अविधि ही सर्वोपरि प्रेम-की विधि है।

यह तो हुई सिद्ध भक्तोंकी बात। भक्तिके साधनमें भी यदि काम, क्रोध, लोभ कभी सतावें तो उनको भगवान्‌के प्रति ही लगा देना चाहिये। जो बातें हमारे मार्गमें बाधक होती हैं, वे ही भगवान्‌के प्रति प्रयुक्त होनेपर साधक बन जाती हैं। यह निश्चय रखना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भागवतमें परमहंसश्रेष्ठ श्रीशुकदेवजीके वचन हैं—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(१०। २९। १५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, तादात्म्य एवं मित्रता, सभी कुछ जो श्रीहरिके प्रति ही करते हैं वे अवश्य ही भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाते हैं।'

तीव्र काम उसी वस्तुके लिये उत्पन्न होता है जो सबसे श्रेष्ठ हो, अखिल ऐश्वर्यमय हो, महान् माधुर्यसे पूर्ण हो, सर्वाङ्गसुन्दर हो, आनन्दमय हो; भगवान्‌में यह सब कुछ है। यह सोचकर सदा-सर्वदा एकमात्र श्रीकृष्णमिलनकी कामनासे पीड़ित रहे और यह कामवासना उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय। प्रेमभरा क्रोध इस प्रकार करे कि 'तुम बड़े निठुर हो, इतना पुकारनेपर भी नहीं आते; याद रक्खो,—अभी तो मैं पुकारता हूँ,—पीछे तुम्हें पीछे-पीछे भटकना पड़ेगा।' आठों पहर चिन्तनमें लगे रहकर प्रेमभरा मान इस प्रकार करे कि, 'मेरे पास तो अटूट चिन्तन-धन है, मैं तुम्हारी कोई गरज नहीं रखता; तुम्हें सौ बार गरज हो तो आना।' इत्यादि।

भगवान्‌के प्रति काम, क्रोध और अभिमान कैसे किया जा सकता है इसका एक और सुन्दर उदाहरण मातृपरायण शिशु है। छोटे बच्चेको आप बहुमूल्य रत्न दीजिये, उसे बढ़िया-बढ़िया चीजें खानेको दीजिये, उसका खूब सम्मान कीजिये, उसका यश गाइये,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसे स्वर्ग-मोक्ष मिलनेकी बात कहिये, वह माता और मातृस्तनोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता। चाहे क्या, वह और किसी वस्तुको जानता ही नहीं, उसके लिये जाननेकी और चाहनेकी एकमात्र वस्तु माँ है। माँके बदलेमें वह किसी वस्तुसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार भक्तकी कामना केवल भगवान्‌के लिये ही होनी चाहिये। एकमात्र भगवान् ही उसके काम्य होने चाहिये।

बच्चा कुछ बड़ा हुआ; इधर-उधर कुछ चलने लगा; चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ा, रोने लगा। बच्चेका रोना सुनकर माँ दौड़ी आयी। बच्चा खीझ गया; पड़ा स्वयं, परन्तु क्रोध उसका मातापर हुआ। वह अपनी तोतली बोलीमें बार-बार कहता है, तू मुझे अकेला छोड़ क्यों गयी ? फिर अभिमान करके रूठ जाता है। कहता है, 'जा मैं तुझसे नहीं बोलूँगा। तेरी गोदी नहीं आऊँगा।' माँ मनाती है, गोद लेना चाहती है, स्तन पिलाना चाहती है, वह रोता हुआ आगे-आगे भागता है। वह ऐसा क्यों करता है, इसीलिये कि वह स्वाभाविक ही मातापर अपना अधिकार समझता है। माताको ही अपनी सब कुछ समझता है। वह भूखा रहे तो माँका दोष, वह गिर जाय तो माँका अपराध, वह सो न सके तो माताका अपराध; और अपराधका दण्ड खीझना और रूठना—क्रोध और अभिमान ! इसी प्रकार निर्भर भक्त भी अपने भगवान्‌के प्रति काम, क्रोध और अभिमानादि कर सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमी भक्तोंकी महिमा

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम् ॥६६॥

६६—तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भंगकर नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये ।

स्वामी, सेवक और सेवा; अथवा पति, पत्नी और पतिसेवा—इन तीन-तीन रूपोंको मिटाकर नित्य दास्यभक्तिके द्वारा अथवा कान्ताभक्तिके द्वारा भगवान्से प्रेम ही करना चाहिये । दास्यभाव और कान्ताभाव इन दोनोंमें ही आगे चलकर भगवान्के साथ तन्मयता हो जाती है । निष्कामभावसे शरीर, मन, वाणी, सब कुछ स्वामीके अर्पणकर, एक अपने स्वामीको छोड़कर जगत्में दूसरे किसीको भी न जानना—यह दास्यभक्तिका आदर्श है। और पति ही मेरा तन, मन, धन, गति, मति, आश्रय, जीवन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राण, धर्म, मोक्ष और भगवान् है; एक पतिके सिवा अन्य कोई पुरुष ही जगत्में नहीं है; पतिका धन मेरा धन, पतिका तन मेरा तन, पतिका मन मेरा मन, पतिकी सेवा मेरी सेवा, पतिका ऐश्वर्य मेरा ऐश्वर्य, पतिका मान मेरा मान, पतिका अपमान मेरा अपमान, पतिके प्राण मेरे प्राण—इस प्रकार एकमात्र पतिपरायणा पतिगतप्राणा होकर निष्काम अनन्यभावसे निरन्तर सेवामें लगे रहना, यह कान्ताभक्तिका आदर्श है। वास्तवमें दोनों एक ही हैं। दोनोंमें ही समता है। दोनोंमें ही अभिन्नता है। दास्यभक्तिमें भी सेवक अपना सब कुछ भुलाकर स्वामीके नाम-गोत्रवाला बन जाता है और कान्ताभक्तिमें तो अपने नाम-गोत्रको पतिके नाम-गोत्रमें मिलानेपर ही कान्ताभावकी प्राप्ति होती है। दास्यभावके सम्बन्धमें श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

मेरे जातिपाँति न चहौं काहूकी जातिपाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोक परलोक रघुनाथहीके हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखाने नहीं बूझैं लोग,
साहहीको गोत गोत होत है गुलामको।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं जो हौं सो हौं रामको॥

स्वामी और सेवकका कुल-गोत्र एक हो गया। इस दास्य-भावकी महिमा गाती हुई भगवती श्रीराधिकाजी भक्तवर उद्धवजीसे कहती हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्णभक्तिः कृष्णदास्यं वरेषु च वरं वरम्।
श्रेष्ठा पञ्चविधामुक्तेर्हरिभक्तिर्गरीयसी ॥
ब्रह्मत्वादपि देवत्वादिन्द्रत्वादमरादपि।
अमृतात् सिद्धिलाभाच्च हरिदास्यं सुदुर्लभम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० कृ० ९७। ८-९)

'सब वरोंमें श्रेष्ठतम वर श्रीकृष्णभक्ति या श्रीकृष्णदास्य ही है। पाँच प्रकारकी श्रेष्ठ मुक्तियोंसे हरिभक्ति ही श्रेष्ठ एवं गुरुतर है। ब्रह्मत्व, देवत्व, अमरत्व, अमृतत्वप्राप्ति, सिद्धिलाभ—इन सभीसे श्रीहरिका दासत्व प्राप्त होना सुदुर्लभ है।'

कान्ताभक्तिमें तो एकात्मता है ही—

प्रीति जो मेरे पीवकी, बैठी पिंजर माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ करै, 'दादू' दूसर नाहिं ॥
प्रीतमको पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस।
तनमें, मनमें, नैनमें, ताको कहा सँदेस ॥

कान्ता और कान्त तो घुल-मिलकर एक हो जाते हैं—अतएव वहाँ त्रिरूपका भंग आप ही हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं, इस एकात्मताके आदर्शको सामने रखकर, इस भावको मनमें स्थान देकर दास्यभाव या कान्ताभावसे भगवान्‌के प्रति केवल प्रेम ही करो।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

६७—एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

इससे पूर्व सूत्रके अनुसार भक्ति करनेवाला भगवान्‌का अनन्य भक्त ही सबमें श्रेष्ठ है। क्योंकि उसका तन, मन, धन सब कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमात्मा हो जाता है। वह परमात्माका यन्त्रवत् होकर संसारमें रहता है। उसका आत्मा परमात्मासे मिल जाता है, उसका मन परमात्माके मनमें रम जाता है। उसके नेत्र सब जगह सर्वदा परमात्माको ही देखते हैं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥
'कबिरा' काजर-रेखहू, अब तो दई न जाय।
नैननि पीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौंसठ घरी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तू बसै, नींदहिं ठौर न होय॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८ ॥

६८—ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

अनन्य भक्तगण जब इकट्ठे होकर अपने प्राणस्वरूप प्रियतम-की चर्चा करते हैं तो उनका प्रेमसागर उमड़ पड़ता है। तब वे चेष्टा करनेपर भी नहीं बोल सकते; उनके कण्ठ रुक जाते हैं, शरीर पुलकित हो जाता है, रोम-रोमसे प्रेमकी किरणधाराएँ निकलकर उस स्थानमें निर्मल प्रेमज्योति फैला देती हैं। वहाँका वातावरण अत्यन्त विशुद्ध और प्रेममय हो जाता है। उस समय वे भक्तगण प्रेमविह्वल होकर आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहाते हुए परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। यह स्थिति बहुत ही दुर्लभ और परम पवित्र होती है, जिन भाग्यवानोंको यह अवस्था प्राप्त हो जाती है उन सबके कुल तो पवित्र होते ही हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगतपूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीरपरायन, जहँ नर उपज बिनीत॥

—वरं उनके अस्तित्वसे पृथ्वी भी पवित्र हो जाती है। उस समय उन पवित्र प्रेमस्वरूप भक्तके तनसे स्पर्श की हुई जरा-सी हवा जिसके शरीरको स्पर्श कर लेती है, वह भी पवित्र हो जाता है। शास्त्रमें कहा है——

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार संवित् एवं सुखके सागर परब्रह्ममें लीन हो गया है उसके जन्मसे कुल पवित्र, जननी कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'प्रेमके प्रकट हो जानेसे जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो प्रेमावेशमें बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है। ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

६९–ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्‌शास्त्र कर देते हैं।

तीर्थ पापी नर-नारियोंको निष्पाप और पवित्र करते हैं, परन्तु पापात्माओंके सतत समागमसे उनमें मलिनता आ जाती है। तीर्थोंकी वह मलिनता भक्तोंके समागमसे नष्ट होती है। दिलीप-कुमार महाराज भगीरथके घोर तपसे प्रसन्न होकर वर देनेके लिये आविर्भूत हुई भगवती श्रीगङ्गाजीने उनसे कहा—'भगीरथ! मैं पृथ्वीपर कैसे आऊँ? संसारके सारे पापी तो आ-आकर मुझमें अपने पापोंको धो डालेंगे। परन्तु उन पापियोंके अपार पाप-पङ्कको मैं कहाँ धोने जाऊँगी, इसपर आपने क्या विचार किया है?' इसके उत्तरमें भगीरथने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥
(श्रीमद्भा० ९।९।६)

'हे माता! समस्त विश्वको पवित्र करनेवाले, विषयोंके त्यागी, शान्तस्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु-महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाहमें स्नान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करेंगे तब उनके अंगके संगसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंके नाश करनेवाले श्रीहरि निवास करते हैं ।'

प्रचेतागण भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥

(श्रीमद्भा० ४ । ३० । ३७)

'आपके जो भक्तगण तीर्थोंको पवित्र करनेके लिये ही भूमिपर विचरण करते हैं उनका समागम संसारभयसे भीत पुरुषको कैसे प्रिय नहीं होगा ?'

धर्मराज युधिष्ठिर भक्तराज विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥

(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'हे प्रभो ! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं, (पापियों-द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें विराजित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं ।'

इसी प्रकार जिन शास्त्रोक्त कर्मोंको भक्तगण करने लगते हैं, वे ही सत्कर्म हो जाते हैं और वे जिस शास्त्रको आदर देते हैं, वही सत्शास्त्र माना जाता है । वरं यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि भक्त जिस जगह रहते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान करते हैं, वही तीर्थ बन जाता है; भक्त जो कुछ कर्म करते हैं, वही आदर्श सत्कर्म कहलाता है और भक्त जो कुछ उपदेश करते हैं, वही सत्शास्त्र माना जाता है । उनका निवासस्थान ही तीर्थ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके कर्म ही सत्कर्म और उनकी वाणी ही सत्शास्त्र है। तीर्थ, सत्कर्म और शास्त्रका रहस्य समझनेपर यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है।

तन्मयाः ॥ ७० ॥

७०–(क्योंकि) वे तन्मय हैं।

जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्र बन जाती है, इसी प्रकार भक्त भी अपना तन-मन-बुद्धि-अहंकार सब कुछ प्रियतम भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाता है। ऐसा भक्त साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होता है, वह जहाँ रहता है वहाँका तमाम सूक्ष्म और स्थूल वातावरण शुद्ध हो जाता है। इसीलिये उसके समागममात्रसे तीर्थ, कर्म और शास्त्र पवित्र हो जाते हैं। ऐसे ही भक्तोंके द्वारा भगवान्, भगवन्नाम, भगवद्भक्तिकी महिमा बढ़ती है और इनके समागममें आनेवाले पापी-से-पापी नर-नारी भी घोर संसार-सागरसे अनायास ही तर जाते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ ७१ ॥

७१–(ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

भक्तोंका आविर्भाव सभीके लिये शुभ होता है, क्योंकि उनके सभी कर्म स्वाभाविक ही लोककल्याणकारी होते हैं। उनके प्रभावसे लोगोंमें धर्मके प्रति श्रद्धा बढ़ती है, पितृकार्य और देव-कार्योंमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इससे धर्मपथसे डिगे हुए लोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुनः धर्ममार्गपर आरूढ़ होकर यज्ञ, दान, श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करने लगते हैं जिससे देवता और पितरोंको बड़ा सुख मिलता है। भक्तिके प्रतापसे भक्तके आगे-पीछेके कई कुल तर जाते हैं, इसलिये अपने कुलमें भक्तको उत्पन्न हुआ देखकर पितरगण अपनी मुक्तिकी दृढ़ आशासे हर्षोत्फुल्ल हो जाते हैं। पद्मपुराणमें कहा है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

'पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्तका जन्म हुआ जानकर—यह हमारा उद्धार कर देगा, इस आशासे प्रसन्न होकर नाचने और ताल ठोकने लगते हैं।'

मचले हुए दर्शनाकांक्षी भक्त किसी भी बातसे सन्तुष्ट नहीं होते, अतः स्नेहमयी जननीकी भाँति उन्हें अपनी गोदमें खिलाकर सुखी करनेके लिये सच्चिदानन्दघन भगवान् दिव्य रूपमें साक्षात् प्रकट होते हैं। उनके प्रकट होते ही देवताओंका अहित करनेवाले असुरोंका विनाश आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भक्तके आविर्भावको ही भगवान्के प्राकट्यमें कारण समझकर देवतागण भी नाचने लगते हैं। जबतक भगवान् या भगवान्के प्यारे धर्मात्मा भक्तोंका आविर्भाव नहीं होता तबतक पृथ्वीदेवी अनाथा रहती हैं। और जब भक्त प्रकट होते हैं तब बछड़ेके पीछे स्नेहवश दौड़नेवाली गौकी तरह भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं, अतएव भक्तके आविर्भावसे ही पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि-भेदः॥ ७२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[library stamp]

७२—उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

सूत्रकार यहाँ यह समझाते हैं कि भक्तिमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिकी प्रधानता नहीं है। ब्राह्मण हो या शूद्र, पढ़ा-लिखा हो या वेपढ़ा-लिखा, सुन्दर हो या कुरूप, ऊँचे कुलका हो या नीच कुलका, धनवान् हो या दरिद्र और बहुत क्रियाशील हो या अक्रिय। जो अपना सर्वस्व प्रभुपर न्योछावरकर सतत उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करनेमें अपने चित्तको तल्लीन कर देता है, उसीको भक्तिरूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है। निषादका जन्म नीच जातिमें हुआ था, सजन कसाई थे, शबरी गँवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ़ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपीजन क्रियाहीन थीं, परन्तु इन सबने भक्ति और प्रपत्तिके प्रतापसे भगवान्का प्रेम प्राप्त किया और भगवान्के परमप्रिय हो गये। सर्व सत्कर्मोंकी फलरूपा भक्ति जिसके हृदयमें है, वही भक्त है, वही सर्वगुणसम्पन्न है, फिर चाहे वह कोई हो। यही बात श्रीरामचरितमानसमें कही गयी है—

सोइ सरवग्य गुनी सोइ दाता। सोइ महिमंडित पंडित ग्याता॥
धरमपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जेहिकर मन राता॥
नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धान्त नीक तेहि जाना॥
सोइ कोबिद सोई रनधीरा। जो छलु छाड़ि भजइ रघुबीरा॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसे। बिनु जल बारिद देखिअ जैसे॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्त अपनेको सबसे ऊँचा और सर्वगुणसम्पन्न समझकर सबसे अपनी पूजा कराता है या समाज, जाति, वर्ण और आश्रममें बड़ोंके साथ खानपान, विवाह, व्यवहार, रहन-सहन, आचार-विचार और कुलपरम्परा आदिमें अपने लिये समान अधिकारका दावा करता है। भक्त तो अभिमानका सर्वथा त्यागी है, फिर वह नया झूठा अभिमान लादकर ऐसा क्यों करने लगा? जो ऐसा करते हैं वे भक्त नहीं हैं। वर्णाश्रम तथा भक्तिमें भेद है। जो भक्तिके नामपर वर्णाश्रमकी मर्यादा नाश करना चाहते हैं, वे तो भक्तिपर लञ्छन लगाते हैं। अतएव भक्तिमार्गपर चलनेवाले साधकोंको शास्त्रत्यागकी कभी भावना ही नहीं करनी चाहिये। यह सत्य है कि प्रारब्धमें न होनेसे विद्या और धन नहीं मिल सकता, और न इस जन्ममें रूप, जाति तथा कुल ही बदल सकते हैं। परन्तु इन सब वस्तुओंके होने-न-होनेसे अथवा कम-ज्यादा होनेसे भक्तमें ऊँचा-नीचा भाव नहीं करना चाहिये—भक्तिके नाते जातिभेद आदिके कारण भक्तको नीचा कदापि नहीं समझना चाहिये। वैष्णवशास्त्रोंमें इसीलिये भक्तोंमें जातिभेदबुद्धिको एक अपराध बतलाया है।*

---

* वैष्णवग्रन्थोंमें निम्नलिखित ६४ अपराध बतलाये गये हैं। इनपर ध्यान रखकर चलनेसे बहुत लाभ हो सकता है। १ श्रीभगवान्‌को कोई देवता या तत्त्वविशेष मानना, २ वेदोंमें ग्रन्थ या पौरुषेयबुद्धि, ३ भक्तोंमें जातिभेदबुद्धि, ४ गुरुको साधारण मनुष्य समझना, ५ भगवान्‌की प्रतिमाको काठ, पत्थर, धातु, कागज या मिट्टी समझना, ६ भगवान्‌के प्रसादको साधारण खानेकी चीज समझना, ७ भगवान्‌के चरणोदकको साधारण जल समझना, ८ तुलसीको साधारण वृक्ष समझना, ९ गौको साधारण पशु समझना, १० भागवत और गीताको साधारण पुस्तक समझना, ११ भगवान्‌की लीलाओंको मनुष्यकी की हुई मानना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

१२ सांसारिक प्रेम या स्त्रीसुखके साथ भगवान्‌की लीलाकी तुलना करना, १३ गोपियोंको (भगवान्‌के लिये) परनारी समझना, १४ रासलीलाको कामचेष्टा समझना, १५ भगवान्‌के महोत्सवके समय स्पर्शास्पर्शबुद्धि रखना, १६ ईश्वर और शास्त्रोंको न मानकर नास्तिक हो जाना, १७ सन्देहपूर्वक धर्मका आचरण करना, १८ धर्मके पालनमें आलस्य करना, १९ भक्तोंको बाहरी बातोंपर कसना, २० साधु-महात्माओंके गुण-दोषोंकी आलोचना करना, २१ अपनेको उत्तम समझना, २२ किसी भी देवता या किसी भी शास्त्रकी निन्दा करना, २३ भगवान्‌की मूर्तिके सामने पीठ देकर बैठना, २४ भगवान्‌की मूर्तिके सामने जूते पहनकर जाना, २५ भगवान्‌की मूर्तिके सामने माला धारण करना, २६ भगवान्‌की मूर्तिके सामने छड़ी लेकर जाना, २७ भगवान्‌की मूर्तिके सामने नीले कपड़े पहनकर जाना, २८ दाँतन-कुल्ला किये बिना जाना, २९ मलत्याग या मैथुनादिके बाद कपड़े बदले बिना मन्दिरमें प्रवेश करना, ३० भगवान्‌की मूर्तिके सामने हाथ-पैर फैलाना, ३१ भगवान्‌की मूर्तिके सामने पान खाना, ३२ भगवान्‌की मूर्तिके सामने जोरसे हँसना, ३३ कुचेष्टा करना, ३४ स्त्रियोंके चारों ओर घूमना, ३५ क्रोध करना, ३६ भगवान्‌की मूर्तिके सामने किसी दूसरेका अभिवादन करना, ३७ दुर्गन्धवाली कोई चीज खाकर दुर्गन्ध दूर हुए पहले मन्दिरमें जाना, ३८ मादक द्रव्य सेवन करना, ३९ किसीको अपमानित करना या मारना, ४० काम-क्रोधादिकी चेष्टा करना, ४१ अतिथि या साधुकी आवभगत न करना, ४२ अपनेको भक्त, धर्मात्मा, पण्डित या पुण्यात्मा समझना, ४३ नास्तिक, व्यभिचारी, हिंसक, लोभी और झूठ बोलनेवाले मनुष्योंका सङ्ग करना, ४४ विपत्तिमें ईश्वरपर दोष लगाना, ४५ पापके लिये धर्म करना, ४६ किसीको किञ्चित्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७३– क्योंकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

भक्त अपनी भक्तिके प्रभावसे भगवद्रूप ही हो जाते हैं, इसीलिये उनमें परस्पर भेदबुद्धि नहीं होती और उनमें कोई अपनेको किसी भी हेतुसे ऊँचा नहीं समझता।

भी कष्ट देकर अपनेको धार्मिक समझना, ४७ स्त्री, पुत्र, परिवार, आश्रित, दीन और साधुका पालन-पोषण न करना, ४८ किसी वस्तुको अपनी भोग्य समझकर भगवान्‌के निवेदन करना या बिना निवेदन किये भोगना, ४९ अपने इष्टदेवके नामकी शपथ करना, ५० धर्म और भगवान्‌के नामको बेचकर धन कमाना, ५१ अपने इष्टदेवको छोड़कर दूसरेसे आशा करना, ५२ शास्त्रोंकी मर्यादाको तोड़ना, ५३ ब्रह्मज्ञान न होनेपर भी ब्रह्मज्ञानीके समान आचरण करना, ५४ सम्प्रदायभेदसे वैष्णवोंमें किसीको ऊँचा-नीचा समझना, ५५ देवताके समान आचरण करना, ५६ अवतारोंकी लीलाओंमें तारतम्य देकर उनकी निन्दा करना, ५७ दिल्लगीमें भी किसीको 'आप ही भगवान् हैं' ऐसा कहना, ५८ भगवान् किसीके मुखापेक्षी हैं, भूलकर भी ऐसा समझना, ५९ लोभवश किसीको भगवत्प्रसाद या चरणोदक देना, ६० भगवान्‌के चित्र, प्रतिमा या नामका अपमान करना, ६१ किसी भी जीवको किसी प्रकारसे कष्ट पहुँचाना, भय दिखलाना या किसीका अहित करना, ६२ तर्कवितर्कमें हार जाने या सिद्धान्त स्थापित न कर सकनेपर आस्तिकताको त्याग देना, ६३ भगवान्‌के अवतारोंके जन्म-कर्मोंको साधारण समझना, ६४ भगवान्‌के युगलरूपमें द्वैतबुद्धि करना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद-विवादरूपी विघ्न

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

७४–(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये ।

भक्तिके साधकोंके लिये यह सूत्र बड़े ही महत्त्वका है। भक्तको तर्क-वितर्कमें पड़नेकी कोई भी आवश्यकता नहीं । यह समझना चाहिये कि मेरा तो हरेक क्षण अपने प्रियतम भगवान्‌के भजनके लिये समर्पण हो चुका, उसे दूसरे काममें लगानेका अधिकार ही नहीं है । फिर वह तर्क-वितर्क करे भी किस बातकी ? सृष्टि कब हुई, कैसे हुई, क्यों हुई, इसका मूल तत्त्व क्या है, इन सब बातोंको जाननेकी उसे जरूरत नहीं । उसने तो श्रीभगवान्‌को ही सब कुछ मान-जानकर अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया है । भगवान् अपना तत्त्व जब चाहेंगे, आप ही समझा देंगे । कब समझावेंगे, समझावेंगे या नहीं समझावेंगे, इस बातकी भी उसे कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये । अपने प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुके चिन्तनकी उसके मनमें गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिये । और यह भी निश्चित है कि तर्कसे तत्त्वकी उपलब्धि भी नहीं होती । इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें कहा है—'तर्काप्रतिष्ठानात्' (२ । ११)—'तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है ।' कठोपनिषद्‌में कहा गया है—'नैषा तर्केण मति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रापनेया' (१ । २ । ९) । 'बुद्धिके तर्कसे उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती ।' वह सत्य तत्त्व तो शुद्धचित्त सात्त्विक पुरुषके सामने स्वयमेव आविर्भूत होता है । किसी अंशमें यह भी सत्य है कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', परन्तु वह वाद दूसरा होता है । श्रद्धालु शिष्य जिज्ञासाभावसे गुरुके सामने तर्क उपस्थित करता है और गुरु उसकी शङ्काका निवारण कर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझाते हैं । ऐसा वाद दूषित नहीं है। परन्तु जो वाद आग्रहपूर्वक होता है वह तो बुरा ही फल उत्पन्न करता है और वादमें अपने मतका आग्रह हो ही जाता है। फिर सिद्धान्तका लक्ष्य छूट जाता है और व्यक्तिगत दोषनिरीक्षण, दोषारोपण और परस्पर गालीगलौज होने लगता है । विवेक नष्ट हो जाता है, क्रोध छा जाता है, वाणी वेकाबू हो जाती है और सदाके लिये वैर बँध जाता है । इसीलिये 'वादे वादे वर्द्धते वैरवह्निः'—'वाद-विवादसे वैरकी आग भड़क उठती है,' कहा जाता है । भक्तिके पथिकको तो इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये जिसमें वह वाद-विवाद कर सके । जहाँतक हो सके उसे तर्कके स्थानसे अलग ही रहना चाहिये । यदि प्रारब्धवश कभी तर्कवादियोंसे समागम हो जाय तो उसे विनीतभाव धारणकर उनकी बात सुन लेनी चाहिये और बदलेमें कोई उत्तर देकर बात बढ़ानी नहीं चाहिये । 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'—'जब आगमें ईंधन नहीं पड़ेगा तो वह आप ही बुझ जायगी'—कहनेवाले स्वयं ही थक जायँगे । अतएव भक्तके लिये सबसे भली चुप है । 'मौनं सर्वार्थसाधनम्'—यह वाक्य याद रखना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरेकी ऐसी बात सुने ही नहीं जिससे अपने इष्टमें, पथमें, विश्वासमें और साधनमें संशय हो जाय; और स्वयं किसीका जी दुखे, ऐसी कोई बात किसीसे कहे नहीं। दूसरेकी बात मौके-बेमौके सुननी पड़े तो उसे सुन ले; परन्तु स्वयं तो तर्ककी इच्छासे, दूसरेको दबानेके लिये, अपना मत स्थापन करनेके लिये विवादमें उतरे ही नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि श्रद्धाके साथ पूछनेवालेको कुछ न कहे, या मौका पड़नेपर बिना पूछे भी हितकी बात न कहे। मतलब तो यह है कि विवादमें न उतरे। अनावश्यक बोले ही नहीं, जब बिना बोले काम न चले तब आवश्यक समझकर इतना ही बोले जितनेसे काम चल जाय। बात बढ़ाकर न कहे, विवादके भावसे न कहे, किसीका विरोध न करे, किसीकी दिल्लगी न करे, किसीका दोष न बतावे, किसीके हृदयपर चोट न करे, अपनी या अपने मतकी बड़ाई न करे, किसीकी निन्दा न करे, कड़ुआ न बोले, बोलनेमें आशा या कामनाका भाव न रक्खे, जबानसे किसीको धोखा न दे, किसीके विश्वासमें शङ्का न पैदा करे। जो कुछ बोले सत्य, मधुर, प्रिय, अनुद्वेगकर और हितकर शब्द ही बोले; शेष समय भगवन्नाम-स्मरणमें लगा रहे। अनावश्यक एक शब्द बोलनेमें भी बड़ी हानि समझे, क्योंकि उतना समय व्यर्थ गया। उतने समयके लिये जीभसे नामजप छूट गया और अनावश्यक शब्दका वातावरणमें जो असर हुआ, वह अलग। यह निश्चय रक्खे कि तर्क और वाद-विवादसे कभी भगवत्प्रेम, ज्ञान या भगवान्‌की प्राप्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होती। तर्कसे तो अहङ्कार, द्वेष, क्रोध, हिंसा और वैरकी ही जमात इकट्ठी होती है। अतएव वाद-विवादसे सदा अलग रहे।

अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहि भजहिं तरक सब त्यागी॥
अस बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजिअ राम रनधीर, करुनाकर सुंदर सुखद॥

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥ ७५ ॥

७५—क्योंकि (वाद-विवादमें) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

सूत्रकार कारण दिखाते हुए कहते हैं कि वाद-विवादमें उत्तर-प्रत्युत्तर होता है और वह बढ़ता ही जाता है। दोनों ओरसे अपने-अपने मतका समर्थन करनेमें शब्दोंकी झड़ी लग जाती है। जो बात भगवत्कृपासे ही जानी जा सकती है, वह तर्कसे मिल तो सकती ही नहीं। अतएव तर्क-वितर्कका कोई सुफल भी नहीं होता। यदि विवादमें बोलते-बोलते थक जाने या समयपर तर्क याद न आनेसे किसी पक्षकी जीत हो जाती है तो वह भी सिद्धान्त नहीं माना जाता; क्योंकि वह सिद्धान्त है ही नहीं। अतएव विवादमें समय नष्ट न कर भक्तको सब प्रकारसे अपने भगवान्पर निर्भर रहते हुए निरन्तर निष्कपट और निष्काम भावसे परम श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करना चाहिये। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति तर्कसे नहीं होती, भक्तिसे ही होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिके प्रधान सहायक

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥७६॥

७६–(उस प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो।

भक्ति चाहनेवालोंको न कोई ग्रन्थ देखना चाहिये और न कोई कर्म करना चाहिये, ऐसी बात नहीं है। उनको तर्क-वितर्कका त्याग करके बार-बार ऐसे ग्रन्थोंको अवश्य देखना चाहिये जिनमें भगवान्‌की भक्तिका निरूपण हो, भक्तिका माहात्म्य हो, भक्तिके साधन बतलाये गये हों, भगवान्‌के प्यारे भक्तोंके पुण्यचरित्रोंकी कथाएँ हों, और भक्तिके वशमें होकर रहनेवाले भगवान्‌के प्रभाव, रहस्य और गुणोंका वर्णन हो। ऐसे भक्तिशास्त्रोंके अध्ययनसे, महात्मा भक्त सन्तोंकी वाणियोंके श्रवण और पठनसे भगवान्‌के प्रति प्रेमाभक्तिका उदय होता है। हाँ, भक्ति चाहनेवाले पुरुषोंको ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़नी-सुननी चाहिये जिनमें श्रीभगवान्‌का और भक्तिका खण्डन हो, उनका महत्त्व कम बतलाया गया हो और भक्तोंकी निन्दा हो, अथवा जिनमें लौकिक विषयोंकी महत्ताका ही वर्णन हो। ऐसी पुस्तकें भी उन्हें लाभदायक नहीं होतीं जिनमें भगवान्, भक्ति और भक्तोंका महत्त्व न हो। इसके सिवा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग-द्वेष, काम-क्रोध और वैर-विरोध उत्पन्न करनेवाला साहित्य तो छूना भी नहीं चाहिये। इसीलिये ऐसा कहा गया है कि—

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

'जिस शास्त्र या पुराणमें भगवान्की भक्ति न दिखलायी दे, ब्रह्माके द्वारा कहा हुआ होनेपर भी उसको नहीं सुनना चाहिये।'

साथ ही कर्म भी ऐसे करने चाहिये, जिनसे भक्तिकी जागृति और वृद्धि हो। भक्तिकामी पुरुषको निषिद्ध (पाप) कर्मोंका तो बिल्कुल ही त्याग कर देना चाहिये। जो विषयोंकी आसक्तिवश पापकर्मोंको नहीं छोड़ना चाहता और भक्त भी कहलाना चाहता है वह या तो स्वयं भ्रममें है या जान-बूझकर भ्रम फैलाना चाहता है।

भक्तिकी प्राप्तिमें सहायक कर्मोंमें प्रधान निम्नलिखित हैं—

१—अपने वर्ण और आश्रमके धर्मोंका यथासम्भव पूरा पालन। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके लिये त्यागपूर्ण आचरण और गृहस्थके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ माता-पिता, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि आश्रित जनोंका प्रेम और सत्कारपूर्वक पालन, न्याय और सत्यपूर्वक जीविकानिर्वाह एवं शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप आदि।

२—सदाचारका पालन।

३—सत्संग और भगवद्गुणानुवादका श्रवण, चिन्तन और कीर्तन।

४—भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५—भगवत्-पूजन, स्तुति-प्रार्थना और नमस्कार।

६—सन्त-भक्तोंकी सेवा और श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन।

७—तीर्थसेवन।

८—दीन प्राणियोंपर दया और यथासाध्य तन-मन-धनसे उनकी सेवा।

९—सब कर्मोंको भगवान्‌के प्रति अर्पण।

१०—सब प्राणियोंमें भगवान्‌को देखनेका अभ्यास।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ११। १९। २०—२४)

'मेरी अमृतके समान कल्याणमयी कथामें श्रद्धा, निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें पूर्ण निष्ठा, स्तोत्रोंके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा मेरी स्तुति, मेरी सेवामें निरन्तर आदर, सब अंगोंसे मुझको नमस्कार, मेरे भक्तोंका विशेषरूपसे पूजन, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये ही सारे लौकिक कर्म करना, बातचीतमें केवल मेरे ही गुणोंकी चर्चा करना, मनको मुझमें ही अर्पण कर देना, समस्त कामनाओंको छोड़ देना, मेरे लिये धन, भोग और सुखोंको त्याग देना और मेरे ही लिये यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रतादि शास्त्रोक्त कर्मोंको करना। हे उद्धव! आत्मनिवेदनपूर्वक इन धर्मोंके द्वारा मेरी उपासना करनेसे मनुष्योंको मेरी प्रेमरूपी भक्ति प्राप्त होती है। फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता।'

प्रबुद्धनामक योगीश्वरने महाराजा निमिसे प्रेमरूपा भक्तिकी प्राप्तिके साधन इस प्रकार बतलाये हैं—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान्धर्माञ्छिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २१—३१)

'जिसको अपना परम कल्याण जाननेकी इच्छा हो, उसे वेदके ज्ञाता और परब्रह्ममें स्थित शान्तस्वरूप गुरुकी शरण जाना चाहिये । और गुरुको ही आत्मा एवं इष्टदेव समझकर निष्कपट-भावसे उनकी सेवा करके उन भागवत धर्मोंको सीखना चाहिये जिनसे अपने आपको दे डालनेवाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं । मनसे सब विषय-भोगोंमें वैराग्य, साधु-महात्माओंका सङ्ग, सब प्राणियोंके प्रति यथायोग्य (दीनोंके प्रति) दया, (समान अवस्थावालोंसे) मित्रता और (बड़ोंके प्रति) विनयका व्यवहार, तन-मन-धनसे पवित्र रहना, कष्ट सहकर भी अपने वर्णाश्रमधर्म-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का पालनरूपी तप करना, शीत, उष्ण आदिको सहना, व्यर्थ बातचीतका त्याग या भगवान्‌का मनन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभाव, सर्वत्र सब जीवोंमें अपने आपको तथा ईश्वरको देखना, एकान्तमें रहना, घर आदिको भगवान्‌का मानना, शुद्ध साधारण वस्त्र पहनना, जो कुछ भी मिले उसीमें सन्तोष मानना, भगवान्‌का गुण गानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, दूसरे शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कर्मोंका संयम, सत्यभाषण, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना, अद्भुत लीला करनेवाले श्रीहरिके जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना, भगवान्‌के लिये ही सब विहित कर्म करना, यज्ञ, दान, तप, जप आदि सदाचार, अपने प्रिय लगनेवाले सब पदार्थ और स्त्री, पुत्र, घर तथा प्राणोंको भी परमात्माके अर्पण कर देना, और इस प्रकार भगवान् ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं ऐसे भक्तोंसे मित्रता करना, जड-चेतन जीवोंकी, मनुष्योंकी और उनमें भी साधुस्वभाववाले महापुरुषोंकी विशेषरूपसे सेवा करना, परस्परमें भगवान्‌के पवित्र यशका कथन करना और इस भगवद्‌गुणगानके द्वारा ही परस्पर प्रीति, तुष्टि और दुःखोंकी निवृत्ति करना—ये सब साधन सद्‌गुरुके समीप रहकर सीखने चाहिये। इस प्रकार वर्ताव करनेवाले और पाप-समूहके नाशक श्रीहरिका स्वयं स्मरण करने और दूसरोंसे कराने-वाले भक्तोंके हृदयमें इस साधनरूपा भक्तिके द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाती है और उनका शरीर पुलकित हो जाता है, वह फिर प्रेममग्न हो जाते हैं।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामायण आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थोंके श्रवण-पठनसे तथा उपर्युक्त प्रकारसे सत्संग, नाम-जप, नाम-कीर्तनादि भक्तिवर्धक सत्कार्योंके भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है। भक्तको सदा साधुस्वभाव और सत्कार्योंमें ही रत होना चाहिये, तभी उनकी भक्ति बढ़ती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्यारे भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। १३--२०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'जो किसी भी जीवसे द्वेष नहीं रखता, जो सबका मित्र और दयालु है, जो ममता और अहङ्कारसे रहित, सुख-दु:खोंकी प्राप्तिमें समभाववाला और क्षमाशील है, जिसका चित्त निरन्तर मुझमें लगा है, जो सदा सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंको जीते हुए है, मुझमें दृढ़निश्चयी है, और जिसने अपने मन-बुद्धिको मुझे सौंप रक्खा है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जिससे किसी जीवको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं किसीसे उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगोंसे छूटा हुआ है वह भक्त मुझको प्रिय है।

जिसको किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, जो शुद्ध, चतुर और उदासीन है, जो दु:खोंसे मुक्त है और 'मैं करनेवाला हूँ' इस अभिमानसे किसी कार्यका आरम्भ नहीं करता (सब कुछ भगवान्‌का ही किया मानता है) वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कुछ चाहता ही है, जो शुभ और अशुभ किसी भी कर्मको आसक्ति और फलकी इच्छासे नहीं करता वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु-मित्रमें, मान-अपमानमें और सर्दी-गर्मी तथा सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें समान भाव रखता है, जिसकी (मुझको छोड़कर) किसी भी पदार्थमें आसक्ति नहीं है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझता है, जो चित्त तथा वाणीसे केवल मेरा ही मनन और कथन करता है और जो किसी भी प्रकार जीवननिर्वाह होनेमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्तोष रखता है, जिसका अपना कोई घर नहीं है अर्थात् जो घरमें ममत्वरहित है या जो घर-द्वार सबको भगवान्के मान चुका है वह स्थिरबुद्धि भक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो श्रद्धावान् पुरुष मेरे ही परायण होकर उपर्युक्त धर्ममय अमृतका भलीभाँति सेवन करते हैं वे भक्त तो मुझको अत्यन्त ही प्रिय हैं।

श्रीभगवान्के बतलाये हुए ये लक्षण सिद्ध भक्तोंमें तो स्वाभाविक होते हैं और भक्तिके साधकोंको इन्हें अपना आदर्श मानकर इनके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस प्रकार भक्तिशास्त्रके अध्ययन-मननसे तथा भक्तिको बढ़ानेवाले साधनोंमें लगे रहनेसे भक्तको योगिजनदुर्लभ प्रेमरूपा भक्तिकी प्राप्ति होती है।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

७७-सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका (पूर्ण) त्याग हो जाय ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिकी सिद्धि होनेपर सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि सारे द्वन्द्व स्वयमेव मिट जाते हैं और फिर किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रहती। परन्तु ऐसे शुभ समयकी केवल बाट ही देखी जाय और साधन कुछ भी न किया जाय तो वर्तमान हीन दशाका विनाश होकर अचानक वैसी शुभ दशा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने-आप प्राप्त होगी ही कैसे ? फिर, मनुष्यके जीवनका एक क्षणका भी पता नहीं है, न माळूम किस पलमें प्रलय हो जाय, कब मृत्यु आ जाय; इसलिये 'अमुक स्थिति हो जानेपर भगवान्का भजन करूँगा' ऐसी धारणाको छोड़ देना चाहिये और अभी जो जिस अवस्थामें है, उसे इसी अवस्थामें भगवान्की कृपाका आश्रय करके साधना आरम्भ कर देनी चाहिये । आधे क्षणके लिये भी विलम्ब नहीं करना चाहिये । कबीरजी कहते हैं—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी, फेरि करैगा कब ॥

पलक मारते-मारते मृत्युके ग्रास बन जाओगे, फिर कब करोगे । यह मत समझो कि 'अभी छोटी उम्र है, खेलने-खाने और विषय भोगनेका समय है; बड़े-बूढ़े होनेपर भजन करेंगे ।' कौन कह सकता है कि तुम बड़े-बूढ़े होनेसे पहले ही नहीं मर जाओगे। मौतकी नंगी तलवार तो सदा ही सिरपर झूल रही है । इसपर एक दृष्टान्त है । एक भ्रमर था, वह कमलके अन्दर बैठा कमल-का रस पी रहा था और उसकी सुगन्धसे मस्त हो रहा था; इतनेमें सन्ध्या हो आयी । सूर्यके छिपते ही कमल सङ्कुचित हो जाता है; अतएव कमल बन्द हो गया और मोटे-मोटे शाल और सीसमके पेड़ोंको छेद डालनेकी ताकत रखनेवाला भ्रमर विषयासक्तिके कारण उसके अन्दर ही रह गया, और विचार करने लगा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रात बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, सूर्य उदय होंगे और जब उनकी किरणोंके पड़ते ही कमल फिर खिल जायगा तब मैं इसमेंसे निकल जाऊँगा। इतने आनन्दसे मकरन्दरसका आस्वादन करता रहूँ।' वह यों विचार कर ही रहा था कि इतनेमें एक मतवाले हाथीने आकर कमलको उखाड़कर मुँहमें डाल लिया और कमलके साथ ही भौंरा भी हाथीके दाँतोंमें पिस गया। उसके मनका मनोरथ मनहीमें रह गया। अतएव इन विचारोंको तो छोड़ ही देना चाहिये कि अमुक काम होनेपर भजन करेंगे। प्रथम तो मनमानी कामनाओंकी पूर्ति होती ही नहीं और यदि होती है तो एक कामनाकी पूर्ति अनेकों नये-नये अभावोंको साथ लेकर आती है, फिर उनकी पूर्तिके प्रयत्नमें लग जाना पड़ता है। अपूर्ण और अभावमय क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंसे कभी पूर्ण तृप्ति हो हीं नहीं सकती। कितनी ही प्राप्ति हो जाय, रहेगा अभाव ही, और अभावके दुःखसे जलते हुए ही विषयकामी मनुष्यको मर जाना पड़ेगा। इसलिये विषयोंकी पूर्ण प्राप्ति और विषयोंके भोगसे पूर्ण तृप्ति हो जाय ऐसे समयकी आशा छोड़कर पहलेसे ही भजनमें लग जाना चाहिये।

इसके सिवा एक बात और विचारणीय है कि आज अच्छे संगसे हमारे मनमें भगवान्‌को या भगवान्‌की भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है, और हमने क्षणभरके लिये अपने जीवनका ध्येय भगवत्प्राप्ति माना है; परन्तु हम विचार करते हैं कि अमुक स्थिति हो जानेपर इस ध्येयकी प्राप्तिके लिये साधन किया जायगा। क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारा यह विचार धोखेका नहीं है ? प्रथम तो यही निश्चय नहीं कि अमुक स्थिति प्राप्त हो, और फिर यह कौन कह सकता है कि तबतक हमारा ध्येय नहीं बदल जायगा। परन्तु यदि आज हम अपने ध्येय भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाते हैं तो साधनमार्गमें ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेंगे त्यों-त्यों हमारा उसमें विशेष अनुराग होगा, लाभ भी प्रतीत होगा और अभ्यास भी दृढ़ होता जायगा। इसके विपरीत यदि हम केवल ध्येयमात्र मानकर ही चुप रह जाते हैं तो दूसरे ही क्षण, दूसरा संग मिलनेपर हमारा यह ध्येय बदल जायगा। इसलिये कालकी प्रतीक्षा न कर अभीसे भजन-साधन आरम्भ कर देना चाहिये। सत्संगसे प्राप्त सदिच्छाके सुअवसरको खो नहीं देना चाहिये। स्वास्थ्य भी सदा अच्छा रहेगा, यह भी निश्चय नहीं है। जबतक स्वास्थ्य ठीक है तभीतक साधन-भजन होता है। स्वास्थ्य बिगड़ जानेपर, इन्द्रियोंके अशक्त हो जानेपर और बुढ़ापा आ जानेपर, यदि पहले पूरा अभ्यास नहीं किया गया है तो भजनमें मन ही नहीं लगेगा। महाराजा भर्तृहरिने इसीलिये कहा है--

> यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥
>
> (वैराग्यशतक)

'जबतक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आया है, इन्द्रियोंकी शक्ति पूरी बनी हुई है, आयुके दिन शेष हैं, तभीतक बुद्धिमान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरुषको अपने कल्याणके लिये अच्छी तरह यत्न कर लेना चाहिये। घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेसे क्या होगा ?'

इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के शरण होकर पुकारा करते हैं—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः ।
लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥

'आयु प्रतिदिन देखते-देखते नष्ट हो रही है, जवानी बीती जा रही है, गये हुए दिन लौटकर नहीं आते, काल जगत्‌को खा रहा है, लक्ष्मी जलके तरंगकी भाँति चञ्चल है और जीवन तो बिजलीकी चमकके समान अस्थिर है; अतएव हे शरण देनेवाले प्रभु ! मुझ शरणागतकी तुम अभी रक्षा करो ।'

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

'हे कृष्ण ! तुम्हारे पदकमलरूपी पिंजरेमें मेरा यह मनरूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय । प्राण निकलनेके समय जब कफ, वायु और पित्तके बढ़नेपर कण्ठ रुक जायगा उस समय तुम्हारा स्मरण कहाँसे होगा ?'

अतएव जरा-सा भी समय भगवान्‌के भजनके बिना नहीं बिताना चाहिये । जो समय भगवद्भजनमें जाता है वही सार्थक

 Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, शेष सब व्यर्थ हैं। समयका मूल्य समझकर एक-एक साँसको खूब सावधानीके साथ कंजूसके परिमित पैसोंकी भाँति केवल भगवच्चिन्तनमें ही लगाना उचित है। भजनहीन काल ही वास्तवमें हमारे लिये भयङ्कर काल है ? वही सबसे बड़ी विपत्ति है।

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई॥

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत्॥

'जो घड़ी या एक क्षण भी श्रीभगवान्‌के कीर्तन बिना बीत गया उसीको सबसे बड़ा नुकसान, अज्ञान और मोह जानना चाहिये।'

भगवान्‌के भजनके लिये किसी भी सुभीतेके समयकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। नहीं तो हमारा अमूल्य मनुष्यजीवन ही वृथा नष्ट हो जायगा। भगवान्‌का भजन ही मनुष्यजीवनका सर्वोत्तम और आदरणीय कर्म है। भजन करते-करते भगवान्‌की कृपासे एक दिन हमारे सारे सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका अपने आप ही नाश हो जायगा, और भगवत्प्रेमकी निर्मल ज्योतिसे हमारा हृदय जगमगा उठेगा; सब दिशाएँ और सारा ब्रह्माण्ड उस निर्मल शीतल स्निग्ध ज्योतिसे भर जायगा, और तब हमारे आनन्दकी कोई सीमा नहीं रहेगी।

वस्तुतः भक्तका काम तो यह सोचना भी नहीं है कि भजनका क्या परिणाम होगा; उसका काम तो केवल प्रेमपूर्वक भजन ही करना है। प्रेमके लिये ही प्रेम करना है, भजनके लिये ही भजन करना है। भजन करना उसका स्वभाव ही बन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाता है, भजन विना उससे रहा ही नहीं जाता। वह सब कुछ सह सकता है, किन्तु भजनका वियोग उसके लिये असह्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

'यदि भगवान्के भक्तसे कहा जाय कि तुम आधे क्षण या आधे निमेषके लिये भी भगवच्चरणोंका चिन्तन छोड़ दो और त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभवको ले लो, तो वह इस बातको स्वीकार नहीं करता। उसका चित्तरूपी भ्रमर तो अचञ्चलरूपसे भगवान्के उन चारु चरणकमलोंमें ही लगा रहता है, जिनको निरन्तर ध्यानपूर्वक खोजनेपर भी देवता नहीं पा सकते। ऐसा वह भक्त कुछ भी नहीं चाहता।' वह बार-बार कातर कण्ठसे यही कहता है कि मुझे न मोक्ष चाहिये, न ज्ञान चाहिये, न वैभव चाहिये, न ऋद्धि-सिद्धि चाहिये और न महान् कीर्ति ही चाहिये। किसी भी योनिमें जाना पड़े, कुछ भी हो, इसकी भी तनिक-सी चिन्ता नहीं। बस, हे मेरे प्रियतम! तुम्हारे चरणोंमें मेरा प्रेम, विना किसी हेतुका प्रेम, पगला प्रेम, अन्धा प्रेम, प्रेममय प्रेम, प्रियतममय प्रेम दिनोंदिन बढ़ता ही रहे।

जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

श्रीशङ्कराचार्य जगज्जननीरूप भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न मोक्षस्याकाङ्क्षा वरविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥७८॥

७८—(भक्तिके साधकको) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये ।

छिहत्तरवें सूत्रमें भक्तिको बढ़ानेवाले कर्मोंका आचरण करनेकी बात कही गयी है । इस सूत्रमें उन क्रियाओं और सद्गुणोंमेंसे पाँच प्रधान आचारोंका नाम निर्देश करके सूत्रकार इनके पालनकी अत्यन्त आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं ।

दैवी सम्पत्तिके गुण भक्तका बाना है । जहाँ भक्ति है वहाँ दैवी सम्पत्तिका होना अनिवार्य है । कुछ लोग भूलसे ऐसा कह दिया करते हैं कि 'भक्ति करो; भक्तमें सद्गुण न हों तो न सही । मनुष्य चाहे जितने पाप करे; बस, भक्त हो जाय; फिर कोई परवा नहीं ।' परन्तु उनका यह कथन वैसे ही युक्तिविरुद्ध है जैसे यह कथन कि 'सूर्य उदय हो जाय, फिर वहाँ अन्धकार भले ही बना रहे ।' जहाँ सूर्य उदय हो गया, वहाँ अन्धकार न रहकर प्रकाश छा ही जाता है इसी प्रकार जहाँ भक्तिरूपी सूर्यका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदय हो गया है वहाँ उसका प्रकाशरूप दैवी सम्पत्ति अवश्य फैल जायगी। यह किसी अंशमें सत्य है कि भगवत्प्राप्त महात्मा भक्त पुरुषोंके बाहरी आचरणोंसे उनकी परीक्षा नहीं होती। परन्तु कुछ गुण तो ऐसे हैं ही जिनका उनमें प्रकट रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। उन्हीं गुणोंमें ये पाँचों गुण भी हैं। जिस पुरुषमें ये गुण न हों, वह यदि कदाचित् साधु या भक्त भी हो तो भी उससे डरना ही चाहिये। बल्कि अधिकांशमें तो इन गुणोंसे रहित मनुष्य साधु या भक्त होते ही नहीं। अपनी परीक्षा तो साधकको इन्हीं गुणोंके आधारपर करनी चाहिये। यह निश्चय रखना चाहिये कि यदि भगवान्‌का चिन्तन और दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है तो हमारी भक्तिमार्गमें उन्नति हो रही है; यदि जगत्‌का चिन्तन होता है और दैवी सम्पत्ति नहीं बढ़ रही है तो हमारी उन्नति नहीं हो रही है एवं यदि विषयोंका चिन्तन बढ़ रहा है और आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है तो हमारी निश्चय ही अवनति हो रही है। भगवान्‌का प्रेमपूर्वक चिन्तन भक्तका धर्म है और दैवी सम्पदाके गुण उसकी जीवनपद्धति है। वह सब कुछ छोड़ देता है, परन्तु इन दोनोंको नहीं छोड़ता। अवश्य ही लीलामय भगवान्‌की आज्ञा या रुचिके अनुसार सिद्ध भक्तको कहीं-कहीं जीवनपद्धति बदलनी पड़ती है। परन्तु वह नियम नहीं है, अपवाद है। यह निश्चय है कि वह किसी प्रकारकी भी आसक्ति, ममता, कामना, वासना, अहंकार या मोहवश जीवनपद्धतिको नहीं बदलता। जहाँ किसी कारणवश किसी समय उसकी जीवन-पद्धतिमें और उसके स्वाभाविक स्वधर्म भगवत्प्रेममें विरोध आता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीखता है वहीं भगवान्‌की आज्ञा लेकर वह अपने स्वधर्मकी रक्षाके लिये नीतिको छोड़ देता है। ऐसे ही स्थलोंके लिये—भरत, प्रह्लाद, विभीषण, श्रीगोपीजन आदिके उदाहरण मिलते हैं, जहाँ उन्होंने भगवान्‌के लिये माता, पिता, भाई और पति आदिकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन किया है। परन्तु वहाँ भी देखा जाय तो सदाचार-नीतिका त्याग नहीं हुआ है। प्रेमधर्मके पालनार्थ भक्तोंने प्रायः स्वयं ही कष्ट सहा है। उस अवस्थाकी बात दूसरी है जिसमें सारे विधि-निषेधोंका भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण हो जाता है। परन्तु स्मरण रहे, वह समर्पण होता है, किया नहीं जाता। विधि-निषेधोंका बोझ उस बावले भक्तके सिरसे उतार लिया जाता है, वह जानकर नहीं उतारता। और उस मस्तीमें भी उसमें कोई दुर्गुण रहता हो सो बात नहीं है। परन्तु यहाँ तो साधककी चर्चा हो रही है और साधकको बड़ी ही सावधानीके साथ शास्त्र-विहित सद्‌गुणों और सदाचारोंका रक्षण और पालन करना चाहिये। सूत्रकारने जिन पाँच गुणोंका नाम लिया है उनका स्वरूप संक्षेपमें यों समझना चाहिये।

अहिंसा—शरीर, मन और वाणीसे किसी भी जीवको किसी प्रकारसे वर्तमान या भविष्यमें दुःख नहीं पहुँचाना, वरं सदा सबको सुखी बनानेकी चेष्टामें लगे रहना।

सत्य—जैसा देखा, सुना या समझा हो, वचन, लेखन या सङ्केतसे ठीक वैसा ही दूसरेको समझानेकी नीयत रखना। वाणीसे ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करना जो सत्य हों और साथ ही मधुर और हितकारी भी हों। कुछ लोग सत्यभाषणमें कठोर भाषाका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोग आवश्यक समझते हैं और अभिमानवश कह बैठते हैं कि हम तो सत्य कहनेवाले हैं, चाहे उससे किसीका जी दुखी हो या सुखी ! परन्तु ऐसी बात नहीं है। द्वेष, वैर, निन्दा, चुगली आदि भावोंसे बचाकर वाणीको अपने और दूसरेके हितकी दृष्टिसे सदा मधुरता और सत्यमें ही सनी रखनी चाहिये। जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाश देनेवाली होनेके साथ ही शीतल भी होती है, इसी प्रकार भक्तकी वाणी भी सत्य और मधुर—प्रकाशक और शान्तिदायक होनी चाहिये। जिससे दूसरेका अहित होता हो वह सत्य भी वाञ्छनीय नहीं है।

शौच—बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारके शौचकी आवश्यकता है।

बाहरी—

(क) जल, मिट्टी आदिसे शरीरको पवित्र रखना।

(ख) दूसरेका स्वत्व न छीनकर सत्यतापूर्वक निर्दोषरूपसे कमानेकी चेष्टा कर धनको शुद्ध रखना।

(ग) शुद्ध स्थानमें शुद्ध, स्नान किये हुए मनुष्यद्वारा, शुद्ध निरामिष अन्नसे बनाये हुए पदार्थोंको भगवदर्पण कर भोजनको शुद्ध करना।

(घ) शुद्ध, निष्कपट और प्रेमपूर्ण वर्तावसे व्यवहारको शुद्ध रखना।

(ङ) अतिथिसत्कार और भगवन्नामकी ध्वनिसे घरको पवित्र रखना।

(च) शास्त्रविहित आचरणोंसे अन्य सभी बाह्य कर्मोंको शुद्ध रखना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भीतरी—दम्भ, वैर, अभिमान, आसक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, शोक, पापचिन्तन, व्यर्थ विषयचिन्तन आदि दोषोंको मनमें यथासाध्य न आने देकर सरलता, प्रेम, विनय, वैराग्य, अद्वेष, प्रसन्नता, सच्चिन्तन और भगवच्चिन्तनके द्वारा मनको पवित्र रखना।

दया—दुखी मनुष्य घरका या दूसरा हो, मित्र हो या शत्रु हो, उसको दुःखकी दशामें देखकर बिना किसी भेद-भावके मनका व्याकुल हो जाना और यथासाध्य कष्ट सहकर तथा त्याग करके भी उसके दुःखको दूर करनेकी चेष्टा करना। यह भाव सभी जीवोंके प्रति होना चाहिये और सभी कालमें होना चाहिये। जिस क्रियासे जीवोंका अहित होता हो और उन्हें दुःख पहुँचता हो, उन क्रियाओंको त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार देश या समाजमें जिन प्रथाओं और कृत्योंसे जीवोंका अहित होता हो, उन्हें बन्द करानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

आस्तिकता—ईश्वर और शास्त्रोंपर प्रत्यक्षकी तरह पूर्ण विश्वास होना चाहिये। भगवान् हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, परम दयालु हैं, परम सुहृद् हैं, भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं और सदा सर्वत्र विराजमान हैं, इन बातोंपर विश्वास करते ही सारे पाप-ताप अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। भगवान्में विश्वास करनेकी आवश्यकता सबसे पहले और सबसे अधिक है। भगवान्के अस्तित्व और उनके प्रभाव तथा गुणोंपर विश्वास हो जायगा तो मन स्वतः ही भगवान्की ओर लग जायगा। मनुष्यको जो कुछ चाहिये, भगवान् सभीका भण्डार है। ज्ञान चाहिये, भगवान् ज्ञानस्वरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं; प्रेम चाहिये, भगवान् प्रेममय हैं; आनन्द चाहिये, भगवान् आनन्दघन हैं; वैराग्य चाहिये, भगवान् परम विरागमय हैं; धन चाहिये, धनकी स्वामिनी लक्ष्मीजी अपनी चञ्चलताको छोड़कर निरन्तर उनकी चरणसेवा करती हैं; ऐश्वर्य चाहिये, सारा जगत् उन्हींके ऐश्वर्यके एक कणका प्रकाश है; यश चाहिये, यशकी धारा वहींसे निकलती है; सारांश यह कि संसारमें हम जो कुछ भी सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, स्नेह, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धन, भोग, सुख आदि देखते हैं, और इन सब वस्तुओंके सम्बन्धमें जहाँतक हमारी ऊँची-से-ऊँची कल्पना होती है वह सब कुछ भगवान्के एक क्षुद्र अंशमें ही रह जाता है। हमारे इस जगत्के पदार्थ और पदार्थोंकी हमारी कल्पना उस अखिल सौन्दर्य, माधुर्य ऐश्वर्यादि सद्गुण-सागरकी एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकती। जो इस प्रकार भगवान्को जान लेता है और विश्वास कर लेता है वह भगवान्को छोड़कर आधे क्षणके लिये भी दूसरी ओर मन नहीं लगा सकता, और न वह जगत्के क्षणिक भोगोंके उदय और विनाशमें हर्ष और शोकको ही प्राप्त होता है। अवश्य ही आस्तिकतामें विश्वास सच्चा होना चाहिये। भगवान्की सत्ताके विश्वासमें हमें प्रह्लादका इतिहास सदा याद करना चाहिये। हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे सैकड़ों-हजारों दुर्दान्त दानव बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर प्रह्लादको मारने दौड़ते हैं। वह कहता है—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि च॥

(विष्णुपुराण १।१७।३३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अरे दैत्यो ! मेरे भगवान् विष्णु इन शस्त्रोंमें भी हैं, तुमलोगोंमें भी हैं और मुझमें भी हैं, वे सब जगह हैं। इस परम सत्यके प्रभावसे तुम्हारे इन शस्त्रास्त्रोंका मुझपर कोई असर न हो !'

दैत्योंके शस्त्र व्यर्थ हो गये, उनके आघातसे प्रह्लादको तनिक भी वेदना नहीं हुई।

विषधर सर्पोंमें और उनके विषमें, विशालकाय मतवाले हाथियोंमें और उनके वज्रके समान दाँतोंमें भी प्रह्लादने अपने भगवान्को देखा। प्रह्लादका उनसे कुछ भी नहीं बिगड़ा। प्रह्लादको आगमें डाला गया, अग्निमें उसे भगवान्की नवनीलनीरदमूर्ति दिखायी दी। उसने कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णुपुराण १ । १७ । ४७)

'हे तात ! पवनसे प्रेरित यह अग्नि भी मुझे नहीं जलाता। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानो मेरे चारों ओर कमलके पर्दे टँगे हों।'

प्रह्लादको मारनेके लिये पुरोहितोंने 'कृत्या' उत्पन्न की और जब प्रह्लादको मारनेमें निष्फल होकर कृत्याने पुरोहितोंको ही मार डाला, तब प्रह्लाद बोले—

यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
(वि० पु० १। १८। ४०-४१)

'सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं, इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मैं सर्वगत और अक्षय विष्णुभगवान्‌को मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवालोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित जी जायँ।'

प्रह्लादकी दृढ़ आस्तिकतासे पुरोहित जी उठे।

अन्तमें हिरण्यकशिपुके पूछनेपर प्रह्लादने बड़ी दृढ़ताके साथ, अडिग निश्चयसे छाती ठोंककर कहा—'हाँ, मेरे प्रभु सर्वत्र हैं, इस खम्भेमें भी हैं।' अपने सेवकके इस वाक्यको प्रत्यक्ष सत्य करनेके लिये भगवान् खम्भेको चीरकर प्रकट हो गये। कैसा निश्चय और कैसा अद्भुत परिणाम! यह है आस्तिकता।

भक्तोंको यथासाध्य आस्तिक बने रहनेकी और आस्तिकतामें निरन्तर अग्रसर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सूत्रकारने 'आस्तिक्य' के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर दैवी सम्पदाके अन्यान्य दैवी गुणोंकी ओर सङ्केत किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें दैवी सम्पत्तिके ये छब्बीस गुण बतलाये गये हैं। भगवान् कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
(१६ । १-३)

'हे भारत ! निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर दृढ़ स्थिति (आस्तिकता), दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधहीनता, त्याग, शान्ति, किसीकी निन्दा या चुगली न करना, सब प्राणियोंपर दया, लोभरहित होना, कोमलता, ईश्वर और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोहिता और अभिमानशून्यता—ये सब गुण दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषमें रहते हैं ।' यह दैवी सम्पत्ति भक्तमें ही रहती है । इसीलिये भक्तोंको 'देव' कहा गया है ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
विष्णुभक्तः[1] स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥
(पद्मपुराण)

'इस जगत्‌में दो प्रकारके जीव हैं । एक दैव और दूसरे आसुर । जो भगवान्‌के भक्त हैं, वह दैव हैं, जो भक्त नहीं हैं, वही आसुर हैं ।'

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

---

१ यहाँ 'विष्णुभक्त' शब्दसे शास्त्रानुसार भगवान्‌के किन्हीं भी नाम-रूपका सात्त्विक भक्त समझना चाहिये । भगवान्‌के नाम-रूपोंमें भेद मानना तो अपराध ही माना गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७९—सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये ।

यह सूत्र बड़े ही महत्त्वका है। इसमें देवर्षिने प्रेममार्गी भक्तके भगवद्भजनका बड़ा ही सुन्दर प्रकार बतलाया है। वास्तवमें जो पुरुष भगवान्‌के दिव्य गुण, रहस्य और प्रभावको यथार्थरूपसे जान लेता है; जानना दूर रहा, सन्तोंद्वारा सुनकर उसपर विश्वास कर लेता है, वह भगवान्‌को छोड़कर किसी भी कालमें मन-वाणी-शरीरसे दूसरा काम नहीं कर सकता। भगवान् शङ्कर कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना। तिन्हहि भजन तजि भाव न आना॥

दरिद्र मनुष्यको कहीं पारस मिल जाय तो वह दूसरी ओर क्यों ताकेगा? एकमात्र भगवान् ही परमतत्त्व हैं, भगवान् ही सबकी गति हैं, भगवान् ही सर्वाधार हैं, भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सकल दिव्य गुणनिधान, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी निधि, ज्ञान और वैराग्यके स्वरूप, आनन्द-कन्द-विग्रह हैं और इतना सब होते हुए भी वे हमारे परम सुहृद् हैं, हमें गले लगानेके लिये सदा हाथ पसारे खड़े-खड़े हमारी बाट देखा करते हैं—इस बातको जान लेनेपर सकामी या अकामी, विषयी या मुमुक्षु, साधक या सिद्ध, कौन ऐसा पुरुष है जो भगवान्‌को छोड़कर एक क्षणार्धके लिये भी दूसरेको भजे? हम नहीं भजते, इसका कारण यही है कि हमने उनके प्रभावको जाना नहीं है। सुना है तो उसपर विश्वास नहीं किया है। देवर्षि कहते हैं कि विश्वास करो, और निरन्तर मन-वाणी-शरीरसे केवल उन्हीं परम प्रियतम भगवान्‌का भजन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करो; मनसे सारी चिन्ताओंको दूर कर दो। समस्त चिन्तनोंसे चित्तको मुक्त कर दो। जैसे छोटा शिशु माँकी गोदमें जाकर निश्चिन्त हो जाता है ऐसे ही प्रभुके दास बनकर निश्चिन्त हो जाओ। जिसके रखवारे राम हैं, उसे किस बातकी चिन्ता होनी चाहिये। सब कुछ छोड़कर, सबकी आशा त्याग कर, भगवान्‌के सामने सबको तुच्छ मानकर, उस दिव्यातिदिव्य मधुर सुधारसके सामने जगत्‌के सारे रसोंको फीका समझकर, उस कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलन, सौन्दर्यसार श्यामसुन्दरके स्वरूपके सामने जगत्‌की समस्त रूपराशिको नगण्य मानकर उसीके भजनमें लग जाओ, चित्तको उसीके अर्पण कर दो, सब प्रकारसे उसीपर निर्भर हो जाओ, मनसे उसीका स्मरण करो, बुद्धिसे उसीका विचार करो, वाणीसे उसीके गुणानुवाद गाओ, कानोंसे उसीके गुण और लीलाओंको सुनो, जीभसे उसीके प्रसादका रस लो, नासिकासे उसीकी पदपद्मपरागगन्धको सूँघो, शरीरसे सर्वत्र उसीके स्पर्शका अनुभव करो, नेत्रोंसे उसी छविधामकी छविको सर्वत्र सर्वदा देखो, हाथोंसे उसीकी सेवा करो, तन-मन-धन सब उसीके अर्पण कर दो।

जबतक तुम जगत्‌के पदार्थोंको अपने मानते रहोगे, उनमें ममत्व रखोगे, तबतक कभी निश्चिन्त नहीं हो सकोगे; ये नाशवान् क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील पदार्थ कभी तुम्हें निश्चिन्त नहीं होने देंगे, इनपरसे ममत्व और आसक्तिको हटा लो; ये जिनकी चीजें हैं, उन्हें सौंप दो; बस, जहाँ तुमने इनको भगवान्‌के समर्पण किया कि वहीं निश्चिन्त हो गये। फिर न नाशका भय है, न अभावकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिन्ता है और न कामनाकी जलन है। और जहाँ निश्चिन्त होकर भजनमें लगे कि वहीं तुम्हें उस दिव्य आनन्द-माधुर्य-सौन्दर्य-सागरकी झाँकी बीच-बीचमें दीखने लगेगी, फिर तुम्हारा चित्त दूसरी ओर जाना ही नहीं चाहेगा। ऐश्वर्यकी ओर दृष्टि ही नहीं जायगी—और कहीं ऐश्वर्यकी कोई वासना रह भी गयी तो समस्त ऐश्वर्योंका खजाना उनके चरणोंमें ही तुम्हें मिल जायगा। इसीलिये विषयासक्तिरूपी व्यभिचारको त्याग कर उस एकमात्र प्राणाराम प्रियतम प्रभुकी प्यारी पतिव्रता पत्नी बन जाओ। इसी-लिये श्रीसुन्दरदासजी महाराजने कहा है—

पतिहीसूँ प्रेम होय, पतिहीसूँ नेम होय,
पतिहीसूँ छेम होय, पतिहीसूँ रत है।
पति ही है जग्य-जोग, पति ही है रसभोग,
पतिहीसूँ मिटै सोग, पतिहीको जत है॥
पतिहीको ग्यान-ध्यान, पतिहीको पुन्न-दान,
पति ही है तीर्थस्नान, पतिहीको मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं
'सुन्दर' सकल बिधि, एक पतिव्रत है॥
जलको सनेही मीन बिछुरत तजै प्रान,
मनि बिनु अहि जैसे जीवत न लहिये।
स्वातिबिंदुको सनेही प्रगट जगत माँहिं,
एक सीप दूसरो सु चातकहु कहिये॥
रविको सनेही पुनि कमल सरोवरमें,
ससिको सनेही हू चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही 'सुन्दर' एक प्रभुसूँ सनेह जोर,
और कुछ देखि काहू ओर नाहि बहिये॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'हे अर्जुन! तुम मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो, फिर निश्चय मुझको ही प्राप्त होओगे, यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। दूसरे सारे धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरे ही अनन्य शरण हो जाओ। मैं तुमको सारे पापोंसे आप ही छुड़ा दूँगा, तुम चिन्ता न करो!'

भगवान्‌का इतना प्रतिज्ञायुक्त आश्वासन पाकर भी यदि हम सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर भगवान्‌को नहीं भजते तो हम-सरीखा अभागा और कौन होगा?

अतएव इसी बातमें अपना परम कल्याण समझकर, उठते-बैठते, सोते-जागते सर्वदा सब कार्योंमें हमें श्रीभगवान्‌की पवित्र सत्ताके दर्शन करते हुए, हानि-लाभ और जन्म-मरणकी चिन्ताको छोड़कर, निश्चिन्त अनन्य चित्तसे श्रीहरिका ही भजन-कीर्तन करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमा भक्तिका फल और भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ ८० ॥

८०—वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं।

इससे पहले सूत्रके अनुसार अनन्य भजन करनेसे भगवान् शीघ्र ही साक्षात् प्रकट होकर भक्तको अपने स्वरूपका अनुभव करा देते हैं। यहाँ 'आविर्भवति' शब्दसे भगवान्‌का अखिल दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-रससार साकाररूपमें प्रकट होना समझना चाहिये। वस्तुतः निर्गुण-सगुण और निराकार-साकारमें कोई भेद नहीं है। वही मन-बुद्धिके अगोचर ब्रह्म हैं, वही सृष्टिकर्ता सगुण निराकार विभु हैं, वही जगदात्मा हैं, वही श्रीराम और

 Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्ण हैं, वही महाशिव, महाविष्णु, महादेवी हैं; वही यह विराट् पुरुष हैं। उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। जब रसीले, हठीले भक्तके प्रेमका आकर्षण होता है तब वह अपनी दिव्याह्लादिनी शक्तिको निमित्त बनाकर दिव्य चिन्मय वस्त्र, माला, गन्ध, आयुध, आभूषणादिसे सुसज्जित सौन्दर्यनिधिरूपमें प्रकट होकर भक्तको कृतार्थ करते हैं।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगतप्रेम बस सगुन सो होई॥

परन्तु यह बात नहीं है कि यह रूप जगत्-प्रसविनी माया-द्वारा निर्मित होता है इसमें सभी चीजें दिव्य, शुद्ध, नित्य, चिन्मय और भगवत्स्वरूप होती हैं। इसीसे इस दिव्य रसमय स्वरूपके सामने आते ही आत्मज्ञानी मुनियोंके मरे हुए मन भी जीवित होकर इस स्वरूपकी एक-एक वस्तुपर मुग्ध हो जाते हैं। जिन इन्द्रियोंके विकाररूप रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शसे मुमुक्षु-अवस्थामें ही चित्त उपराम हो जाता है उन्हीं रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके प्रति मुनियों और आत्मज्ञानियोंका आकर्षित होना यह सिद्ध करता है कि भगवान्‌के दिव्य स्वरूपके ये रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि विषय मायाके कार्य त्रिगुणोंसे उत्पन्न नहीं हैं। ये सर्वगुणसम्पन्न और सदा निर्गुण प्रभुके स्वरूप ही हैं। इसीसे मुनिगण इनपर मोहित हो जाते हैं। इसीलिये वेदान्तके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कराचार्य भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते स मूर्त्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥

'जिन्होंने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंसहित समस्त गोप तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंके सब विष्णुस्वरूपोंको दिखाया, जिनके चरणोदकको श्रीशम्भु अपने सिरपर धारण करते हैं वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति (ब्रह्माण्डोंमें विभिन्न स्वरूपोंसे शासन करनेवाले अंशावतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश) से अलग ही कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।'

एक बार दिव्य वैकुण्ठलोकमें भगवान् श्रीमहाविष्णुके समीप नित्य आत्मनिष्ठ सनकादि ऋषि पधारे। ज्यों ही वे भगवान्के सामने पहुँचे और उनके स्वरूपकी ओर देखा कि मुग्ध हो गये। भगवान्की सुन्दरता देखते-देखते उनके नेत्र किसी प्रकार तृप्त ही नहीं होते थे। भगवान्के सौन्दर्यने ही उन्हें मोहित किया हो सो नहीं, प्रणाम करते समय कमलनयन श्रीहरिके पादपद्मपरागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी सुगन्ध वायुके द्वारा नासिकामार्गसे ज्यों ही मुनियोंके अन्तरमें पहुँची कि उन नित्य अचलरूपसे ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले मुनियोंका हृदय क्षुब्ध हो गया, उस सुगन्धकी ओर खिंच गया, उसपर मोहित हो गया और आनन्दसे उनके रोमाञ्च हो आया—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । १५ । ४३)

यही हाल भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणके स्वरूपको देखकर ब्रह्मविद्वरिष्ठ ज्ञानिश्रेष्ठ विदेह जनकका हुआ—

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेह बिदेह बिसेखी ॥
प्रेममगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर ।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर ॥

उस रूपराशिके सामने आते ही विदेहका ज्ञान मानो मूर्छित हो गया, देहकी सुधि जाती रही, आँखोंमें आँसू आ गये। जनकजीने देखा, यह क्या हो गया ! बालकोंके सौन्दर्यपर—नेत्रोंके विषयपर जनकके मनमें मोह कैसा ? विवेकसे, धीरजसे अपनेको सँभाला; परन्तु पूछे बिना नहीं रहा गया। विश्वामित्रजीके चरणोंमें प्रणामकर राजाने बोलना चाहा, परन्तु विवेक हृदयकी द्रवताको दूर नहीं कर सका; बोलते-बोलते ही वाणी गद्गद—और भरी-भरी हो गयी ! राजाने अपनी हालतका बयान करते हुए क्या पूछा, जरा सुनिये—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥
सहज बिरागरूप मन मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
ताते प्रभु पूछौं सति भाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुनिने मुस्कराते हुए राजाके अनुमानका समर्थन किया।

इस प्रकार जिस स्वरूपको बार-बार देखकर भी देखनेकी इच्छा बढ़ती ही रहती है, वह कुछ विलक्षण ही वस्तु है। संसारमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे बार-बार देखनेपर भी देखनेकी इच्छा बढ़े। अनुभव तो यह कहता है कि जिस वस्तुके देखनेकी इच्छा प्रबल होती है, उसके मिलनेपर प्रथम दर्शनमें तो बड़ा ही आनन्द होता है; पर फिर ज्यों-ज्यों वह दर्शन सुलभ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके प्रति आकर्षण कम होता चला जाता है। परन्तु भगवान्‌का सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखते-देखते कभी तृप्ति ही नहीं होती। ज्यों प्रेमी भक्तका प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है त्यों ही भगवान्‌की सौन्दर्यछटा भी प्रतिक्षण अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है। पल-पलमें नया-नया सौन्दर्य, अधिकाधिक आकर्षक माधुरी दिखायी देती है। ऐसा वह भगवान्‌का स्वरूप मायिक नहीं होता। वह सर्वथा दिव्य होता है, और जिस क्षण वह भक्तके सामने उसके प्रेमके आकर्षणसे प्रकट होता है उसी क्षण उसे दिव्यभावापन्न करके अपने स्वरूपका अनुभव करा देता है। जबतक वह माधुरी सामने रहती है, तबतक भक्त किसी दिव्य राज्यमें रहता है। उसका सब कुछ दिव्य हुआ रहता है। उस कालमें वह सिवा भगवान्‌के माधुर्यके और कुछ भी नहीं देखता, सुनता। वह तन्मय हो जाता है और उसे भगवान्‌का यथार्थ अनुभव हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

८१—तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्योंमें (अथवा तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है।

त्रिसत्य कायिक, वाचिक और मानसिक सत्यको कहते हैं। देवर्षि नारदजीको तीनों सत्योंसे भक्तिकी श्रेष्ठताका अनुभव हो चुका है। अतएव वे बार-बार यह घोषणा करते हैं कि भक्ति ही श्रेष्ठ है। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। उपनिषद्‌में भी इसी प्रकार घोषणा की गयी है—

सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय । भक्तिनिष्ठो भव, भक्तिनिष्ठो भव । भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति भक्त्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति ।

(त्रिपादविभूतिनारायणोपनिषद्)

'सब उपायोंको छोड़कर भक्तिका ही आश्रय लो। भक्ति-निष्ठ होओ, भक्तिनिष्ठ हो जाओ। भक्तिसे सब सिद्धियाँ सफल हो जाती हैं। ऐसी कोई बात नहीं है जो भक्तिसे न होती हो।' मुक्ति भी मिलती है और मुक्तिदाता भगवान् सगुणरूपसे भी साथ खेलते हैं। स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हे उद्धव ! जैसे जोरसे जली हुई अग्नि काठके ढेरको भस्म कर डालती है वैसे ही मेरी भक्ति सब (छोटे-बड़े) पापोंके समूहको जला देती है।'

भक्तके साधनकी रक्षा भगवान् करते हैं, और उसके फलस्वरूप अपनी प्राप्ति भी आप ही करवा देते हैं। और सबका इसमें अधिकार है। अतएव भक्तिसे श्रेष्ठ और क्या होगा ? भगवान्‌ने इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जगह-जगह भक्तिकी प्रशंसा की है। और बारहवें अध्यायमें तो भक्तको 'युक्ततम' तक कह दिया है। इसीलिये यहाँ देवर्षि नारद ताल ठोंक-ठोंककर मुक्तकण्ठसे वज्रगम्भीरस्वरसे घोषणा करते हैं कि कायिक, वाचिक, मानस तीनों सत्योंमें अथवा त्रिकालमें सत्य भगवान्‌की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

८२—यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुणमाहात्म्यासक्ति, २ रूपासक्ति, ३ पूजासक्ति, ४ स्मरणासक्ति, ५ दास्यासक्ति, ६ सख्यासक्ति, ७ कान्तासक्ति, ८ वात्सल्यासक्ति, ९ आत्मनिवेदनासक्ति, १० तन्मयतासक्ति और ११ परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे, ११ प्रकारकी होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो महात्माजन प्रेमरूपा भक्तिकी पूर्णताको पहुँच जाते हैं, उनमें तो यह सभी आसक्तियाँ रहती हैं, जैसे श्रीव्रजगोपियोंमें थीं; जिनका उदाहरण देवर्षि नारदजी पहले दे चुके हैं। सबका विकास नहीं होता तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इनमेंसे केवल एक या एकाधिक भावोंसे भगवान्‌के साथ प्रेम किया जाता है। प्रेम एक ही वस्तु है, इसलिये इन प्रेमियोंमें प्रेमासक्तिके भेदसे किसीमें ऊँच-नीचकी भावना नहीं करनी चाहिये।

इन भिन्न-भिन्न आसक्तियोंसे भगवान्‌को भजनेवाले असंख्य भक्त हो गये हैं। उदाहरणके लिये कुछ नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१–**गुणमाहात्म्यासक्त भक्त**–देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डि, शेष, सूत, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि।

२–**रूपासक्त भक्त**–मिथिलाके नर-नारी, राजा जनक, दण्डकारण्यके ऋषि, व्रजनारियाँ आदि।

३–**पूजासक्त भक्त**–श्रीलक्ष्मीजी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्रीभरतजी आदि।

४–**स्मरणासक्त भक्त**–प्रह्लादजी, ध्रुवजी, सनकादि।

५–**दास्यासक्त भक्त**–श्रीहनूमान्‌जी, अक्रूरजी, विदुरजी आदि।

६–**सख्यासक्त भक्त**–अर्जुन, उद्धव, सञ्जय, श्रीदाम, सुदामादि।

७–**कान्तासक्त भक्त**–अष्ट पटरानियाँ आदि।

८–**वात्सल्यासक्त भक्त**–कश्यप-अदिति, सुतपा-पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९-आत्मनिवेदनासक्त भक्त-श्रीहनूमान्‌जी, राजा अम्बरीष, राजा बलि, विभीषणजी, शिवि आदि।

१०-तन्मयतासक्त भक्त-याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि ज्ञानीगण अथवा कौण्डिन्य, सुतीक्ष्ण आदि प्रेमी मुनिगण।

११-परमविरहासक्त भक्त-उद्धव, अर्जुन, व्रजके नर-नारी।

श्रीगोपीजनोंमें ग्यारहों प्रकारके प्रेमका विकास था। परन्तु उपर्युक्त भक्तोंमें एक-एक प्रकारके ही प्रेमका विकास था सो बात नहीं है। जिस भावकी प्रधानता थी उसीमें उनका नाम लिख दिया गया है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥८३॥

८३-कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

देवर्षि नारद भक्तितत्त्वके प्रधान-प्रधान आचार्योंका मत देकर अपने कथनकी पुष्टि करते हैं। ये सभी महापुरुष भक्ति-तत्त्वके ज्ञाता और आचार्य हुए हैं। सनत्कुमार नित्य 'हरिशरणम्' मन्त्रका जाप करते रहते हैं और भक्तिमार्गके प्रधान प्रवर्तक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् श्रीवेदव्यासने अठारहों पुराणोंमें भक्तिको ही मुख्य बतलाया है, उनका श्रीमद्भागवत तो भक्तिकी खानि ही है। श्रीशुकदेवजीकी भक्तिका क्या कहना? भक्तिरसप्रधान श्रीमद्भागवत उन्हींके मुखसे निकला हुआ सुधासमुद्र है। महर्षि शाण्डिल्यके भक्तिसूत्र ही उनके भक्तितत्त्वके एक प्रधान आचार्य होनेका प्रमाण दे रहे हैं। महर्षि गर्गकी गर्गसंहितामें भक्तिका प्रवाह बहता है। महर्षि विष्णु प्रधान स्मृतिकार थे। एक विष्णुस्वामी प्रसिद्ध भक्तिसम्प्रदायके आचार्य हुए हैं। कौण्डिन्यजीने तन्मयतासक्तिमें सिद्धि प्राप्त की थी ऐसा माना जाता है। भगवान् शेषजी तो दिन-रात सहस्र मुखोंसे हरिगुणगान ही करते हैं। आप दास्यभाव-के परम आचार्य हैं। दासस्वरूप लक्ष्मणके रूपमें आपने ही अवतार लिया था। उद्धवजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णके प्रधान सखा थे। आरुणिको निम्बार्कका नामान्तर मानते हैं, आप युगल स्वरूपके उपासक थे। राजा बलि सर्वात्मनिवेदनासक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, इनके भक्तिबलसे भगवान्ने स्वयं इनका द्वारपाल बनना स्वीकार किया था। प्रातःस्मरणीय भक्तराज श्रीहनूमान्जीका दास्यभाव प्रसिद्ध है। महाभाग विभीषणजीने भक्तिके प्रतापसे भगवान् श्रीरामचन्द्रका सख्य प्राप्त किया था। इन भक्तिशास्त्रके सभी आचार्योंने लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी कुछ भी परवा न कर भक्तिकी महिमा गायी है। और अपने जीवनद्वारा भक्तिकी सर्व-श्रेष्ठता सिद्ध की है। इन्हींके मतके अनुसार श्रीनारदजी भी निर्भय होकर भक्तिका डंका बजा रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥ ८४ ॥

८४–जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

अबतक भक्तिशास्त्रकी व्याख्या करके अब सूत्रकार उसका फल वर्णन करते हैं। देवर्षि कहते हैं कि जो इस मेरे कहे हुए परम कल्याणमय उपदेशपर या भक्तितत्त्वके आदि आचार्य साक्षात् भगवान् श्रीशिवजीके किये हुए उपदेशपर विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे भगवान्‌को 'प्रियतम' रूपसे प्राप्त करते हैं। विश्वास और श्रद्धा हुए विना तो कुछ भी नहीं होता। संशयात्माका तो पतन ही होता है—'संशयात्मा विनश्यति'। फिर, विश्वास और श्रद्धा करनेसे ही उसके लिये साधन होता है अतएव विश्वास और श्रद्धा करके भक्ति करनी चाहिये। अन्यान्य साधनोंद्वारा भगवान् अन्यान्य रूपोंमें प्राप्त होते हैं परन्तु भक्तिद्वारा तो वे 'प्रियतम' रूपमें मिलते हैं। यह प्रेम ही चरम या पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसमें मोक्षका भी संन्यास हो जाता है। यही जीवनका परम फल है।

बोलो भक्ति, भक्त और भगवान्‌की जय !

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

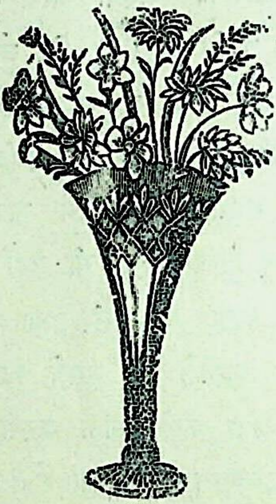

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीशाङ्करभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है । पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मूल्य साधारण जिल्द २॥), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द ... २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, ४ चित्र, मूल्य ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वाली नं० २ के समान, मू० १।)

श्रीमद्भगवद्गीता—प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० २ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥=) सजिल्द ... ।॥=)

श्रीमद्भगवद्गीता—बंगला टीका, गीता नं० ४ की तरह, मूल्य ... ।॥)

श्रीमद्भगवद्गीता गुटका—(पाकेट साइज) हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९—३२पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, सजिल्द मू० ॥)

श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, गीता नं० १२ की तरह, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजिल्द ... ॥=)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-) सजिल्द ।=)

श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मूल्य ।) सजिल्द ।=)

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (गुटका) २२×२९—३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४००, मूल्य ।) सजिल्द ... ।-)

पञ्चरत्न गीता—मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृष्ठ ३२८, मूल्य सजिल्द ।)

श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सभी विषय ॥) वाली गीता नं० ७ के समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मू० =)॥ स० =)॥

गीता—मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च, मूल्य सजिल्द ... =)

गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र, मूल्य सजिल्द ... -)॥

श्रीमद्भगवद्गीता—७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य -)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आपको आवश्यकता है—

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और धर्मकी; घर-परिवार और संसारके पवित्र प्रेमकी; लोक-परलोकका सरल-सीधा मार्ग बतानेवालेकी; भय, शोक, चिन्ता, आसुरी स्वभावके दुर्गुणोंसे छुड़ानेवालेकी; समता, शान्ति, निश्चिन्तता, प्रेम और परमानन्द देनेवालेकी। दुनियामें रहते हुए इन सबकी प्राप्तिका सुगम मार्ग—सहज साधन बतानेमें—

श्रीजयदयालजी गोयन्दकालिखित—

'तत्त्व-चिन्तामणि'

—आपकी सहायता कर सकती है। एक पुस्तक मँगवाकर जरा पढ़कर देखिये, आपकी विचारधारा पलटती है या नहीं?

भाग १—२०×३० सोलहपेजी, मोटा कागज, साफ सुन्दर छपाई, बड़े अक्षर, भगवान्‌के दो मनोहर चित्र, पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-) मात्र।

इसीका गुटका संस्करण—२२×२९, ३२ पेजी साइज, पृष्ठ ४४६, मूल्य ।-) सजिल्द ।=)

भाग २—२०×३० सोलहपेजी, मोटा कागज, साफ सुन्दर छपाई, भगवान्‌के सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे सुसज्जित, पृष्ठ ६३२, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=)

इसीका गुटका संस्करण—२२×२९, ३२ पेजी साइज, साफ सुन्दर सचित्र, पृष्ठ ७५०, मूल्य ।=) सजिल्द ॥) मात्र।

भाग ३—२०×३० सोलहपेजी, मोटा कागज, पृष्ठ ४५०, सुन्दर चित्र, प्रचारार्थ मूल्य केवल ॥≡) सजिल्द ॥।=)

इसीका गुटका संस्करण—२२×२९, ३२ पेजी साइज, साफ सुन्दर छपाई और भगवान्‌के मनोहर चित्र, पृष्ठ-संख्या ५६०, मूल्य ।-) सजिल्द ।=)

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी कुछ पुस्तकें—

विनय-पत्रिका—सचित्र, गो० तुलसीदासजीके ग्रन्थकी टीका मू० १) स० १।)
दोहावली—सचित्र, गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थकी टीका, मूल्य ॥)
नैवेद्य—चुने हुए श्रेष्ठ निबन्धोंका सचित्र संग्रह, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≋)
तुलसीदल—परमार्थ और साधनामय निबन्धोंका सचित्र संग्रह मू० ॥) स० ॥≋)
उपनिषदोंके चौदह रत्न—१४ कथाएँ, १४ चित्र, पृष्ठ १००, मूल्य ।=)
प्रेम-दर्शन—नारदभक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका, ३ चित्र, पृष्ठ २००, मूल्य ।–)
कल्याण-कुञ्ज—उत्तमोत्तम वाक्योंका सचित्र संग्रह, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)
मानव-धर्म—धर्मके दश लक्षण सरल भाषामें समझाये हैं, पृष्ठ ११२, मूल्य ≋)
साधन-पथ—सचित्र, पृष्ठ ७२, मूल्य ... ... =)॥
भजन-संग्रह—भाग ५वाँ (पत्र-पुष्प) सचित्र सुन्दर पद्यपुष्पोंका संग्रह, मू० =)
स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी—सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य ... –)॥
गोपी-प्रेम—सचित्र, पृष्ठ ५८, मूल्य ... ... –)॥
मनको वश करनेके कुछ उपाय—सचित्र, मूल्य ... –)।
आनन्दकी लहरें—सचित्र, उपयोगी वचनोंकी पुस्तक, मूल्य ... –)
ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं, मूल्य –)
समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नोंपर विचार, सुधारके साधन, मू० –)
वर्तमान शिक्षा—बच्चोंको कैसी शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? पृ० ४५, मू० –)
नारद-भक्ति-सूत्र—सटीक, मू०)।; दिव्य सन्देश—भगवत्प्राप्तिके उपाय)।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Books in English.

1.	The Philosophy of Love	...	1–0–0
2.	Way to God-Realization	...	0–4–0
3.	Our Present-day Education	...	0–3–0
4.	The Divine Name and Its Practice	...	0–3–0
5.	Wavelets of Bliss	...	0–2–0
6.	The Divine Message	...	0–0–9

The Gita Press, Gorakhpur.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—४ रंगीन, १ सादा चित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य .... ।-)
भक्त नारी—२ रंगीन, ३ सादे चित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य .... ।-)
भक्त-पञ्चरत्न—४ रंगीन, २ सादे चित्र, पृ० ९८, मूल्य .... ।-)
आदर्श भक्त—७ चित्र, पृष्ठ-संख्या ११२, मूल्य .... ।-)
भक्त-चन्द्रिका—७ सुन्दर रंगीन चित्र, पृ० ९६, मूल्य .... ।-)
भक्त-सप्तरत्न—७ सुन्दर रंगीन चित्र, पृष्ठ १०६, मूल्य .... ।-)
भक्त-कुसुम—६ सुन्दर तिरंगे चित्र, पृष्ठ ९१, मूल्य .... ।-)
प्रेमी-भक्त—५ रंगीन, ४ सादा चित्र, पृष्ठ १०३, मूल्य .... ।-)
प्राचीन भक्त—१२ रंगीन, १ सादा चित्र, पृष्ठ १५६, मूल्य ॥)
भक्त-सौरभ—५ रंगीन चित्र, पृष्ठ ११६, मूल्य .... ।-)
भक्त-सरोज—९ रंगीन चित्र, पृष्ठ ११६, मूल्य .... ।=)
भक्त-सुमन—७ रंगीन, २ सादे चित्र, पृष्ठ १२०, मूल्य .... ।=)

आदर्श चरित-मालाकी पुस्तकें

लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

भक्तराज हनुमान्—चित्र रंगीन ७, सादे ३, पृष्ठ ८०, मूल्य ।-)
सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र—चित्र रंगीन १०, सादे ३, पृष्ठ ५६, मूल्य ।-)
प्रेमी भक्त उद्धव—चित्र रंगीन ३, पृष्ठ ६८, मूल्य .... ≡)
महात्मा विदुर—सचित्र, पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य .... =)॥
भक्तराज ध्रुव—४ रंगीन और १ सादा चित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ≡)

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधररचित

श्रीभगवन्नामकौमुदी

अनुवादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधररचित

श्रीभगवन्नामकौमुदी

[हिन्दी-अनुवादसहित]

अनुवादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रथम बार २००० सं० १९९५ वि०
मूल्य ।।=) दस आना

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

निवेदन

'कल्याण'के भगवन्नामाङ्कमें ब्रह्मलीन श्रीश्रीअच्युतमुनिजी महाराजने अपने लेखमें भगवन्नामकौमुदीके आधारपर बहुत कुछ लिखा था, तभीसे ऐसा विचार हो रहा था कि इसका हिन्दी-भाषान्तर प्रकाशित हो। यद्यपि यह ग्रन्थ शास्त्रार्थकी शैलीपर लिखा होनेसे समझनेमें कुछ कठिन-सा है परन्तु विचारपूर्वक पढ़नेसे सभी बातें समझमें आ सकती हैं। श्रीभगवान्‌के नामकी अनन्त महिमा है और कलियुगमें तो श्रीभगवान्‌का नाम ही जीवोंके लिये एकमात्र अवलम्बन-स्वरूप है। इस भगवन्नामकौमुदीसे लोगोंकी भगवन्नाममें रुचि हो इसी उद्देश्यसे इसका प्रकाशन किया गया है। पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने इसका बहुत सुन्दर अनुवाद करनेके साथ ही एक विचारपूर्ण भूमिका भी लिख दी है, जिससे ग्रन्थके भावोंका समझना बहुत सहज हो गया है। पाठकगण इससे लाभ उठावें, यही निवेदन है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-सम्पादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

प्रस्तावना

खेषां सन्ततमन्तरायनिचयानुन्मूलयन्तीं बला-
दन्तर्धाम्नि महो विकीर्य नितरामानन्दसान्द्रं द्रुतम् ।
निन्दन्तीं शरदिन्दुकोटिमिलितं लावण्यवारांनिधिं
वन्देऽमन्दविभाविभासितभुवं राधामुकुन्दद्वयीम् ॥

जीव युगोंसे, जन्म-जन्मान्तरोंसे एक अनादि पिपासाकी चिरन्तन वेदना लिये विश्वके निविड काननमें पथ-भ्रान्त पथिककी भाँति भटक रहा है। वह उस शान्तिदायिनी सुधाकी एक घूँटके लिये कहाँ नहीं हाथ पसारता, किसकी नहीं विनय करता, किन्तु सर्वत्र निराशा ही मिलती है। वह इतना विह्वल, इतना बेसुध हो रहा है कि फूल समझकर काँटोंपर सोता और अमृतके धोखेसे हालाहलका प्याला होठोंसे लगा लेता है। परन्तु इस आपातरमणीय सुखका परिणाम होता है वही निरन्तर जलन और तीव्र अशान्ति !! क्यों न हो, मरुकी दहकती हुई मरीचियोंमें महासागरकी उत्ताल तरङ्गोंका शीतल आलिङ्गन, निम्बकी कटुतामें रसालका माधुर्य क्या कभी सम्भव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है ? 'तब तो इस दुःखमयी दयनीय परिस्थितिसे मुक्त होनेका कोई उपाय ही नहीं है !' ऐसी बात नहीं, यथार्थ मार्ग (साधन) और वास्तविक लक्ष्यका ज्ञान होते ही ये सारे दुःख-शोक काफूर हो जाते हैं। शास्त्र और महात्मागण डंकेकी चोट कहते हैं—अखिल भूमण्डल ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्डके आनन्द और सुख मिलकर जिसके एक कणकी भी समता नहीं कर सकते उस परमानन्द सुधासिन्धु परमात्माको ही प्राप्त करना जीवका चरम लक्ष्य है, जहाँ पहुँचकर सारे अभावोंका अन्त हो जाता है और जीव परिच्छिन्नताके घेरेसे ऊँचे उठकर पूर्णानन्दकी मस्तीमें झूमता हुआ अनुभूतिके स्वरोंमें गा उठता है—

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

इस पूर्णतम स्थितिको प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंमें निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति आदि साधन बताये गये हैं। इनमें भी मनुष्यकी योग्यता और अधिकारके विचारसे प्रथम दोकी अपेक्षा भक्तिमार्ग सुगम एवं उत्कृष्ट है; क्योंकि भक्तिके साम्राज्यमें सबका समानाधिकार है और अपनी योग्यता तथा रुचिके अनुसार भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नव प्रकारोंमेंसे किसी एकहीका आश्रय लेनेसे भी जीवको अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। इनमें भी कीर्तनको छोड़कर अन्य आठ प्रकारके भजन-मार्गोंमेंसे किसीमें वक्ताकी उपस्थिति,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहीं अर्चनादिके लिये विधि-ज्ञान और सामग्रियोंका सञ्चयन तथा कहीं मनकी सावधानता आदिकी अपेक्षा होती है, अतः सबसे निरपेक्ष होनेके कारण कीर्तन ही सुगम है। सुगम होते हुए भी यह भगवत्प्राप्तिके लिये सर्वोत्तम साधन है। कलियुगमें तो कीर्तन अपना खास स्थान रखता है, 'कलौ संकीर्त्य केशवम्' (कलियुगमें केवल कीर्तन करके ही मनुष्य अन्य युगोंमें अन्यान्य महान् साधनोंसे प्राप्त होनेवाले [परमात्मारूप] फलको प्राप्त कर लेता है)। कीर्तन भगवान्के नाम और लीलाओंका होता है, इनमें भी नामका कीर्तन लीलाओंकी अपेक्षा अधिक सुगम और महत्त्वशाली है। कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही सबसे बड़ा सहारा है। संतोंका वचन है—

'कलियुग केवल नाम अधारा।' 'राम न सकहिं नाम गुण गाई।'

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥' इत्यादि।

इन्हीं भगवन्नामोंकी महत्त्वमयी मनोरम रश्मियोंका जगत्में प्रसार करती हुई यह भगवन्नामकौमुदी इस समय भावुकोंके समक्ष प्रकाशित हुई है।

ग्रन्थ-परिचय

भगवन्नामकौमुदी तीन परिच्छेदोंका एक निबन्धात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना बड़ी ही प्रौढ़ और गम्भीर है, इसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषामें साहित्यिक प्रवाह, अद्भुत ओज और प्रचुर प्राञ्जलता है। कतिपय स्थलोंपर तो सिद्धहस्त लेखकने गद्यका इतना सुन्दर समाँ बाँधा है कि उसे पढ़ते समय कादम्बरीके रचयिता महाकवि बाणभट्टकी याद आने लगती है। उदाहरणके लिये देखिये—

'विलसदमलमरकतमणिमरीचिमञ्जरीपिञ्जरालिभ्रान्तिभूमयो निर्यन्मकरन्दबिन्दुजालजम्बालितगगनाङ्गनाः परिमलतर्पितपवनातिथयस्तरुणतुलसीवनवीथयः' इत्यादि।

इस ग्रन्थमें भगवन्नाममहिमाके विषयमें होनेवाली बहुत-सी शङ्काओंका शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार निराकरण किया गया है। इसकी विवेचनशैलीमें मीमांसकोंकी-सी पटुता, नैयायिकोंका-सा युक्तिकौशल और वेदान्तियोंका-सा समन्वय है। इसमें प्रबल प्रमाणोंद्वारा बड़े ही जोरदार शब्दोंमें इस बातका समर्थन किया गया है कि 'भगवन्नामोंकी महिमा अमित, अगाध और अनन्त है। नामकीर्तनसे न केवल पापक्षयमात्र ही होता है, अपि तु, वासना और प्रारब्धका भी क्षय होनेके साथ ही परम पुरुषार्थकी उपलब्धि होती है, जिससे जीव कृतार्थ हो जाता है।' पाठकोंकी सुविधाके लिये हम ग्रन्थमें वर्णित विषयके सारांशका किञ्चित् दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।

जब हम पुराणादि ग्रन्थोंमें भगवन्नाममहिमाके प्रतिपादक वचन पढ़ते हैं तो स्वभावतः हमारे हृदयमें कुछ सन्देह खड़े हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उठते हैं। यद्यपि वे सन्देह नाना प्रकारके होते हैं तथापि उन्हें निम्नाङ्कितरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। (१) पहले यह संशय होता है कि भगवान्‌के एक-एक नामकी बड़ी-बड़ी महिमा बतानेवाले पौराणिक वचन अर्थवाद तो नहीं हैं? इनका अर्थ अविवक्षित तो नहीं है? (२) यदि किसी प्रकार यह मान लें कि नाममहिमाके प्रतिपादक वचन जो कुछ कहते हैं वह अक्षरशः सत्य है, ये अर्थवाद नहीं हैं; तो भी यह प्रश्न होता है कि क्या पापनाशके साक्षात् साधनभूत किसी व्रत आदिका अङ्ग होकर नामकीर्तन पापक्षयका साधक होता है या स्वयं ही प्रधानरूपसे? (३) यदि यह भी स्वीकार कर लें कि वह स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका साधक है तो भी यह जिज्ञासा होती है कि श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास और उत्तम देश-कालादिके साथ होनेपर ही नाम-कीर्तन पापक्षयका साधक हो सकता है या इनके न रहनेपर भी? इस विषयमें होनेवाले अन्य बहुतेरे प्रश्न भी इन्हीं तीन प्रश्नोंके भीतर आ जाते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नोंको लेकर ही इस ग्रन्थकी अवतारणा हुई है। इनमेंसे पहले प्रश्नका पहले परिच्छेदमें, दूसरेका दूसरेमें और तीसरेका तीसरे परिच्छेदमें उत्तर दिया गया है। प्रथम प्रश्नके विषयमें दो पूर्वपक्ष हैं। एक पक्ष (प्रभाकर भट्ट आदि मीमांसकों) का कहना है कि पुराण तो अलग रहे, वेदके भी सम्पूर्ण अंश अपने अर्थमें प्रमाणभूत नहीं हैं। वेदका जो भाग यज्ञादि कार्योंका बोधक है, वही अपने अर्थमें प्रमाण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूत है—उसीका मुख्य अर्थ विवक्षित है। मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषद्भाग कार्यतापरक नहीं हैं, इसलिये वे अपने वाच्यार्थमें तात्पर्य नहीं रखते। पुराण आदि भी इन्हींके आधारपर पल्लवित हैं; अतः वे भी स्वार्थमें तात्पर्य रखनेवाले नहीं हैं। सारांश यह कि पुराणोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

दूसरे पक्षवाले (वेदान्ती) उपर्युक्त पक्षकी मान्यताका खण्डन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि वेदके सभी अंश अपने अर्थमें प्रमाणभूत हैं। मन्त्र और अर्थवाद यद्यपि अन्य यज्ञादि विधियोंके अनुकूल अर्थका बोधन करते हुए अन्यपरक भी होते हैं तथापि उनका मुख्य अर्थ भी प्रामाणिक ही है। उपनिषद्भाग किसी विधिके अङ्ग नहीं हैं, इसलिये वे अपने अर्थमें प्रमाणभूत होते हैं—इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। इस प्रकार जब वेद अपने सब अंशोंमें प्रमाणभूत है तो उसके ही अर्थ-विस्तारका प्रतिपादन करनेवाला पुराण भी यद्यपि अपने मुख्य अर्थमें ही तात्पर्य रखनेवाला सिद्ध होता है, तथापि जहाँ स्मृतियाँ महान् पापके लिये महान् प्रायश्चित्तका विधान करती हैं वहाँ ही अत्यन्त लघु प्रायश्चित्त नामकीर्तन-मात्रका विधान करनेवाला पुराण प्रबल नहीं माना जा सकता। ऐसी दशामें वह पौराणिक वचन भजनीय देवतामें श्रद्धा करानेके लिये अर्थवादमात्र माना जायगा। उसका तात्पर्य यों होगा—'जिस देवताका एक बार नाम लेनेसे ऐसा महान् फल प्राप्त होता है उसकी यदि आजीवन उपासना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की जाय तो वह क्या नहीं कर सकता ? ।' अतः पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ अविवक्षित ही है ।

इस प्रकार दोनों पूर्वपक्षोंका उल्लेख करके ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार वेद अपने सभी अंशोंमें प्रमाणभूत है उसी प्रकार पुराण भी है । वेद और पुराणकी मान्यतामें कोई अन्तर नहीं है, जैसे वेदमें धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन है, वैसे ही पुराणमें भी है । जिस प्रकार वेदमें कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं उसी प्रकार पुराणमें भी हैं । जैसे काण्डभेदसे कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंमें ही वेदका तात्पर्य माननेमें कोई विरोध नहीं आता, वैसे ही पुराणमें भी विरोध नहीं है । यदि पुष्कराक्षके सिद्धान्तानुसार क्रमशः ब्रह्म और आत्माके अभेदका बोध करानेमें ही वेदका चरम तात्पर्य मानें तथा इस प्रकार वेदके तीनों काण्डोंकी एकवाक्यता स्वीकार करें तो यही बात पुराणके विषयमें भी कही जा सकती है । सभी दृष्टियोंसे वेद और पुराणमें समानता* है, इसलिये वेदकी भाँति पुराणका भी मुख्य अर्थ विवक्षित ही है ।

---

* ग्रन्थकारने तृतीय परिच्छेदमें पुराणोंको वेद सिद्ध किया है और स्मृति तथा पुराणोंमें विरोध होनेपर स्मृतियोंको ही दुर्बल बताया है । साथ ही उन्होंने पुराणोंको वेदोंसे भी अधिक आदरणीय सिद्ध किया है । यथा— 'इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।' 'स्मृतिपुराणविरोधे पुनः पुराणान्येव बलीयांसि ।' 'वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने । वेदः प्रतिष्ठितो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके बाद, महान् प्रायश्चित्तका विधान करनेवाली स्मृतियोंके साथ विरोध होनेपर नामकीर्तनविषयक वचनोंको जो लोग अर्थवाद मानते हैं उनके मतका विरोध किया गया है और बड़े विस्तारके साथ अर्थवादताका खण्डन करके अन्तमें यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि नामकीर्तन-विषयक वचन भी विधिवाक्य हैं अतः उनका अर्थ विवक्षित, प्रामाणिक एवं सर्वथा माननीय है। इस प्रकार अनेकों शङ्का-समाधानोंके द्वारा प्रथम परिच्छेदकी समाप्तितक यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित ही है।

द्वितीय परिच्छेदमें इस बातपर विचार किया गया है कि 'नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका साधक है या किसी दूसरे (व्रतादि) साधनका अङ्ग होकर?' इस प्रश्नको लेकर अपने परिमित तर्कों और प्रमाणोंके आधारपर बड़े ही आटोपके साथ पूर्वपक्षीने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि पुराण-कथित नामकीर्तन और स्मृतिप्रतिपादित व्रत आदि परस्पर समुच्चित होकर (एक साथ मिलकर) ही

देवि पुराणे नात्र संशयः।' इत्यादि। इतना ही नहीं, वेदोंकी ही भाँति पुराण भी अनादिसिद्ध हैं—इसके समर्थनमें ग्रन्थकार कहते हैं—'कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः। व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥' इति॥ 'पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय संकलयामि' इति हि तस्यार्थः। 'मात्स्यं कौर्ममित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिबन्धना न तन्निर्माण-निबन्धनाः काठकादिवत्, आनुपूर्वीनिर्माणनिबन्धना वा।' [यहाँ दिये हुए उद्धरणोंका अर्थ पुस्तकके १७२, १७३, १७४ पृष्ठोंमें देखना चाहिये]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयके साधक होते हैं, अलग-अलग रहकर नहीं; इसके अतिरिक्त पापक्षयका मुख्य साधन स्मार्त व्रत आदि ही हैं, कीर्तन तो उन्हींका अङ्ग होकर पापक्षयका साधक माना जाता है।

उक्त मतका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि 'केवल नामकीर्तन ही पापक्षयका प्रधान साधन है, उसका न तो किसीके साथ समुच्चय है और न वह किसीका अङ्ग ही है। अपने मतकी पुष्टिके लिये सिद्धान्तीने अनेकों सुदृढ़ तर्कों और सुन्दर युक्तियोंके साथ ही श्रीमद्भागवत, नृसिंह-पुराण, स्कन्दपुराण आदि नाना शास्त्र-ग्रन्थोंसे बहुत-से प्रबल प्रमाणवचनोंका उदाहरण दिया है और अजामिल-उद्धार आदि अनेकों प्रासङ्गिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया है। इसपर यह आक्षेप होता है कि 'केवल नामकीर्तन पापक्षयका साधक है' इस वाक्यमें केवल शब्दका क्या तात्पर्य है? क्या पापक्षयके लिये नामकीर्तनके सिवा दूसरा साधक है ही नहीं? या [स्मृतियोंमें] जो पापनाशके दूसरे-दूसरे साधन बताये गये हैं उनसे कार्य नहीं सिद्ध होता?' इस आक्षेपके उत्तरमें सिद्धान्तीने कैवल्य (केवल शब्दके तात्पर्य) को विस्तारके साथ समझाया है और बताया है कि 'केवलका अर्थ पुष्कल अर्थात् निरपेक्ष है।' भाव यह कि पापक्षयमें नामकीर्तन पुष्कल कारण है। पुष्कल कारण उसे कहते हैं जिसकी उपस्थिति होते ही कार्य अवश्य सिद्ध हो जाय। अन्य साधनोंसे तुरन्त पापक्षय नहीं होता, परन्तु कीर्तन करते ही पापोंका नाश हो जाता है। निमित्त कारण ही पुष्कल कारण हुआ करता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, पापक्षयमें कीर्तन निमित्त कारण ही है। 'केवल निमित्त कारणसे ही कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती' ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्रकाशके संयोगमात्रसे [जो निमित्त कारण ही है] अन्धकारकी निवृत्ति देखी जाती है। इसके वाद, जिन वचनोंके आधारपर पूर्वपक्षीने कीर्तनको अन्य कर्मोंका अङ्ग कहा है, उनका अपने मतके अनुकूल अर्थ करते हुए सिद्धान्तीने उन वचनोंकी संगति दिखायी है और प्रसंगानुसार यह भी वताया है कि 'श्रवण-कीर्तनादि नव प्रकारकी भक्तियोंमेंसे प्रत्येकसे ही पापक्षयादि सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती है तथा यज्ञादि कर्मरूप प्रायश्चित्तोंसे पाप क्षीण हो जायँ तो भी उनसे अधर्मकी वासनाका नाश नहीं होता।'

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि—अधर्म क्या वस्तु है जिसकी वासना कर्मसे नहीं मिट सकती? क्या हिंसादि कर्म अधर्म हैं? या उनसे उत्पन्न संस्कार अधर्म है अथवा और कोई वस्तु अधर्म है? यदि कहें हिंसादि कर्म ही अधर्म हैं तो ठीक नहीं; क्योंकि हिंसादि कर्म तो हो जानेपर स्वयं ही निवृत्त हो जाते हैं, उनके नाशके लिये अन्यान्य प्रायश्चित्तोंकी आवश्यकता नहीं है। यदि कहें उन कर्मोंसे उत्पन्न संस्कार अधर्म है, तो ठीक है, परन्तु उस संस्कारकी भी कोई दूसरी वासना (संस्कार) है—यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि संस्कारका भी संस्कार मानें तो इस परम्पराका कहीं अन्त न होनेके कारण अनवस्था-दोष आ जायगा। यदि कहें कर्म और संस्कारके अतिरिक्त ही कोई वस्तु अधर्म है तो इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः धर्म और अधर्म केवल संस्काररूप ही हैं, इनकी कोई दूसरी वासना नहीं होती। इसलिये अधर्मको तो कर्मरूप प्रायश्चित्तसे दूर किया ही जा सकता है, फिर नामकीर्तनमें कोई विशेष्यता नहीं रही।

पूर्वपक्षीके उत्तरमें सिद्धान्ती तर्कों, युक्तियों, प्रमाणों और पूर्ववर्ती आचार्योंकी सम्मतिका उल्लेख करते हुए कहता है कि धर्म और अधर्म दोनों ही संस्कारसे भिन्न वस्तु हैं और संस्कारके जनक हैं; अतः कर्मरूप प्रायश्चित्तसे अधर्मका नाश होनेपर भी उसके संस्कारका नाश नहीं होता। अथवा सभी विहित (अग्निहोत्रादि) और निषिद्ध (हिंसादि) कर्मोंके दो-दो संस्कार होते हैं। उनमेंसे एक संस्कार स्वर्ग-नरकादिका हेतु होता है और दूसरा संस्कार वासनारूपसे नूतन [पाप-पुण्यादि] कर्मोंको करानेवाला होता है। अतः निषिद्ध कर्मोंके जो दो संस्कार होते हैं उनमेंसे नरककी प्राप्ति करानेवाला संस्कार तो यज्ञादि कर्मरूप प्रायश्चित्तसे निवृत्त हो जाता है परन्तु वासनारूपसे नूतन पाप करानेवाला संस्कार नहीं मिटता। भक्तिसे दोनों ही प्रकारके संस्कार मिट जाते हैं इस प्रकार भक्तिकी श्रेष्ठता बताते हुए अन्तमें यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि 'नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका कारण है।'

तृतीय परिच्छेदका मुख्य विषय तो, जैसा कि पहले बता आये हैं, इस बातका विचार करना है कि, 'नामकीर्तनमें श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और देश-काल आदिकी अपेक्षा है या नहीं?' किन्तु इस प्रसंगको उपस्थित करनेके लिये कुछ और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहलेसे विचार आरम्भ करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि 'स्मार्त प्रायश्चित्त और भक्ति (नामकीर्तनादि) परस्पर समुच्चित होकर (एक साथ मिलकर) ही पापक्षयके साधन होते हैं' उनके इस मतका द्वितीय परिच्छेदमें खण्डन किया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा होती है कि 'स्मृति और पुराणोंका विरोध दूर करनेके लिये यदि समुच्चयका आश्रय लेना इष्ट नहीं है तो व्यवस्था और विकल्प—इन दोनोंमेंसे किसी एकका आश्रय अवश्य लेना चाहिये; अतः किसका आश्रय लिया जाय?' इस विषयको स्पष्ट समझनेके लिये व्यवस्था और विकल्पका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। 'अमुक विशेष्यता रखनेवाले मनुष्यका नामकीर्तनमें अधिकार है और उससे भिन्न व्यक्तिका स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदिमें अधिकार है' इस प्रकारका नियम करना व्यवस्था है। तथा 'प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार नामकीर्तन अथवा स्मृतिकथित द्वादशाब्द (बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले) व्रत आदि किसी भी प्रायश्चित्तका आचरण कर सकता है' ऐसा मानना विकल्प है।

यद्यपि पहले दो परिच्छेदोंकी भाँति यहाँ भी पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष—ये ही दो पक्ष हो सकते हैं, तथापि पूर्वपक्षमें भी विभिन्न प्रकारकी शङ्काओंका उल्लेख होनेके कारण हमने स्पष्ट समझानेके लिये पूर्वपक्षमें ही चार पक्षोंकी कल्पना कर ली है। जैसे (१) पूर्वपक्ष नम्बर १, (२) पूर्व-पक्ष नम्बर २, (३) मध्यमपक्ष और (४) न्यायवेत्ताओं-द्वारा की हुई व्यवस्था। इसके बाद सिद्धान्तपक्ष है। पूर्वोक्त प्रश्नको लेकर पूर्वपक्षी नम्बर १ कहता है कि पापक्षयके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये जो पुराणोक्त नामकीर्तन आदि साधन बताये गये हैं वे बहुत ही सुकर हैं और स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदि साधन बहुत कठिन है। ऐसी दशामें यदि यहाँ विकल्पका आश्रय लिया जाय तो कोई भी सुकर साधनको छोड़कर कठिन साधनमें प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिये स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदि कठिन साधनोंमें किसीकी भी प्रवृत्ति न होनेके कारण स्मृतियोंका अत्यन्त बाध हो जायगा, इसलिये स्मार्त और पौराणिक प्रायश्चित्तोंमें विकल्प न मानकर व्यवस्था ही माननी चाहिये। व्यवस्था माननेसे विशेष अधिकारीकी ही कीर्तनमें प्रवृत्ति हो सकती है; अतः उससे भिन्न व्यक्तियोंके लिये स्मार्त प्रायश्चित्तोंका भी उपयोग हो सकता है। कुछ लोग जो ऐसी व्यवस्था करते हैं कि 'जान-बूझकर किये हुए प्रकट महापापोंके क्षयके लिये तो स्मार्त प्रायश्चित्तका ही आचरण करना चाहिये और जो बिना जाने ही छोटे-छोटे गुप्त पाप हो जाते हैं उनके नाशके लिये स्मार्त व्रत आदि या नामकीर्तन कोई भी प्रायश्चित्त स्वेच्छानुसार कर लेना चाहिये।' सो यह व्यवस्था अप्रामाणिक है; क्योंकि—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

(जितने भी तपःकर्मरूप प्रायश्चित्त हैं, उन सबकी अपेक्षा भगवान् कृष्णका स्मरण-कीर्तन आदि ही श्रेष्ठ है)। इत्यादि वचनमें छोटे-बड़े सभी पापोंके लिये कृष्णस्मरणको ही मुख्य प्रायश्चित्त बताया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस कथनपर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी नं० २ कहता है कि 'ऊपर उद्धृत किया हुआ वचन कीर्तनके महापाप-निवर्तक होनेमें प्रमाण नहीं है; क्योंकि यहाँ कृष्णानुस्मरण शब्दसे ब्रह्मविद्याका ग्रहण होता है। कृष्णका अर्थ है ब्रह्म और अनुस्मरणका अर्थ है निदिध्यासन। निदिध्यासन पापक्षयके द्वारा अन्तः शुद्धि कराता हुआ ही ब्रह्मात्मबोधका जनक होता है।' इस मतका विरोध करते हुए मध्यमपक्षी अपनी सम्मति यों प्रकट करता है—कृष्ण शब्द श्रीश्यामसुन्दर यशोदानन्दनके अर्थमें ही रूढ (प्रसिद्ध) है, यौगिक अर्थ लेनेसे भी कृष्ण शब्दसे उन गोपीवल्लभ श्रीकृष्णका ही ग्रहण होता है, उनके 'स्मरण'का तात्पर्य यहाँ कीर्तनसे है; क्योंकि इसके अगले श्लोकमें कीर्तनकी ही प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार पूर्वपक्षी नं० २ के मतका खण्डन करके मध्यमपक्षीने भी गुरु-लघु आदि पापोंके भेदसे की हुई पूर्वोक्त व्यवस्थाका विस्तारपूर्वक खण्डन किया है और अपने मनोऽनुकूल न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्थाका उल्लेख किया है॥

वह व्यवस्था इस प्रकार है—जिनकी पुराण-वचनोंमें अटल श्रद्धा है, जो भगवान्‌के परम भक्त हैं अथवा जो भगवत्तत्त्वके ज्ञानी हैं, उन्हींका श्रवणकीर्तनादिमें अधिकार है, श्रवण अथवा कीर्तनादिके द्वारा उन्हींके समस्त पापोंका नाश हो सकता है। इनसे भिन्न मनुष्योंका स्मार्त प्रायश्चित्तमें ही अधिकार है, कीर्तनमें नहीं। तात्पर्य यह कि कीर्तनमें अधिकार रखनेवालेके श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान आदि विशेषण हैं। इस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिये अनेकों प्रमाणों और युक्तियोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि भक्ति भी शृङ्गार, वीर आदि रसोंकी भाँति एक 'रस' है। फिर उसके आलम्बन-उद्दीपन विभावों, अनुभावों तथा स्थायी एवं संचारी भावोंका भी उदाहरणसहित निरूपण किया गया है। आगे चलकर एक बार और अनेक बार कीर्तनका विधान करनेवाले पौराणिक वचनोंका विरोध दूर करनेके लिये यह व्यवस्था की गयी है, जिसको पाप करनेपर पश्चात्ताप हो वह एक ही बारके कीर्तनसे अपने पापोंका क्षय कर सकता है, किन्तु जो पश्चात्ताप नहीं करता, उसे अपने पापोंका क्षय करनेके लिये अनेकों बार कीर्तन करना चाहिये। इसके बाद 'सङ्केत और परिहासमें भी भगवन्नामका उच्चारण करनेसे जो पापोंका नाश बताया गया है उसमें किसका अधिकार है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह व्यवस्था दी गयी है कि 'जो मरणासन्न हो वही सङ्केत आदिमें नामोच्चारण-का अधिकारी है, उसके ही लिये श्रद्धादिरहित उच्चारण भी सफल हो सकता है।'

इसके पश्चात् सिद्धान्तपक्षका आरम्भ होता है। सिद्धान्ती कहता है कि 'स्मृति और पुराणोंमें विरोध होनेपर व्यवस्था आदिका समावेश नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंकी प्रमाणता एक-सी नहीं है। वेदके ही अर्थका अनुसरण करनेवाले महर्षिवचन 'स्मृति' कहलाते हैं, किन्तु पुराण साक्षात् वेद ही हैं; इसलिये पुराणोंके साथ विरोध होनेपर स्मृतियाँ ही दुर्बल मानी जायँगी। अतः स्मार्त और पौराणिक साधनोंमें विकल्प मानना ही उचित है। यदि सुकर होनेके कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणोक्त साधनोंमें ही सभीकी प्रवृत्ति हो जानेसे स्मृतियाँ बाधित हो जाती हैं तो भले ही हो जायँ, परन्तु पुराणोंका स्वारस्य-भङ्ग करके व्यवस्थाका प्रस्ताव कैसे किया जा सकता है ? जिन पौराणिक वचनोंसे व्यवस्थाका आभास होता है वे मुमुक्षु-विषयक हैं और मुमुक्षुमें अवस्था-भेदसे कर्म, भक्ति एवं ज्ञानादिका समावेश विरुद्ध नहीं होता।' इसके बाद, सिद्धान्तीने 'कीर्तनमें श्रद्धालु और भक्तिमान्का ही अधिकार है,' 'भावोदयसे पूर्वके पापोंका स्मार्त प्रायश्चित्तसे नाश होता है और भावोदयसे पश्चात्के पापोंका कीर्तनसे' इत्यादि व्यवस्थाओंका खण्डन किया है। फिर व्यवस्थावादीके द्वारा उद्धृत किये हुए वचनोंका अपने सिद्धान्तके अनुकूल समन्वय करके महात्माओंके प्रभावका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें बता दिया है कि 'पापक्षयके लिये किये जानेवाले कीर्तनमें श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान आदिका होना अनिवार्य नहीं है।' इसके बाद एक बार और अनेक बारके कीर्तनसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त व्यवस्थाका खण्डन करते हुए यह बताया गया है कि 'शास्त्रोंमें जहाँ कीर्तनसे पापक्षयमात्र फल अभीष्ट है वहाँ एक बार कीर्तन करनेका आदेश है और जहाँ मोक्ष अभिप्रेत है वहाँ अनेक बारके कीर्तनकी विधि है। एक बारके कीर्तनसे प्रारब्धभिन्न सम्पूर्ण प्राचीन पापोंका नाश हो जाता है और कीर्तनकी आवृत्तिसे वासनाका नाश होकर भविष्यमें भी पापोंसे सम्पर्क नहीं होता तथा प्रारब्धका भी धीरे-धीरे क्षय होकर क्रमशः मुक्ति प्राप्त हो जाती है।' इसी मान्यताके अनुसार आवृत्ति तथा अनावृत्तिविषयक वचनोंकी भी व्याख्या की गयी है। आगे मरणासन्न पुरुषके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्थाका खण्डन करते हुए यह बताया गया है कि 'कीर्तन सदा और सभीके लिये महान् फल देनेवाला है, मृत्युकाल होनेसे कीर्तनमें कोई विशेष्यता नहीं आती। हाँ, मरणासन्न पुरुषके लिये वह कीर्तनका अन्तिम अवसर है, उस समय यदि वह कीर्तन न करे तो महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है। परन्तु भगवत्सालोक्य आदि फल देनेवाली जो उपासनाएँ हैं उनमें मृत्युकालकी प्रधानता है, क्योंकि उस समयकी भावनाके अनुसार ही उनसे फल-प्राप्ति होती है। इस विषयमें 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति।' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रयाणकाले मनसाचलेन०' इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। किन्हीं-किन्हीं वचनोंमें जो ग्रहण आदि विशेष काल और पर्वत आदि विशेष देशका उल्लेख मिलता है, वह देशकालादि सकाम पुरश्चरणादि कर्मोंका अङ्ग है। कीर्तनमें इनका होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार पापक्षय-साधक कीर्तनमें मनःसंयमादि प्रत्याहारधर्मोंका भी होना अनिवार्य नहीं है, जहाँ कीर्तनके अङ्गरूपसे इनका उल्लेख मिले वहाँ 'कीर्तन' शब्दसे मोक्षसाधक कीर्तन समझना चाहिये, क्योंकि उसमें श्रद्धा, भक्ति, मनःसंयमादि सभी धर्मोंका उपयोग हो सकता है। पापक्षय तो एक बारके कीर्तनसे ही हो जाता है, भले ही वह कीर्तन श्रद्धासे हो या अश्रद्धासे, कोई बन्धन नहीं है।'

कीर्तनसे मोक्ष-प्राप्तिका क्रम यों है—एक बारके कीर्तनसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय हो जाता है, फिर कीर्तनकी आवृत्तिसे कीर्तनविषयक वासनाओंकी वृद्धि और पाप-वासनाओंकी हानि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती जाती है, इससे निरन्तर भगवद्भक्तोंकी सेवामें मन लगता है। इसके बाद उन भक्त महात्माओंके मुखसे वर्णित महिमावाले भगवान् नारायणमें नैष्ठिक भक्ति होती है। इससे शोक आदिका अत्यन्त नाश हो जाता है फिर सत्त्वगुणका उद्रेक और उससे भगवत्तत्त्वका बोध होता है, जिससे परमानन्दमयी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान्के अमुक नाम या मन्त्रका अमुक प्रकारसे ही कीर्तन करना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है। अपनी जानकारीके अनुसार द्वादशाक्षरादि मन्त्र या किसी भी नाम अथवा लीलाका कीर्तन किया जा सकता है। भगवान्के सभी नामोंका अनन्त प्रभाव है, किसीका भी सहारा लेनेसे पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है। जिस प्रकार एक कल्पवृक्ष या एक चिन्तामणिसे जितनी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है उतनी ही बहुत-से कल्पवृक्ष और मणियोंसे भी होती है। उसी प्रकार भगवान्के एक नामके कीर्तनसे अथवा अनेकों विभिन्न नामोंके कीर्तनसे भी समानरूपसे ही पुरुषार्थ-सिद्धि होती है, फलमें कोई अन्तर नहीं आता। किन्तु जप और कीर्तनमें इतना अन्तर अवश्य है कि किसी भी नामके एक बार कीर्तनसे प्रारब्धातिरिक्त सम्पूर्ण पापोंका क्षय होता है और अनेक बार जपसे वह नाम क्रमशः मोक्षका साधक हो जाता है। यदि कहें, भगवान्के अनन्त नामोंमेंसे किसी-न-किसी नामका सभी उच्चारण कर लेते होंगे; अतः सबके पापोंका नाश हो जानेसे नरककी सृष्टि ही व्यर्थ हो जायगी, तो ठीक नहीं; क्योंकि एक बारके उच्चारणसे प्राचीन पापोंका क्षय हो जानेपर भी नूतन पापकर्म होना सम्भव है। सभी लोग कीर्तनकी आवृत्ति ही कर लेंगे—ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि दैववश महात्माओंका अपमान हो गया तो उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये भी नरकमें गिरना सम्भव है। महात्माओंके अपमानसे होनेवाला पाप उन महात्माओंकी कृपा अथवा भोगसे ही क्षीण होता है; अतएव जय-विजयको भी कुछ कालके लिये वैकुण्ठसे नीचे आना पड़ा था। 'कीर्तन सुकर होनेसे सभीकी उसीमें प्रवृत्ति हो जानेके कारण स्मृतियाँ बाधित हो जायँगी' ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, जो लोग दुर्वासनाओंसे आबद्ध हैं वे प्रायः भगवान्‌से विमुख ही होते हैं, उनकी स्मार्त प्रायश्चित्तोंमें ही रुचि हो सकती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि पापक्षयसाधक कीर्तनके लिये श्रद्धा, भक्ति, अभ्यास, ज्ञान, वैराग्य तथा विशेष देश, काल आदिकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। यदि ये हों तो कोई आपत्ति भी नहीं है। इस कथनसे श्रद्धा आदिकी उपेक्षा नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धा, भक्ति, अभ्यास और वैराग्य आदिसे युक्त होकर कीर्तनकी आवृत्ति करनेसे भगवत्‌प्राप्तिरूप चरम लक्ष्य मोक्षकी सिद्धि होती है—ऐसा बताया जा चुका है। इस प्रकार विशदरूपसे सिद्धान्तपक्षका विवेचन करके मङ्गलाचरणके द्वारा इस ग्रन्थकी समाप्ति हुई है।

अन्यान्य शङ्काओंका समाधान

कुछ लोग कहते हैं 'जैसे 'दवा' का नाम लेनेमात्रसे रोग दूर नहीं होता, 'चीनी' कहनेसे ही मुँह मीठा नहीं होता, 'तलवार' का उच्चारण करनेसे ही जीभ नहीं कट जाती, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम लेनेमात्रसे पाप-क्षय नहीं हो सकता, फिर नाम-कीर्तन क्यों किया जाय ?' इसके उत्तरमें कई बातें कही जा सकती हैं। पहली बात यह कि 'दवा' और 'चीनी' आदि जड़ वस्तुका नाम है, अतः नाम लेनेसे उसकी उपस्थिति नहीं होती, परन्तु चेतनका नाम लेनेसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी उपस्थिति देखी जाती है। जैसे लोकमें 'देवदत्त' कहकर पुकारनेसे देवदत्त नामवाला मनुष्य उपस्थित हो जाता है और आवश्यक कार्य पूर्ण करता है, उसी प्रकार भगवान्का नाम लेनेसे भगवान्की उपस्थिति हो जानेके कारण पाप-क्षयादि कार्योंकी सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त देवदत्त तो अन्यत्र रहता है, इसलिये पुकारनेसे आता है, परन्तु भगवान् तो सर्वत्र हैं; अतः सर्वदा उपस्थित रहते हैं, नाम लेनेसे उनकी कृपादृष्टिमात्र होती है। यदि कहें, क्या भगवान् विषमदृष्टि रखनेवाले हैं, जो नाम लेनेवालोंपर ही कृपादृष्टि करते हैं, औरोंपर नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे कल्पवृक्ष सबपर समानरूपसे छाया करता है, समानरूपसे सबकी कामनाएँ पूर्ण करता है, तो भी जो उसके पास जाता है वही उससे लाभ उठाता है। उसी प्रकार भगवान्की तो सबपर समानरूपसे कृपा है, किन्तु जो नाम-कीर्तन आदिके द्वारा भगवान्का सहारा लेता है वही उनकी कृपाका अनुभव करता है। यदि सामने रसका समुद्र ही लहराता हो और कोई संतप्त पुरुष मोहवश उसमें डुबकी न लगाये तो समुद्रका क्या दोष है?

दूसरी बात यह है कि रोग दूर करनेमें दवा ही कारण है, दवाका नाम नहीं। परन्तु पाप-क्षयमें भगवान्का नाम भी कारण है। यदि कहें 'नाम' तो केवल शब्दमात्र है उससे क्या कार्य सिद्ध होगा? तो यह ठीक नहीं; क्योंकि गाली और निन्दा शब्दद्वारा ही होती है, जिससे मार-पीटकी नौबत आ जाती है और स्तुति-प्रशंसा भी शब्दद्वारा ही की जाती है, जिसको सुनकर कितने ही अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। काव्यरचना भी शब्दोंद्वारा ही होती है, जिससे नव प्रकारके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसोंका आस्वाद होता है। दुर्जनोंकी वाणीसे हृदय व्यथित हो जाता है। प्रियतमके शब्दोंको सुनकर मानसमें आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं। ऐसा क्यों होता है? क्या इससे शब्दोंमें प्रभावोत्पादक शक्तिकी कल्पना नहीं होती? इसी प्रकार भगवन्नामोंमें भी पापक्षयादिकी शक्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। शास्त्र तो इसका समर्थन करते ही हैं। भगवन्नामोंमें तो भगवान्से भी बढ़कर शक्ति है!

कुछ लोगोंका कहना है 'श्रद्धा या मनकी एकाग्रताके विना कीर्तन हो ही नहीं सकता, यदि होता है तो निष्फल। एकाग्रता और श्रद्धा सबके लिये सुलभ नहीं; अतः कीर्तन सर्वोपयोगी नहीं हो सकता।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे भोजन करते समय मनमें अन्यान्य बातें सोचते रहनेपर भी आगेकी परोसी हुई रसोई समाप्त हो ही जाती है और उस अन्नसे भूख भी मिट ही जाती है, इसी प्रकार मनकी एकाग्रता और श्रद्धाके अभावमें कीर्तन और जप आदि हो ही सकते हैं और उनका फल भी मिल ही सकता है। यह दूसरी बात है कि श्रद्धा और एकाग्रताका कीर्तन और जप आदिमें बहुत बड़ा उपयोग है। अस्तु।

ग्रन्थकारका परिचय

भगवन्नामकौमुदी भक्तिसाहित्यका अनुपम और अनूठा दार्शनिक ग्रन्थ है। स्वनामधन्य विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधरजी इस ग्रन्थरत्नके रचयिता हैं। ये मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् तथा न्याय और वेदान्तके पारङ्गत पण्डित थे। इनके पिताका नाम श्रीनृसिंहजी था। ग्रन्थकी समाप्तिके सङ्कल्प-वाक्यमें 'श्रीनृसिंहसूनोर्लक्ष्मीधरस्य कृतौ' इस प्रकार ग्रन्थकार और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके पिताके नामका स्पष्ट उल्लेख है। परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीअनन्तानन्दजी इनके गुरु थे। ग्रन्थके प्रारम्भिक मङ्गलश्लोकोंमें तथा अन्यत्र भी ग्रन्थकर्ताने अपने इन गुरुदेवका बड़ी भक्तिके साथ उल्लेख एवं स्मरण किया है। इन महानुभावने कब और किस भूभागको अपने जन्मसे अलंकृत किया था? इसका इनके ग्रन्थमें स्पष्ट उल्लेख न होनेके कारण निश्चित उत्तर देनेमें कठिनाई पड़ती है तथापि हमने इस विषयमें जो कुछ विचार किया है उसे पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत किया जा रहा है।

श्रीरूपगोस्वामीके भक्तिरसामृतसिन्धुमें भगवन्नामकौमुदीकारके मतका प्रमाणरूपमें उल्लेख किया गया है—

श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः।
रसप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्तितः॥
रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ।

अर्थात् 'श्रीधर स्वामीने रस-वर्णनके प्रसङ्गमें प्रेम-भक्तिको ही प्रधान रस बताया है। भगवन्नामकौमुदीके रचयिताने भी प्रेम-भक्तिका स्थायिभाव रति (अनन्य अनुराग) बताकर उसे ही उत्तम रस माना है।'

यहाँ भगवन्नामकौमुदीकारके जिस मतकी ओर संकेत किया गया है वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

'अत्र भक्तिशब्देन भगवदालम्बनो रत्याख्यः स्थायी भावोऽभिधीयते।' 'स चायमाद्यो भावः····विभावादिभी रसरूपतामापाद्यमानो निजस्वसंविदा निर्भरमालिङ्गितः स्वयमेवानन्दसंविदभिधान-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुपचारासहं दधानो भक्तिरित्यभिधीयते ।'

(भगवन्नामकौमुदी पृष्ठ १२४-१२५ तथा १३७)

भक्तिरसामृतसिन्धुके उपर्युक्त श्लोकसे सामान्यतः यही अनुमान होता है कि 'नामकौमुदीकारका समय श्रीरूप गोस्वामीके पूर्व और श्रीधर स्वामीके बाद होना चाहिये।' श्रीरूपने शक-संवत् १४६२ में भक्तिरसामृतसिन्धुका प्रणयन किया था। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तर्धानके लगभग आठ वर्ष पूर्व उन्होंने 'विदग्धमाधव' नामक नाटककी रचना की थी। कविवर कर्णपूरके स्वरचित चैतन्यचन्द्रोदयनामक नाटककी समाप्तिमें चैतन्य महाप्रभुका आविर्भावकाल शक-संवत् १४०७ बताया गया है। महाप्रभु प्रायः ४८ वर्षकी अवस्थातक इस धराधामपर विराजमान थे। अतः उनके अन्तर्धानका समय शक-संवत् १४५५ निश्चित होता है, इससे आठ वर्ष पूर्व अर्थात् १४४७ में विदग्धमाधव नाटककी रचना हो गयी थी। अतः श्रीरूप-गोस्वामीका ग्रन्थप्रणयनकाल अनुमानतः १४४५ से १४७० तक माना जा सकता है। गौडेश्वरकी नौकरी छोड़कर महाप्रभुका शिष्य होनेके बाद ही उन्होंने ग्रन्थरचना आरम्भ की होगी; अतः उस समय यदि उनकी अवस्था लगभग २८ वर्षकी मानी जाय तो उनका जीवनकाल शक-संवत् १४१७ से लेकर १४८७ के लगभगतक माना जा सकता है। अतः इससे पहले अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दीसे पूर्व ही नाम-कौमुदीकारका समय मानना उचित है। भागवत-सन्दर्भमें भी उक्त ग्रन्थका नाम आता है, इससे भी उक्त मतकी ही पुष्टि होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब यह जिज्ञासा होती है कि नामकौमुदीकारको रूप गोस्वामीके निकट पूर्ववर्ती मानें या सुदूर पूर्ववर्ती। भगवन्नाम-कौमुदीके मङ्गलश्लोकोंको देखनेसे हमें एक विशेष प्रकारका संकेत मिलता है, जिसके आधारपर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि श्रीलक्ष्मीधरजी रूप गोस्वामीसे सुदूरपूर्ववर्ती भागवतके विख्यात टीकाकार श्रीश्रीधर स्वामीके समसामयिक एवं महाराष्ट्र-प्रान्तीय ब्राह्मण थे और श्रीधर स्वामीके सत्संग तथा सदुपदेशों का उनपर बहुत प्रभाव पड़ा था। संभव है, हमारी यह धारणा कुछ विद्वानोंको मान्य न हो, परन्तु हमें इस विषयमें कोई संदेह नहीं जान पड़ता।

भगवन्नामकौमुदीमें नाम-महिमाका ही विवेचन है इसलिये ग्रन्थकारने पहले मङ्गलश्लोकमें 'जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम' कहकर हरिनामका अभिनन्दन किया है। इसके बाद क्रमशः भगवान् विष्णु, शिव और गुरुकी वन्दनासे संबन्ध रखनेवाले श्लोक मिलते हैं। भगवान् विष्णुके विषयमें तीन श्लोक हैं—जिनमें तीन नामोंद्वारा उनका स्तवन किया गया है। पहलेमें '...... स जयति श्रीपुण्डरीकप्रियः' दूसरेमें '........मनसि नृसिंहः समुल्लसतु' और तीसरेमें '......श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः' इस प्रकार उल्लेख किया गया है। पहले श्लोकके सांकेतिक नामसे हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि भगवन्नामकौमुदीकार महाराष्ट्रप्रान्तके निवासी ब्राह्मण थे और उनका वासस्थान पण्ढरपुर या उसके आस-पासके किसी गाँवमें था। भगवान् पाण्डुरङ्ग (विट्ठल) उनके उपास्य देव थे। 'पुण्डरीकप्रियः' शब्द भगवान् विट्ठलका ही बोध कराता है। उन्हींके विषयमें यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्धि है कि 'भगवान् विष्णु अपने प्रिय भक्त पुण्डरीक* के ऊपर प्रसन्न हो उन्हें अभिमत वर देनेके लिये वहाँ प्रकट हुए और भक्तकी प्रार्थनासे भगवान्ने वहाँ अपना नित्य-निवास बना लिया।' †

नामकौमुदीकारके महाराष्ट्रप्रान्तीय होनेमें दूसरा प्रमाण यह भी है कि मीमांसकाग्रगण्य विद्वद्वर श्रीआपदेवजीके पुत्र श्रीअनन्तदेवजीने भगवन्नामकौमुदीकी 'प्रकाश' नामक संस्कृत टीका लिखी है। अनन्तदेवजी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। किसी भी पुस्तकका प्रचार पहले अपने प्रान्तमें होता है फिर अन्यत्र। इस दृष्टिसे सर्वप्रथम महाराष्ट्रीय विद्वान्के द्वारा ही इसकी टीका लिखी जानी संभव थी।

दूसरे श्लोकके सांकेतिक नामसे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारने नृसिंहरूपमें भगवान्का चिन्तन करते हुए व्याजसे अपने पिताका भी स्मरण और नामोल्लेख किया है। विष्णु-विषयक तीसरे श्लोकमें अर्थश्लेष अलङ्कारके द्वारा विद्वान् ग्रन्थकारने भगवान् श्रीधर और श्रीधरस्वामीका स्तवन किया है। केवल 'श्रीधर' नामकी समानता होनेसे ही 'श्रीधर' शब्दसे श्रीधर स्वामीका ग्रहण कर लिया गया हो—ऐसी बात नहीं है। हम नामकौमुदीकारको श्रीधर स्वामीके सिद्धान्तों और विचारोंके इतना निकट इतना अनुकूल पाते हैं, मानो इस ग्रन्थके प्रणयनमें

---

* भक्तवर पुण्डरीककी कथा श्रीनृसिंहपुराणमें वर्णित है।

† महायोगपीठे तटे भीमरथ्या वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं परब्रह्मलिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम्॥
(पाण्डुरङ्ग-स्तोत्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनका भी हाथ रहा हो। नामकौमुदीकार भी श्रीधर स्वामीके समान ही अद्वैतवादके पोषक होनेपर भी परमभक्त जान पड़ते हैं। 'भक्तिके द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होकर मोक्ष होता है,' इस मान्यतामें भी ये श्रीधर स्वामीके ही समान हैं। 'प्रेम-भक्ति ही सब रसोंमें उत्तम रस है' यह मत श्रीधर स्वामीकी ही भाँति श्रीलक्ष्मीधरको भी मान्य है--यह पूर्वोक्त भक्तिरसामृतसिन्धुके श्लोकसे ही स्पष्ट है। इतना ही नहीं, श्रीधर स्वामी अपने ग्रन्थमें नामकीर्तनविषयक वचनोंकी अर्थवादताका जिस प्रकार निराकरण करते हैं * उसी प्रकार उसी शैलीसे भगवन्नामकौमुदीमें भी अर्थवादताका खण्डन किया गया है †। अन्तर इतना ही है कि श्रीधरीमें संक्षिप्त विचार किया गया है और नाम-कौमुदीमें पल्लवित। श्रीधर स्वामीने प्रमाणरूपसे जिन वेद-मन्त्रों और पौराणिक वचनोंको उद्धृत किया है, वे सभी मन्त्र और श्लोक भगवन्नामकौमुदीमें भी उपलब्ध होते हैं। कई स्थलोंपर तो शब्द और वाक्य एक-से जान पड़ते हैं। यथा—

'मन्त्रार्थवादानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम्' (श्रीधरी)

'मन्त्रार्थवादयोस्तु स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव' (भ० कौ०)

'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे' 'आस्य जानन्तो नाम चिद्विवित्तन' (श्रीधरी और भगवन्नामकौमुदी)

---

* देखिये—श्रीधरीटीका श्रीमद्भागवत ६। २। ८

† देखिये—भगवन्नामकौमुदी पृष्ठ १६ से आगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'स्वस्त्ययनं मोक्षसाधनम्' (श्रीधरी) 'स्वस्तिशब्देनात्र मोक्षोऽभिधीयते' (भ० कौ०) । 'चतुरक्षरमित्यनेनाधिक्यं च दर्शितम्' (श्रीधरी) 'चतुरक्षरमिति संख्याकथनस्य चाधिकमिदमित्यभिप्रायः ।' (भ० कौ०) 'अलंशब्दोऽत्र वारणे' (श्रीधरी) निवारणवचनोऽयमलंशब्दः (भ० कौ०) 'कर्मसादुगुण्यकरं हरेर्नाम (श्रीधरी) 'सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वं हरिकीर्तनस्य' (भ० कौ०) इत्यादि ।

इस प्रकार श्रीधर स्वामीके विचारोंसे प्रभावित होनेपर भी ग्रन्थकारने कहीं भी अपने ग्रन्थमें उनका नामोल्लेख नहीं किया है। यदि श्रीधर स्वामीके बहुत वर्षों बाद उनका प्रादुर्भाव हुआ होता तो जिस प्रकार अपने मतकी पुष्टिके लिये इन्होंने नामनिर्देशपूर्वक अन्य पूर्ववर्ती आचार्योंके मतका प्रमाणरूपसे उल्लेख किया है, उसी प्रकार श्रीधर स्वामीका भी नाम अवश्य लेते। किन्तु ऐसा नहीं किया। करते भी क्या? इनका मत श्रीधर स्वामीके विचारोंका व्याख्यामात्र ही तो था, इससे उनके सिद्धान्तोंका ही तो स्पष्टीकरण हो रहा था। इसीलिये बीचमें नाम न देकर इन्होंने अपने उपजीव्य स्वामी श्रीधरजीसे मङ्गलाचरणमें ही आशीर्वादकी याचना कर ली—

यदङ्घ्रिरेणुबीजानि जनैरुप्तानि मूर्धसु ।
सद्यः सुरद्रुमायन्ते श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः ॥

यहाँ 'सुरद्रुमायन्ते' इस वर्तमानकालिक क्रियाका प्रयोग होनेसे यह सिद्ध होता है कि उस समय श्रीश्रीधरजी जीवित थे। भगवन्नामकौमुदीकी रचनामें ग्रन्थकारको सबसे बड़ी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहायता अपने गुरु श्रीअनन्तानन्दजीसे मिली है, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है।*

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवन्नाम-कौमुदीकार श्रीधर स्वामीके समकालिक थे। श्रीधर स्वामीके समयमें भी मतभेद है, अभीतक कुछ निश्चित निर्णय नहीं हुआ। कुछ लोग श्रीधरका समय ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं, पर यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। यदि श्रीधर स्वामीका उक्त समय माना जाय तो वे वोपदेवसे दो या तीन सौ वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे; क्योंकि वोपदेवका समय तेरहवीं शताब्दी-का शेष भाग माना जाता है। उस समय श्रीधरी टीकाके रहते हुए यह शङ्का† नहीं उठ सकती थी कि भागवतके रचयिता श्रीवोपदेव-जी हैं। इस शङ्काके समाधानमें यह कहा जाता है कि वोपदेवके पहले वर्तमान श्रीगौड़पादाचार्य‡ और शङ्कराचार्य§के ग्रन्थमें भागवतका उल्लेख मिलता है तथा वोपदेवसे पहले भागवतपर

---

* ग्रन्थकारने गुरुदेव श्रीअनन्तानन्दजीकी बतायी हुई उक्ति-युक्तियोंसे ही पौराणिक शङ्काओंका मार्जन करनेका उल्लेख किया है, परन्तु युक्तियाँ अधिकांश श्रीधरके ग्रन्थमें देखी जाती हैं, अतः यह भी संदेह होता है कि बहुत सम्भव है, श्रीधरस्वामीका ही संन्यास-आश्रमका नाम 'अनन्तानन्द' रहा हो।

† यह शङ्का पहले कभी नहीं उठी, नहीं तो भागवतकी प्राचीन टीकाओंमें इसका निराकरण किया गया होता। यह श्रीस्वामी दयानन्दजीके मस्तिष्ककी उपज थी, जो विद्वानोंके समाधानोंसे ध्वस्त हो गयी।

‡ जगृहे पौरुषं रूपमिति भागवतमुपन्यस्तम्। (पञ्चीकरणटीका)।
तदुक्तं भागवते—श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य······। (उत्तरगीताटीका)।

§ परमहंसधर्मो भागवते पुराणे श्रीकृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः।(चतुर्दश्यमतविवेक)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हनूमान् और चित्सुख आदिकी टीकाएँ थीं, उनमें श्रीधरकी टीका-का उल्लेख नहीं है। अतः श्रीधर स्वामीका समय ईसाकी चौदहवीं शताब्दी मानना उचित है, यही भगवन्नामकौमुदीकारका भी समय हो सकता है। इस प्रकार शकवर्षगणनाके अनुसार नामकौमुदी-कारका समय तेरहवीं शताब्दी माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। गौड़ीय विद्वानोंमें इस ग्रन्थका प्रचार होनेके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि 'सम्भव है, ग्रन्थकारने कभी व्रजकी यात्रा की हो और वहाँ इनके इस ग्रन्थकी दूसरी प्रति लिखी गयी हो, वही परम्परासे रक्षित होकर श्रीरूपगोस्वामीके हाथ लगी होगी, जिससे उन्होंने अपने ग्रन्थमें इसका उल्लेख किया है।' श्रीरूप गोस्वामी व्रजमें अधिक कालतक रहे हैं—यह प्रसिद्ध ही है। इसके बाद इस ग्रन्थका अन्य विद्वानोंके ग्रन्थोंपर भी प्रभाव पड़ा। जीव गोस्वामीके ग्रन्थोंमें भी इसके वाक्य तथा मतका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थकी समाप्तिमें आये हुए 'आकृष्टिः कृतचेतसां······ मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः।' इस मङ्गल श्लोकका चैतन्यचरितामृतमें भी उल्लेख है, किन्तु 'श्रीराम' के स्थानमें 'श्रीकृष्ण' पाठ कर लिया गया है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थमें इस श्लोकको उद्धृत किया है।

इस प्रकार यह भगवन्नामकौमुदी बहुत प्राचीन होनेपर भी बहुत कालतक कहीं प्रकाशित नहीं हुई थी। विक्रम संवत् १९८४ में यह पुस्तक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पूज्यपाद श्रीदामोदरलालजी गोस्वामीद्वारा सम्पादित होकर अच्युत-ग्रन्थमाला काशीसे प्रकाशित हुई। वहाँकी पुस्तकसे ही हमने इसका अनुवाद किया है। अनुवादमें उक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोस्वामीजी महाराजकी टिप्पणियोंसे और प्रकाशनामक टीकासे भी सहायता ली है, इसके लिये हम टिप्पणीकार और टीकाकार दोनोंके ही ऋणी हैं। कुछ कठिन स्थलोंपर कलकत्ता संस्कृत-कालेजके प्रधानाध्यापक पण्डितप्रवर गुरुदेव श्रीहाराणचन्द्रजी भट्टाचार्यकी बहुमूल्य सहायता हमें प्राप्त हुई है। अनुवादके संशोधनमें मारवाड़ी संस्कृत-कालेजके प्रधानाध्यापक श्रीनारायणदत्तजी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य और श्रद्धेय भाई मुनिलालजीने अपना बहुमूल्य समय प्रदान किया है, एतदर्थ हम उपर्युक्त सभी महानुभावोंके सदा ही आभारी रहेंगे। यह सब सहायता मिलनेपर भी हमारी अल्पज्ञता और ग्रन्थकी जटिलताके कारण बहुत-सी भूलें रह गयी होंगी। इसके लिये हम कृपालु विद्वानोंसे क्षमायाचना करते हुए अनुरोध करते हैं कि वे भूलोंकी सूचनाद्वारा हमें अवश्य अनुगृहीत करें, जिससे अगले संस्करणमें उनका सुधार हो सके।

अन्तमें, जिन लीलामय परमेश्वरने हमें निमित्तमात्र बनाकर इस कार्यको स्वयं ही पूर्ण किया है, उनकी यह वस्तु उन्हींके चरणोंमें समर्पित कर रहे हैं। वे परमानन्दसुधासागर रसिकशिरोमणि अभिन्नमूर्ति भगवान् राधाकृष्ण अपने आज्ञापालनसे प्रसन्न होकर हमें अपना दुर्लभ प्रेम प्रदान करें। इति।

सं० १९९५
वैशाख कृष्ण ४ }

रामनारायणदत्त पाण्डेय
गीताप्रेस गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

विषय-सूची

प्रथमः परिच्छेदः

विषय			पृष्ठ
मङ्गलाचरणम्	...	...	२
विचारस्यारम्भस्तदङ्गानि संशयाश्च	...	...	५
विचारस्य प्रयोजनम्	...	...	६
पूर्वपक्षः—इतिहासपुराणानां स्वार्थेऽप्रामाण्यम्		...	७
मतान्तरेण पूर्वपक्षः	...	...	९
उत्तरपक्षः—पुराणानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम्		...	१२
पुराणानामर्थवादत्वनिरासः	...	...	१५
नामकीर्तनवाक्यानां विधित्वसमर्थनम्	...	...	३१
नामसंकीर्तनविषयाणि विधिवचनानि	...	...	३४
उपसंहारः	...	...	३६

द्वितीयः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्	...	...	४०
पूर्वपक्षः—स्मृतिपुराणयोर्विरोधे समुच्चयः	...	...	४१
पापध्वंसे नामकीर्तनस्य प्राधान्यमित्युत्तरपक्षः		...	४९
तत्राजामिलदृष्टान्तः	...	...	५०
कर्मतो भक्तेः प्राधान्यम्, निरपेक्षसाधनत्वं च		...	५४
नामकीर्तनस्यान्यकर्माङ्गत्वनिरासः	...	...	७२
नामकीर्तनात् सवासनानां पापानां ध्वंसः	...	...	७५
नवधा भक्तिः	...	...	७७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधर्मपञ्चार्थविवेचनम् ८२
भक्तेरेवात्यन्तिकशुद्धिकरत्वम् ९१
सिद्धान्तोपसंहारः ९३

तृतीयः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम् ९६
पूर्वपक्षः—विकल्पव्यवस्थयोर्व्यवस्थाया ज्यायस्त्वम् ... ९६
तत्र महदल्पादिपापभेदेन व्यवस्था ९८
उक्तव्यवस्थायाः खण्डनम् ९९
अवान्तरपूर्वपक्षः—कीर्तनस्य महापातकाद्यनिवर्तकत्वम् ... १००
मध्यमपक्षः—अनन्तरोक्तपूर्वपक्षखण्डनमुक्तव्यवस्थानिरासश्च १०३
कैमुत्यन्यायेनोक्तव्यवस्थायाः खण्डनम् १०७
युक्त्यन्तरेणोक्तव्यवस्थानिरासः ११२
मतान्तरव्यवस्था—श्रद्धाभक्तिमतः श्रवणकीर्तनादिष्वधिकारः तदितरस्य तु स्मार्ते कर्मणि ११६
श्रद्धावतोऽधिकारे प्रमाणदर्शनम् ११७
भक्तिमतोऽधिकारे प्रमाणप्रदर्शनम् १२४
रतिरेव भक्तिरित्यत्र प्रमाणम्, भक्तेर्गरीयस्त्वं च ... १२९
भावरूपाया मनोवृत्तेरेव मुख्यतया भक्तिशब्दार्थत्वम् ... १३५
भक्ते रसरूपत्वम् १३७
भक्तिरसस्यालम्बनविभावः १३८
उद्दीपनविभावाः १३९
अनुभावा व्यभिचारिभावाश्च १४१
आलम्बनविभावादीनामुदाहरणानि १४१
भगवद्भक्तेरुत्साहाङ्गत्वनिरासः १४५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विहिताचरणं निषिद्धवर्जनं च भक्तिरिति मतस्य प्रत्याख्यानम् ··· १४६
भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वमधिकारिविशेषणत्वं च ··· ··· १४९
ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमुक्तव्यवस्थाया उपसंहारश्च ··· १५१
पुराणवचनेष्वावृत्त्यनावृत्तिविषयकं विरोधमुद्भाव्य व्यवस्थान्तरेण तत्परिहारः ··· ··· १५२
श्रद्धादिमतः कीर्तनेऽधिकार इत्यत्र विरोधोद्भावनम्, प्रसङ्गादभ्यासगतिसामान्ययोर्निरूपणं च ··· ··· १५७
उक्तविरोधपरिहारः ··· ··· १६७
सिद्धान्तपक्षः—प्रागुक्तपूर्वपक्षखण्डनम् ··· ··· १६९
पुराणेषु व्यवस्थापकवचनानां मुमुक्षुविषयत्वम् ··· १७५
श्रद्धानिबन्धनव्यवस्थाया निराकरणम् ··· ··· १७८
भक्तिनिमित्तकव्यवस्थायाः प्रत्याख्यानम् ··· ··· १९०
प्रीतेरधिकारहेतुत्वखण्डनम् ··· ··· १९५
भावरूपाया भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वस्य निराकरणम् प्रसङ्गान्महद्दर्शनमाहात्म्यवर्णनं च ··· ··· १९६
अभिधेयज्ञानस्य कीर्तनाङ्गतायाः प्रत्याख्यानम् ··· २१२
अनुतप्तानुतप्तभेदमूलकव्यवस्थायाः खण्डनम् ··· २२१
अनुतापविषयकवचनव्याख्या ··· ··· २२५
आवृत्तानावृत्तकीर्तनविषयकवचनव्याख्यानम् ··· २३१
आवृत्तकीर्तनस्य प्रारब्धक्षयार्थत्वमनावृत्तस्य चाप्रारब्धप्राचीनाघसंहारार्थत्वमिति निश्चयः ··· ··· २३४
कीर्तनस्य सर्वाघसंहारित्वे मृत्युकालस्याविवक्षितत्वम् ··· २४४
देशकालवैशिष्ट्यप्रतिपादकवचनानां पुरश्चरणादिकर्माङ्गत्वम् ··· २५०
प्रत्याहारादिधर्माणां कीर्तनाङ्गत्वनिरासः ··· ··· २५०
क्वचिच्छ्रूयमाणधर्माणां मोक्षसाधनकीर्तनाङ्गत्वम् ··· २५३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनस्य ज्ञानद्वारकमोक्षसाधनत्वसमर्थनम् २५४

कीर्तनतो मोक्षोपलब्धौ क्रमनिरूपणम् २५५

सर्वैर्नामभिर्मन्त्रैर्वा भगवतः स्तवनकीर्तनयोः श्रुतिसम्मतत्वम् ... २५८

नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतकानि श्रुतिपुराणवचनानि ... २६२

नामकीर्तनस्येतिकर्तव्यतादिनिरपेक्षत्वेऽपि विधित्वसमर्थनम् ... २६६

कीर्तनीयानां भगवन्नाम्नां समस्तानां व्यस्तानां वोक्तं सामर्थ्यमिति विचारे पूर्वपक्षः २६९

तत्र सिद्धान्तः २७२

स्मार्तप्रायश्चित्तवैयर्थ्याशङ्कानिरसनम् २७८

स्मार्तपौराणयोर्विकल्पस्य प्रतिपादनम् २८०

अस्य प्रकरणग्रन्थस्य प्रयोजननिरूपणम् २८४

ग्रन्थान्ते मङ्गलाचरणम् २८५

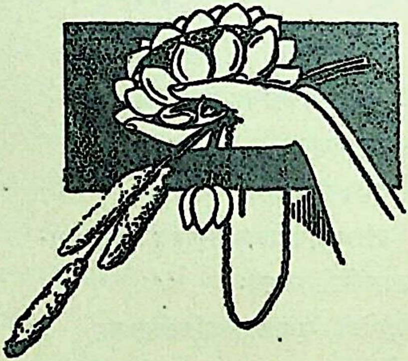

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

प्रथमः परिच्छेदः

यस्यानन्दमहार्णवस्य तरलास्तारास्तरङ्गा अमी
मायामारुतविभ्रमेण जनिता जीवाभिमानं गताः ।
नानोपाधिवशाद् विभात्यविदुषामेकोऽपि योऽनेकधा
सोऽयं सम्प्रति मङ्गलं दिशतु वो वेदान्तवेद्यो विभुः ॥ १ ॥

जयन्ति गोविन्दमुखारविन्दे मरन्दसान्द्राधरमन्दहासाः ।
चित्ते चिदानन्दमयं तमोघ्नममन्दमिन्दुद्रवमुद्गिरन्तः ॥ २ ॥

यच्चिन्तितं वोच्चरितं स्ववाचाप्याचामति प्रार्थिजनव्यथाब्धिम् ।
तदद्भुतं व्याधिहरं जनानामानन्ददं नाम हरेर्नमामः ॥ ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ ॐ नमः श्रीकृष्णाय ॥

मङ्गलाचरणम्

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥१॥
कारुण्यामृतनिर्झरः सुरसरिज्जन्माकरः श्रीवधू-
लीलाब्जं व्रजकामिनीकुचतटीकस्तूरिकास्थासकः ।
उत्तंसः सुरयोषितां मुनिमनोवश्यौषधीपल्लवो
यस्याङ्घ्रिः सुरवल्लभः स जयति श्रीपुण्डरीकप्रियः ॥ २ ॥
कररुहकुलिशैर्द्विषतां चरणाम्बुजनखरकान्तिभिर्भजताम् ।

जिस प्रकार सूर्य एक ही बारके उदयसे सम्पूर्ण जगत्के अन्धकार-राशिको दूर करता है उसी तरह एक ही बारके उच्चारणसे जो सब लोगोंके समस्त पापों या क्लेशोंको नष्ट कर देता है, संसारका कल्याण करनेवाले उस हरि-नामकी [सर्वदा] विजय है ॥ १ ॥ जिसका चरण करुणारूपी अमृतका झरना, गङ्गाजीका उत्पत्तिस्थान, लक्ष्मीजीका लीलाकमल, व्रजाङ्गनाओंके वक्षःस्थलपर कस्तूरीका लेप, [गोपीभावको प्राप्त हुई] देववनिताओंका कर्णभूषण और मुनियोंके मनको वशमें करनेके लिये औषधपत्र है, देवताओंके वल्लभ तथा पुण्डरीक भक्तके प्रियतम उस विट्ठल भगवान्‌की [सदा] विजय है ॥ २ ॥ जो अपने हाथके वज्रसदृश नखोंसे शत्रुओंकी और चरण-कमलके नखोंकी कान्तिसे भक्तोंकी हृदय-ग्रन्थियोंको[1] विदीर्ण करते हैं वे

१—शत्रुओंकी हृदयग्रन्थि है वक्षःस्थलकी हड्डियोंका जोड़; और भक्तोंकी हृदयग्रन्थि है अविद्या-जन्य बन्धन ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हृदयग्रन्थीन् भिन्दन् मनसि नृसिंहः समुल्लसतु ॥ ३ ॥

यदङ्घ्रिरेणुबीजानि जनैरुप्तानि मूर्द्धसु ।
सद्यः सुरद्रुमायन्ते श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः ॥ ४ ॥

उल्लसति लोचनाग्नौ जगदवदानानि जुह्वतो यस्य ।
प्रथमाहुतिर्मनोजः स जयति देवः पुरां भेत्ता ॥ ५ ॥

यत्पादपद्मनखकान्तितरङ्गजीर्य्य-
जम्बालजाङ्घिकधियां न धियामभूमिः ।
निःसीमसौख्यजलधिर्जयतादनन्तः
सोऽस्मद्गुरुर्जगदनुग्रहजागरूकः ॥ ६ ॥

श्रीनृसिंह भगवान् हमारे हृदयमें प्रकाशमान हों ॥३॥ मनुष्यों-द्वारा जिनके चरणोंके रेणुरूप बीज मस्तकरूप भूमिपर बोनेसे तत्काल कल्प-वृक्षके समान होकर सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करते हैं, वे भगवान् श्रीधर आपलोगोंकी श्री-वृद्धि करें ॥४॥ जगत् [रूप हविष्य] की आहुति देते समय जिनकी प्रज्वलित नेत्राग्निमें पहली आहुति कामदेव ही हुए, उन त्रिपुर-विदारक श्रीमहादेवजीकी विजय है ॥ ५ ॥ जिनके चरण-कमलोंके नखोंकी कान्ति-लहरीसे पङ्कसदृश अज्ञानका नाश हो जानेके कारण विकसित बुद्धि-वाले शिष्योंकी बुद्धिमें असीम आनन्दका सागर लहराने लगता है वे जगत्के ऊपर अनुग्रह करनेमें सावधान रहनेवाले अनन्तनामक मेरे गुरुदेव विजयी हों ॥ ६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपि च—

अधीशं निःस्वानां शमनदतटीषु प्रवसता-
मशेषाणामाद्यं गुणगरिमनिर्मुक्तमपि यम् ।
मृषामानाद् दूरं श्रुतिरुपचरन्ती सविनयं
शनैर्यत्नादन्तर्णयति सुभगानां परिवृढम् ॥ ७ ॥
चेतश्चकोरसन्तोषपीयूषाम्बुधिवृद्धये ।
इयं विस्तार्य्यते श्रीमद्भगवन्नामकौमुदी ॥ ८ ॥

तथा; ममता-शून्य विरागियोंके अधीश्वर, शान्तिमयी सरिताके तटपर निवास करनेवाले सभी लोगोंमें प्रधान, विषयोंके भारसे मुक्त और मिथ्याभिमानसे दूर रहनेवाले, सौभाग्यशीलोंमें श्रेष्ठ जिन गुरुदेवकी विनयपूर्वक सेवा करती हुई श्रुति (ब्रह्म-विद्या) धीरे-धीरे यत्नपूर्वक उन्हें अन्तर्मुख करती है [वे विजयी हों]* ॥ ७ ॥ [शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंके] चित्तरूपी चकोरके सन्तोष-रूप सुधा-सागरकी वृद्धिके लिये इस भगवन्नामकौमुदीका विस्तार किया जाता है ॥ ८ ॥

---

* इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—श्रुतिः (तत्त्वमस्यादि-वाक्यरूपा) निःस्वानाम् (विरक्तानाम्) शमनदतटीषु प्रवसताम् (शान्तानाम्) अत एव सुभगानाम् [साधनचतुष्टयसम्पन्नानां तान्प्रतीत्यर्थः] सविनयं शनैर्यत्नात्, अशेषाणाम् आद्यम्, गुणगरिमनिर्मुक्तम् (निर्गुणम्) मृषामानाद् दूरम् (प्रत्यक्षादिमानागोचरम्), परिवृढम् (अपरिच्छिन्नम्) यं गुरुस्वरूपम् अधीशम् (परमेश्वरम्) उपचरन्ती सती (उपचारेणेत्यर्थः) अन्तर्णयति—अभेदेन बोधयति [स जयतादित्यर्थः] । अर्थात्—'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यरूपा श्रुति विरक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारस्यारम्भस्तदङ्गानि संशयाश्च

अत्र श्रीमद्भगवन्नाममाहात्म्यप्रतिपादकानि पुराणवचनान्युदाहृत्य विचार्य्यन्ते—किमेतान्यविवक्षितस्वार्थान्युत स्वार्थपराणीति ? यदा स्वार्थपराणि, तदापि किं साक्षात्पापक्षयहेतोः कस्यचिदङ्गभावेन भगवन्नामकीर्त्तनं पापक्षयहेतुः ? उत स्वप्राधान्येन ? यदापि स्वप्राधान्येन, तदापि किं श्रद्धाभक्तिज्ञानवैराग्याभ्यासदेशकालविशेषादिसापेक्षत्वेन ? उत तन्नैरपेक्ष्येणेति ?

इस ग्रन्थमें भगवान्के नामोंकी महिमाके प्रतिपादक पुराणवचनोंको उद्धृत कर इस बातका विचार किया जाता है कि इनका [भगवन्नामोच्चारणको पापनाशक बतलाना आदि] मुख्य अर्थ विवक्षित है ? या नहीं ? यदि विवक्षित है तो यह भगवन्नामकीर्तन पापनाशके साक्षात् कारणभूत किसी [मन्वा-दिकथित प्रायश्चित्त] का अङ्ग होकर पापक्षयका हेतु है ? या स्वयं प्रधानरूपसे ? यदि स्वयं प्रधानरूपसे है तो भी श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास तथा विशिष्ट देश-कालादिकी* अपेक्षा रखता है ? या नहीं ?

शान्त एवं साधनचतुष्टयसम्पन्न भाग्यशाली पुरुषोंके प्रति विनयपूर्वक धीरे-धीरे यत्न करनेसे सबके आदिकारण, निर्गुण, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, अपरिच्छिन्न गुरुस्वरूप जिन परमेश्वरका अभिन्नरूपसे बोध कराती है [उनकी विजय हो]।

* यहाँ विशिष्ट देशसे काशी आदि तीर्थ, विशेष कालसे संक्रान्ति, पर्व इत्यादि पुण्यकाल तथा आदिशब्दसे पवित्रता आदिका ग्रहण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारस्य प्रयोजनम्

अस्य विचारस्य सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमार्थसतत्त्वसन्देहसन्दोहलतालवित्रचरणनखचन्द्रिकाञ्चलस्य श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथस्य करुणाकादम्बिनीमुक्तसूक्तिसुधोद्धारासारैः स्मृतिपुराणवचनविरोधाभासभावितनितान्तमसृणशङ्कापङ्कप्रक्षालनेन तस्यैव रघुराजशिरोमणेः सर्वतः प्रसृमरपरमकारुण्यसुधार्णवस्य निरङ्कुशमहिमधामनि श्रीरामनामनि स्वचेतसः समाधानमेव प्रयोजनम् ।

तत्र केषाञ्चिदतिसाहसिकानामत्यावेशोऽयमनूद्यमानोऽपि

इस विचारका प्रयोजन यह है कि जिनके चरण-नखोंकी चन्द्रिकाका एक छोटा-सा भाग भी समस्त श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमोंके तात्त्विक अर्थमें होनेवाले संशयसमूहरूप लताओंका छेदन करनेमें शस्त्रके समान है उन रघुनाथस्वरूप अनन्तानन्दनामक गुरुदेवकी करुणामयी मेघमालासे मुक्त सूक्तिरूपी अमृतकी मूसलधार वृष्टिसे स्मृति तथा पुराणोंके वचनोंमें विरोधाभासके कारण जमी हुई सुदृढ़ शङ्कारूप कीचड़को धोकर सब ओर फैले हुए अत्यन्त करुणारूप अमृतके समुद्रसदृश उन गुरुस्वरूप रघुराजशिरोमणिके ही श्रीरामनाममें, जो असीम महिमाका धाम है, मेरे चित्तका समाधान हो [अर्थात् भगवान्‌के नाममें हमारी चित्तवृत्ति लग जाय]।

भगवन्नामके विषयमें दुःसाहस करनेवाले कुछ लोगोंके आवेशका [जो आगे कहा जायगा] खण्डन करनेके लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महापतनहेतुरपि भगवन्नाममाहात्म्यमननस्य भगवदुपासनासमान-सौभाग्यत्वान्निराकरणार्थमनूद्यते ।

पूर्वपक्षः—इतिहासपुराणानां स्वार्थेऽप्रामाण्यम्

तद्यथा—अविवक्षितस्वार्थान्येव पुराणवचनानीति; तथा हि—कार्य्य एवार्थे वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्धे, तत्रैव शब्दस्य शक्तितात्पर्य्ययोरवधारितत्वात् । ततश्च विधिवाक्यस्यैव स्वार्थे प्रामाण्यं न मन्त्रार्थ-

---

अनुवाद किया जाता है । यद्यपि उस आवेशका अनुवादमात्र करना भी महान् पतनका कारण है* [फिर स्वयं कहनेकी तो बात ही क्या है ?] तथापि भगवान्‌के नाममाहात्म्योंका मनन करना उनकी उपासनाके समान ही सौभाग्यजनक है, इसलिये अनुवाद किया जा रहा है ।

पूर्वोक्त आवेश इस प्रकार है—[नाम-माहात्म्यप्रतिपादक] पुराणोंके वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है; क्योंकि कार्य (कृति-साध्य) अर्थमें ही वेद प्रमाण हैं, सिद्ध अर्थमें नहीं; कारण यह है कि कार्यान्वित स्वार्थमें ही शब्दकी शक्ति और तात्पर्यका निश्चय किया गया है† । इसलिये विधिवाक्य ही स्वार्थ (लिङादिवाच्य कार्य) में प्रमाण होते हैं,

---

* इसमें—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् ॥

'जो भगवान्‌के नामकी महिमामें अर्थवादकी सम्भावना करता है वह मनुष्योंमें सबसे बड़ा पापी है और अवश्य नरकमें गिरता है।' इत्यादि वचन प्रमाण हैं ।

† श्रीप्रभाकरभट्टके मतमें कार्यान्वित स्वार्थमें पदोंकी शक्ति है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वादोपनिषदाम्, किन्तु तासां कथञ्चित् क्रतुविध्युपयुक्तार्थत्वं जपार्थत्वं वा; इतिहासपुराणयोस्तु तन्मूलत्वान्नतरां स्वार्थे प्रामाण्यगन्धोऽपीति ।

मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषद् नहीं। ये तो किसी प्रकार यज्ञविधिमें उपयोगी होते हैं; अथवा जप ही इनका प्रयोजन है। इतिहास और पुराण तो मन्त्र, अर्थवाद तथा उपनिषद्मूलक ही हैं, अतः उनकी अपने वाच्यार्थमें लेशमात्र भी प्रमाणता नहीं है।*

तत्तत्पदार्थविशिष्ट कार्यमें वाक्योंका तात्पर्य है, इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—'अमुक शब्द अमुक अर्थका बोधक है' इस प्रकार जिस शब्दकी शक्तिका ग्रहण नहीं हुआ है उससे अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकती, अतः शक्ति-ज्ञान अपेक्षित है। यद्यपि व्याकरणादि शास्त्र शक्तिग्राहक हैं तथापि लोकमें प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारसे ही सबको शक्तिग्रहण होता देखा गया है। अतः लोक-व्यवहार ही मुख्यरूपसे शक्तिग्राहक है। जैसे किसीने कहा—'चैत्र गामानय, अश्वं बधान' (चैत्र गौ लाओ, घोड़ा बाँध दो); प्रेरककी इस आज्ञानुसार चैत्रको कार्य करते देखकर, अनजान पुरुष मनमें निश्चय करता है कि उपर्युक्त वाक्यका 'सींग-पूँछवाले पशुका ले आना' आदि अर्थ है। पुनः जब प्रेरकने आज्ञा दी कि 'गां नय अश्वमानय' (गौ ले जाओ, अश्व लाओ) तब इसके अनुसार भी वह पुरुष कार्य करते देखता है। अन्तमें अन्वय और व्यतिरेकसे वह इस निर्णयपर पहुँचता है कि क्रिया और कारक जब परस्पर अन्वित हों तभी उनमें अर्थ-बोधनकी शक्ति है। पुनः पूर्वोक्त वाक्यके सम्बन्धमें अनुमान करता है कि आनयन आदि कार्यसे अन्वित गौ आदि अर्थके बोधनमें ही गो आदि पदकी शक्ति है। इस प्रकार उसे कार्यान्वित अर्थमें ही पदोंकी शक्तिका निश्चय होता है, फिर जिसकी शक्तिका निश्चय हो गया, उस पदसे युक्त वाक्यका तात्पर्य भी कार्यमें ही पर्यवसित होता है।

* मीमांसादर्शनमें कहा भी है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।'

अर्थात्—'वेदके यज्ञादिपरक होनेके कारण जो वाक्य यज्ञार्थक नहीं हैं वे अनर्थक हैं [अर्थात् उनका स्वार्थमें प्रामाण्य नहीं है]।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतान्तरेण पूर्वपक्षः

अन्ये तु मन्यन्ते; न कार्य्य एवार्थे वेदस्य प्रामाण्यमपि तु सिद्धेऽपि, तत्रापि शक्तितात्पर्य्ययोराचार्य्यैरेव निरूपितत्वात्। मन्त्रार्थवादयोस्तु मानान्तरानधिगतं तदविरुद्धमर्थमवगमयतोरन्यपरत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव। तात्पर्य्यं हि न प्रमितिमुत्पादयति,

---

दूसरे ऐसा मानते हैं—केवल कार्यान्वित स्वार्थमें ही वेद प्रमाण नहीं हैं, अपि तु सिद्ध अर्थमें भी प्रमाण हैं; क्योंकि उसमें भी आचार्योंने ही शक्ति और तात्पर्यका निरूपण किया है*। मन्त्र और अर्थवाद यद्यपि प्रमाणान्तरसे अज्ञात और विधिके अनुकूल अर्थका बोधन करते हुए अन्य (विधि) परक भी होते हैं तथापि उनका स्वार्थमें भी प्रामाण्य है ही। तात्पर्य प्रमा (भ्रान्तिरहित ज्ञान)का उत्पादक नहीं

---

* जैसे जब कोई किसीसे कहता है कि तुम्हें पुत्र हुआ है, तो यह सुनकर उसके मुख और नेत्र खिल जाते हैं। उस समय तीसरा मनुष्य उसके मुख-नेत्रादिके विकासको देखकर उसकी प्रसन्नताका अनुमान करता है और उस प्रसन्नतासे उसके कारणभूत ज्ञानका अनुमान करके उसमें अन्वय-व्यतिरेकसे उक्त वाक्यको ही कारण मानकर क्रमशः इस निश्चयपर पहुँचता है कि 'इस वाक्यद्वारा पुत्रजन्मका ही प्रतिपादन होता है, जैसा कि पुत्र-जन्म मैं अपने यहाँ देख चुका हूँ।' इस प्रकार उसे सिद्ध अर्थमें भी तात्पर्यका निश्चय होता है, फिर 'तुम्हारा पुत्र देशान्तरसे आया है' इस वाक्यको सुनकर तर्क-वितर्कसे पुत्रपदकी शक्तिका निश्चय करता है—इस प्रकार सिद्ध अर्थमें भी शक्ति और तात्पर्यका ग्रहण होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु केवलं तत्र प्रतिबन्धं निरुन्धे; तद्यदि स्वरसत एवं निष्प्रतिबन्धमवधारितरूपमनधिगतविषयञ्च विज्ञानमुत्पद्यते शब्दात्, तदान्तरेणापि तात्पर्य्यं तस्य प्रामाण्यं किं न स्यात्? तत्सङ्गानविगानयोः पुनरनुवाद-

---

होता, अपि तु केवल उसके प्रतिवन्धको दूर करता है। अतः यदि शब्दसे स्वभावतः ही प्रतिवन्धरहित, निश्चितस्वरूप एवं प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुविषयक विज्ञानकी उत्पत्ति हो तो स्वार्थमें तात्पर्यनिर्णयके विना भी वह क्यों नहीं प्रमाण हो सकता है?* उस विषयमें मतान्तरकी सम्मति हो तो वह अनुवाद है और उससे मतान्तरका विरोध हो तो वह गौण

---

* यथा—'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही अद्वितीय है) यह वाक्य अद्वैतभावमें प्रमाण है, परन्तु यदि यह कहा जाय कि 'अस्मिन् ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः' (इस गाँवमें यही एक अद्वितीय पुरुष है) इत्यादि वचनोंमें जिस प्रकार 'एक एवाद्वितीयः' यह प्रयोग औपचारिक माना गया है; क्योंकि उस गाँवमें अन्य पुरुष भी तो हैं। 'वैसा दूसरा नहीं है' इस अर्थमें 'यही अकेला पुरुष है' यह वाक्य उपचारतः प्रयुक्त हुआ है, इसी तरह [ब्रह्मके समान कोई दूसरा नहीं है] इसी अर्थमें 'एकमेवाद्वितीयम्' यह वाक्य औपचारिक ही क्यों न माना जाय?, तो यह शङ्का अद्वैतप्रमाकी प्रतिवन्धक है। पुनः जब उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति—इन छः प्रकारके तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे उक्त वाक्यका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णीत हो जाता है तो प्रतिवन्धककी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र) इत्यादि वाक्योंकी तरह जो वाक्य प्रतिवन्धकसे रहित हो और उसका विषय सन्देहग्रस्त न हो तथा अन्य प्रमाणोंसे विरुद्ध और ज्ञात भी न हो तो वहाँ मन्त्र और अर्थवाद भी प्रमाण होते ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वगुणवादत्वे, उपनिषदां पुनरनन्यशेषत्वादपास्तसमस्तानर्थमनन्तानन्दानुभवैकरसमनधिगतात्मतत्त्वमवगमयन्तीनां प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तस्यैवाभासीकरणेन च स्वार्थ एव प्रामाण्यं भवत्येव। तदुक्तं भट्टपादैः— "अथ वेतिहासपुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयावपीष्येते" इति।

तथापि देवतातत्त्वतत्पराणां पुराणानामनुष्ठेयार्थपराणां स्मृतीनां च स्वे स्वे गोचरे गरीयस्त्वाद् गुरुतरप्रायश्चित्तविधायिमन्त्रादिवाक्य-

---

(औपचारिक प्रयोग) है*। [मन्त्र और अर्थवाद तो विधिके अङ्गभूत हैं, परन्तु] उपनिषदें किसीकी अङ्गभूत नहीं हैं, अतः वे समस्त अनर्थोंको दूर करनेवाले अनन्त आनन्दमय एकरस अज्ञात आत्मतत्त्वका बोध कराती हुई प्रमाणान्तरसे विरोध होनेपर भी उस (प्रमाणान्तर) को प्रमाणाभास (दुर्बल) सिद्ध करती हुई स्वार्थमें ही प्रमाण होती हैं। अतएव पूज्य भट्टाचार्यने कहा है— "अथवा इतिहास-पुराणोंके प्रमाणसे सृष्टि और प्रलय भी इष्ट हैं।"

[इस कथनसे यद्यपि पुराणोंका अविकलरूपसे स्वार्थमें प्रमाणभूत होना सिद्ध होता है] तथापि देवतातत्त्वके प्रतिपादक पुराणों और कर्तव्यार्थ-बोधक स्मृतियोंके अपने-अपने विषयमें गौरवान्वित होनेके कारण महान् प्रायश्चित्त-विधायक मन्त्रादिके

---

* 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) इस वाक्यमें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंकी सम्मति है, इसलिये यह अनुवाद है। 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' (दिनमें आगका धुआँ ही देखा गया है, उसकी ज्वाला नहीं) इस वाक्यमें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंका विरोध है इसलिये यह औपचारिक प्रयोग है। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि वाक्योंमें अन्य प्रमाणोंका संवाद या विरोध कुछ भी नहीं है तथा उनमें स्वतःप्रमाणता है, इसलिये वे वाक्य स्वार्थमें प्रमाणभूत हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विरोधे दुस्तरदुरितक्षयोद्देशेन नामसंकीर्त्तनमात्रं विधातुमशक्नुवन्ति पुराणवचनानि भजनीयदेवतास्तावकत्वमेवाश्रयन्ते; यस्याः सकृत्कीर्त्तनमप्येतादृक्, सा पुनराप्रायणमुपासिता किं न करोतीति? तस्मादविवक्षितार्थत्वमेवैषामिति।

उत्तरपक्षः—पुराणानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम्

अत्राभिधीयते—यथा कार्य्ये सिद्धे च वेदस्य प्रामाण्यमविशिष्टं तथा पुराणानामपि, सर्वेषु पुराणेषु वर्णाश्रमधर्माणां प्रबन्धेन प्रतिपादनात्; श्रीमद्भागवते तावत्—

वाक्योंसे विरोध पड़नेपर पुराणोंके वाक्य दुस्तर पापोंके क्षयके उद्देश्यसे नामसंकीर्तनमात्रका विधान नहीं कर सकते, ऐसी दशामें वे पौराणिक वचन भजनीय देवताकी स्तुतिमें तात्पर्य रखते हैं। उनका तात्पर्य यों है—'जिस देवताके एक बार नाम-कीर्तनका ऐसा फल है उसकी यदि आजीवन उपासना की जाय तो वह क्या नहीं कर सकता?'। अतः सारांश यह हुआ कि इन पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

अब यहाँ हमें यह कहना है—जैसे कार्य और सिद्ध अर्थमें वेद समानरूपसे प्रमाण हैं, उसी प्रकार पुराण भी हैं; क्योंकि सभी पुराणोंमें वर्णाश्रमधर्मोंका विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है। जैसे श्रीमद्भागवतमें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥

इति पुराणस्य त्रिकाण्डरूपत्वप्रतिपादनात् ; श्रीमहाभारते च—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

"महामुनि व्यासके बनाये हुए इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन (सरल स्वभाववाले) साधु पुरुषोंका कैतवरहित (निष्कपट) उत्तम धर्म बतलाया गया है; साथ ही, [आध्यात्मिक आदि] तीनों तापोंके नाशक, कल्याणप्रद एवं जाननेयोग्य पारमार्थिक तत्त्व (परमात्मा) का भी निरूपण है । अन्य ग्रन्थोंके श्रवणसे क्या लाभ ? इस भागवतके श्रवणकी इच्छा करनेमात्रसे पुण्यवान् पुरुष तत्काल ही अपने हृदयमें ईश्वरको अवरुद्ध (स्थापित) कर लेते हैं ।"

इस प्रकार पुराणको त्रिकाण्ड (ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड) रूप कहा है । तथा श्रीमहाभारतमें—

"हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ इस ग्रन्थमें कहा गया है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति धर्म्मब्रह्मणोरविशेषेण प्रतिपाद्यत्वप्रतिज्ञानात्, प्रतिपादनाच्च। भविष्योत्तरमत्स्यपुराणादिषु च धर्म्मप्रतिपादनसौभाग्यस्यैव भूयस्त्वाच्च नातिशङ्कनीयमेव धर्म्मे प्रामाण्यं पुराणानाम्। तत्र यथा काण्डभेदेन नानार्थत्वमविरुद्धं वेदानाम्, तथा पुराणानामपि भविष्यति।

अथ पुष्कराक्षसिद्धान्ततात्पर्यालोचनया वेदा ब्रह्मात्मविषया एव;

ब्रह्मात्मविषया वेदास्त्रिकाण्डविषया इमे।

इस प्रकार धर्म तथा ब्रह्मके समानरूपसे प्रतिपाद्य होनेकी प्रतिज्ञा की गयी है और उन्हींका प्रतिपादन हुआ है। तथा भविष्योत्तर एवं मत्स्यपुराण आदिमें धर्मके प्रतिपादनका सौभाग्य ही अधिक मात्रामें है; अतः धर्मके विषयमें पुराणोंके प्रमाणभूत होनेमें सन्देह ही नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार काण्डभेदसे वेदोंका नानार्थक होना विरुद्ध नहीं माना जाता उसी प्रकार पुराणोंकी नानार्थता भी विरुद्ध नहीं होगी।

यदि कहें, पुष्कराक्षके सिद्धान्तभूत तात्पर्यकी पर्यालोचना (विचार) करनेसे सभी वेद ब्रह्मात्मविषयक ही हैं; तथा—

"ज्ञान, कर्म और उपासनारूप तीन काण्ड जिनके विषय हैं, वे वेद ब्रह्मात्मविषयक* हैं [अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्माका निरूपण ही वेदोंका विषय है]। ऋषि (वेद)

---

* जिस प्रकार 'तुम विष खा लो [पर उस मनुष्यके घर न खाओ]' इस वाक्यका व्यञ्जनावृत्तिके द्वारा शत्रुके घर भोजन न करनेमें ही तात्पर्य है, न कि विष खा लेनेमें; उसी तरह कर्मपरक और उपासनापरक वाक्योंका भी ब्रह्मात्मवादमें ही तात्पर्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम् ॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥

इत्यादिशास्त्रपर्य्यालोचनया च त्रिकाण्डस्यैकवाक्यत्वं वेदेषु; एवं पुराणेष्वपि । ततश्च यस्माद्वाक्याद्योऽर्थः स्वरसतोऽवगम्यते सिद्धः कार्य्यो वा तत्र तत्प्रमाणमेव पुराणवचनमिति ।

पुराणानामर्थवादत्वनिरासः

ननु भवतु च धर्म्मेऽपि तात्पर्य्यं पुराणानाम्; नामकीर्त्तनविषयाणां पुनः पौराणार्थवादानां स्मार्त्तप्रायश्चित्तविधिविरोधे प्रामाण्यन्न युज्यते ।

परोक्षवादी (गूढार्थवादी) हैं और मुझे परोक्ष ही प्रिय है। विधि-निषेधरूप यह वेद अज्ञजनोंके लिये परोक्षवाद है; यह [रोगसे मुक्त होनेके लिये औषधकी भाँति] कर्मजन्य भव-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये ही कर्मका विधान करता है।"

इत्यादि शास्त्रोंकी आलोचनासे यदि वेदोंमें तीनों काण्डों-की एकवाक्यता सिद्ध होती है, तो यही बात पुराणोंके विषयमें भी कही जा सकती है। इस कारण जिस वाक्यसे जो सिद्ध (परमात्मा) या कार्य (उपासना) रूप अर्थ स्वरसतः प्रतीत होता है उसमें वह पुराणोंका वचन प्रमाण ही है।

शङ्का—धर्ममें भी पुराणोंका तात्पर्य रहे, परन्तु मन्वादि-स्मृतियोंमें बतलाये हुए प्रायश्चित्त-विधिसे विरोध होनेपर तो नामकीर्तनविषयक पौराणिक अर्थवादोंको प्रमाण मानना उचित नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इयमविदितमीमांसावृत्तान्तानां विभीषिका; तथा हि—किमिदमर्थ-
विधेऽर्थवादेऽ- वादत्वम् ? अविधित्वं विधिशेषत्वं वातत्परत्वं
विधित्वस्य प्रत्याख्यानम् वा ? यदि तावदविधित्वं तत्; किं लिङादिप्रत्य-
यविरहात् ? तद्वाच्यविरहाद् वा ? न तावल्लिङादिप्रत्ययविरहात्,
"पूषा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादीनामप्य-
विधित्वप्रसङ्गात् ।

समाधान—जो मीमांसाकी बातें न जानते हों उनके लिये यह भय दिखाना सफल हो सकता है। भला यह अर्थवाद किस प्रकारका है ? विधि-वाक्य न होना या विधिका अंग होना अथवा विधिपरक न होना—इनमेंसे कौन-सा अर्थवाद यहाँ है ? यदि कहो, यहाँ विधि-वाक्य न होना ही अर्थवाद है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या लिङादि प्रत्ययका प्रयोग न होनेसे ही वह विधि-वाक्य नहीं है ? या लिङ्वाच्य कार्यका विरह होनेके कारण ? यदि कहो कि लिङादि प्रत्यय-का प्रयोग न होनेसे ही वह विधि-वाक्य नहीं है, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि—

"पूषा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" ॥

इत्यादि वचनोंके भी विधि-वाक्य न होनेका प्रसंग उपस्थित होगा* ।

---

* क्योंकि यहाँ विधि या आज्ञासूचक 'लिङ्', 'लोट्' आदि लकारोंकी क्रिया नहीं प्रयुक्त हुई है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु तत्र लिङादिप्रत्ययविरहेऽपि तद्वाच्यमस्ति, कालत्रयानवच्छिन्नेन द्रव्यदेवतासम्बन्धेन यागविधिपरिकल्पनात्, इह तु न तदस्तीत्यविधित्वम् ।

तदयुक्तम्, इहापि—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।

इत्यादौ कालत्रयानवच्छिन्नेन साध्यसाधनसम्बन्धेन विधेः कल्पनात् । अथ—

शङ्का—वहाँ तो लिङादि प्रत्यय न होनेपर भी उस (लिङ्) का वाच्य [यजनरूप कार्य] है ही, क्योंकि तीनों कालोंके* संसर्गसे रहित [पिष्ट और पुरोडाश] द्रव्य तथा [पूषा और अग्नि] देवताका संबन्ध होनेके कारण [पूषदेवताकेन प्रपिष्टेन यजेत, अग्निदेवताकेन अष्टाकपालेन यजेत—इस प्रकार] यज्ञ-विधिकी कल्पना की जा सकती है। किन्तु नामकीर्तन-वाक्यमें तो वह विधान है नहीं, अतः वह विधि-वाक्य नहीं है।

समाधान—यह कथन अयुक्त है; क्योंकि—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् । †

—इत्यादि नाम-कीर्तन-वाक्यमें भी तीनों कालोंके संपर्कसे रहित साध्य-साधन-सम्बन्धसे विधिकी कल्पना हो सकती है। [यहाँ कीर्तन साधन है और पापक्षय साध्य है]। यदि कहो कि—

---

* जहाँ किसी भूत आदि कालविशेषका संबन्ध होता है, वहाँ ही विधिकी संभावना नहीं रहती; यहाँ कालविशेषका संबन्ध नहीं है; अतः विधिकी कल्पना हो सकती है।

† [पाप करनेपर जिसको पश्चात्ताप होता है] उसके लिये एक बार भगवान्‌का स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।

इत्यादौ वर्तमानापदेशादविधित्वम् ? तर्हि "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादीनामप्यविधित्वप्रसङ्गः । अथ तत्रापूर्वत्वाल्लकारपरिणामेन पञ्चमलकाराश्रयणेन वा विधित्वम्, इहापि तथैव भविष्यति ।

अथ विधिशेषत्वम्; कोऽसौ विधिर्यच्छेषत्वमेषाम् ? किं नामकीर्त्तन-

---

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।*

इत्यादि वचनमें वर्तमान कालका व्यवहार होनेसे वह विधिवाक्य नहीं है, तो—

"तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।"†

"अग्निहोत्रं जुहोति ।" ‡

—इत्यादि वैदिक वचनोंमें भी [वर्तमान कालका संबन्ध होनेसे] अविधित्वकी आपत्ति हो सकती है। यदि अपूर्व विधान, लकार-विपरिणाम (लिङ्के अर्थमें लट्का प्रयोग होने) अथवा पञ्चम (लेट्) लकारका आश्रय लेनेसे उनमें विधित्व है तो यहाँ (नाम-कीर्तन-वाक्यमें) भी उसी प्रकार होगा।

यदि यहाँ किसी विधिका शेष (अङ्ग) होनारूप अर्थवाद मानें तो यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी विधि है जिसके अङ्गभूत ये नाम-कीर्तन-वाक्य हैं ? क्या वह विधि

---

* विवश होकर भी जो 'हरि' इस नामका उच्चारण करता है वह यम-यातना नहीं भोगता ।'

† 'जो अश्वमेधसे यजन करता है वह ब्रह्महत्याको पार कर जाता है।'

‡ 'अग्निहोत्र करता है ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधिशेषत्वनिरासः

विषयः ? अन्यो वा ? न तावदन्यः, अन्यस्य विधेरसन्निधानात्, नामसंकीर्त्तनस्यैव स्वातन्त्र्येणोपसंहाराच्च। अथ नामकीर्त्तनविषय एव; तर्हि तस्य नियोज्यविशेषणान्तराश्रवणादन्यस्य कथंभावे वाश्रवणादार्थवादिकं पापनिर्हरणमेव

नामकीर्तन-विषयक है ? अथवा कोई अन्य ? अन्य विधि तो हो नहीं सकती; क्योंकि [पुराणोंमें जहाँ नामकीर्तनका विधान है वहाँ] दूसरी कोई विधि निकट है ही नहीं और नामकीर्तनका ही स्वतन्त्रतापूर्वक (अन्य विधिकी अपेक्षा न रखते हुए) उपसंहार किया गया है। यदि वह नाम-कीर्तनविषयक ही विधि है तो उसका [पापक्षयके अतिरिक्त] कोई दूसरा नियोज्य-विशेषण* नहीं सुना जाता है, इस कारणसे अथवा किसी अन्य यागादिके साधन-सहकारी अङ्गोंमें † उसका श्रवण नहीं

---

* विधिको नियोग कहते हैं, प्रत्येक नियोगको नियोज्यकी आकाङ्क्षा होती है, नियोगमें नियुक्त होनेवाला पुरुष ही नियोज्य है और किसी फलकी कामना ही उसका विशेषण है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिमें स्वर्गादिकी कामना ही नियोज्य-विशेषण है। यहाँ जिस प्रकार 'स्वर्गकामः' इस नियोज्यका श्रवण होता है वैसा नामकीर्तनवाक्यमें नहीं होता है। और विना नियोज्यके वह विधि नहीं हो सकता; अतः अर्थवादसे उपस्थित पापक्षयकी कामना ही नियोज्यका विशेषण मान ली जाती है। इस प्रकार पापक्षयकी कामनावाले पुरुषको यहाँ नियोज्य समझना चाहिये।

† यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रयाज आदि विधियोंमें तो कोई नियोज्य नहीं है, उन्हींके समान नामकीर्तनविधि भी बिना नियोज्यके ही रहे, यदि अर्थवादसे उपस्थित नियोज्यकी कल्पना की जाय तो प्रयाजादि विधियोंके लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियोज्यविशेषणत्वेन सम्बध्यते रात्रिसत्रन्यायेन। ततश्च कार्य्यान्वयान्न विधिशेषत्वम्, प्रतिपत्तिमात्रान्वयिनो हि विधिशेषाः।

होता है इसलिये रात्रिसत्र* न्यायके अनुसार अर्थवादोपस्थित पापक्षयको ही यहाँ नियोज्यके विशेषणरूपसे संबद्ध कर लिया जाता है; अतः नामकीर्तनवाक्य कार्यान्वयी (स्वतन्त्ररूपसे विधिमें तात्पर्य रखनेवाला) होनेके कारण विधिशेष नहीं है, क्योंकि विधिशेष तो अपनेसे अन्य विधि [की प्रशंसामात्र] के बोधनमें ही तात्पर्य रखते हैं।

जो 'वर्म भ्रातृव्याभिभूत्यै (यह भतीजोंका पराभव करनेके लिये कवच है)' ऐसा अर्थवाद किया गया है उसके ही आधारपर 'भ्रातृव्याभिभूतिकामः प्रयाजं कुर्यात् (भतीजोंके पराभवकी कामनावाला प्रयाज करे)' इस प्रकार वहाँ भी नियोज्यकी कल्पना हो सकती है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—अन्य ... ...के ... अङ्गोंमें इत्यादि। प्रयाज आदि विधियाँ तो दर्श-पूर्णमासके अङ्ग हैं; अतः दर्श आदिका जो नियोज्य है वही इनका भी होगा; इसलिये इनके स्वतन्त्र नियोज्यकी कल्पना नहीं की जाती। परन्तु नामकीर्तनविधि तो किसीका अङ्ग है नहीं; अतः अर्थवादोपस्थित पापक्षयकी कामनावाला पुरुष उसका स्वतन्त्र नियोज्य माना जाता है।

* रात्रिसत्रन्यायका स्पष्टीकरण यों है—पूर्वमीमांसादर्शनके अध्याय ४ पाद ३ अधिकरण ८ में—'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति (जो इन रात्रियोंका आश्रय लेते हैं अर्थात् रात्रि-यज्ञ करते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं)' इस रात्रि-सत्र-बोधक वाक्यमें 'प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं' इतना अंश यद्यपि अर्थवाद है, तथापि यहाँ इसके अतिरिक्त किसी अन्य फलका निर्देश नहीं किया गया है; अतः अर्थवादसे उपस्थित प्रतिष्ठाको ही रात्रिसत्रका फल माना गया है और उस प्रतिष्ठाकी कामनावाला पुरुष ही उसका नियोज्य है—ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया गया है। इसी प्रकार नामकीर्तनका भी कोई दूसरा नियोज्य-विशेषण नहीं सुना जाता है, इसलिये अर्थवादोपस्थित पापक्षयको ही उसका फल और उसकी कामनावालेको ही नियोज्य निश्चित किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर्णतान्यायेन फल-श्रुतेरर्थवादत्वमाशङ्क्य तन्निरासः

ननु प्रदेशान्तरस्थितमपि नामसंकीर्तनं प्रदेशान्तरस्थस्यापि "विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय" इत्यादेः क्रतुविधेरङ्गमुपासनाविधेर्वा; तदव्यभिचारिविष्ण्वाख्यदेवतासम्बन्धमुखेन, पर्णमयीत्ववत्। ततश्च "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति" इत्यादिफलश्रुतेरिव पापक्षयफलश्रुतेरप्यर्थवादत्वम्, परार्थत्वात्।

शङ्का—[नाम-कीर्तन किसी अन्य विधिका अंग नहीं है यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि] यद्यपि नामसंकीर्तन-वाक्य अन्य प्रकरणमें है तथापि वह अपनेसे भिन्नदेशवर्ती 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय (जामित्व (गरिष्ठता या आलस्य) दोषसे बचनेके लिये विष्णुका उपांशुनामक यजन करना चाहिये)' इस यज्ञ-विधि या इससे भिन्न किसी उपासनाविधिका अङ्ग हो सकता है; क्योंकि इससे कभी विलग न होनेवाले विष्णुदेवताका उस नामकीर्तनसे संबन्ध है [अर्थात् 'हरिरित्यवशेनाह' इत्यादि कीर्तनवाक्यसे संबन्ध रखनेवाले भगवान् विष्णुके ही यजनका इस मन्त्रद्वारा विधान किया गया है; अतः वह इसका अङ्ग हो सकता है।] जैसे यज्ञसे कभी अलग न होनेवाली जुहू(यज्ञपात्र-विशेष) से संबन्ध रखनेके कारण पलाश भी यज्ञका अङ्ग माना जाता है और इस प्रकार अन्यका अङ्ग होनेसे "जिसकी पलाशकी जुहू होती है वह पापमय यशका कभी श्रवण नहीं करता [अर्थात् कभी उसकी अकीर्ति नहीं होती]" इत्यादि फलश्रुति जैसे अर्थ-वाद मानी गयी है उसी प्रकार पापक्षयरूप फलश्रुति भी परार्थ (विधि-शेष) होनेके कारण अर्थवाद ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्; परार्थत्वासिद्धेः,

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

इति ध्यानयज्ञार्चनकार्य्ये युगभेदेन कीर्तनस्य व्यवस्थापितत्वात्।

नन्वस्यार्थवादत्वात् कथं तद्बलेन पर्णमयीन्यायप्रतिक्षेपः?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी परार्थता सिद्ध नहीं होती। [कारण यह है कि—]

"सत्ययुगमें [भगवान्‌का] ध्यान, त्रेतामें यज्ञोंद्वारा यजन और द्वापरमें पूजन करता हुआ पुरुष जो फल प्राप्त करता है उसीको कलियुगमें भगवान्‌का कीर्तन करके ही पा लेता है।"

—इत्यादिरूपसे ध्यान, यज्ञ और अर्चनकी जगह युगभेदसे कीर्तनकी व्यवस्था की गयी है। [यदि कीर्तन परार्थ होता तो यज्ञादिविधिके स्थानमें उसका स्वतन्त्र विधान नहीं होता]।

शङ्का—यह ('ध्यायन् कृते' इत्यादि) वचन तो अर्थवाद है, इसके बलसे पर्णमयीन्याय* की प्रवृत्तिका निवारण कैसे हो सकता है?

---

* 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (जिसकी पलाशकी बनी हुई जुहू है वह कभी पापमय यशका श्रवण नहीं करता)'—यह फलश्रुति यज्ञका अङ्ग होनेके कारण अर्थवाद है, यही पर्णमयीन्याय है। इसीके अनुसार जो भी फलश्रुति किसी अन्य विधिकी अङ्गभूत हो वह अर्थवाद समझी जाती है—ऐसे ही स्थलोंपर इसकी प्रवृत्ति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—फलांशस्तावदास्ताम्, ध्यानयज्ञार्चनानां युगभेदेन व्यवस्थया श्रेयोहेतुत्वानुवाद एवार्थवादत्वे नावकल्पते, स्तुतावनुपयोगात्, स्तुतिर्हि न देशकालव्यवस्थामवलम्बते; अपि त्वदेशकालेऽपि स्तुत्यर्थस्य पुरुषार्थत्वम् ।

ननु न कीर्तनमिह स्तूयते, अपि तु कलिः, युगान्तरेषु महता प्रयासेन यत्साध्यते तत्कलावल्पेनेति ।

समाधान—बतलाते हैं [सुनो—यदाप्नोति तदाप्नोति (ध्यानादिसे जो फल मिलता है उसीको नाम-कीर्तनसे प्राप्त कर लेता है)] यह फलका अंश अर्थवाद रहे, परन्तु ध्यान, यज्ञ और अर्चनकी युगभेदसे व्यवस्था करके उनके कल्याण-जनक होनेका अनुवाद तो कदापि अर्थवाद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस (व्यवस्था) का स्तुतिमें कोई उपयोग नहीं है। स्तुति भिन्न-भिन्न देश-कालकी व्यवस्थाका आश्रय नहीं लेती, अपि तु देश-कालकी व्यवस्था न रहते हुए भी पुरुषके लिये स्तुति हो सकती है। [अतः अपूर्व होनेके कारण इस वाक्यमें व्यवस्थाका ही विधान है, यह किसी अन्य विधिका अङ्ग नहीं है; इसलिये पर्णमयीन्यायकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।]

शङ्का—[मेरे विचारसे तो] यहाँ कीर्तनकी नहीं अपि तु कलिकी स्तुति की गयी है, अन्य युगोंमें जिस फलको महान् प्रयाससे प्राप्त किया जाता है उसीको कलियुगमें थोड़े ही प्रयत्नसे पाया जा सकता है [अतः न तो यहाँ पर्णमयीन्यायकी प्राप्ति है और न व्यवस्थाका ही विधान है ।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

‘ध्यायन् कृते’ इत्यादीनामर्थवादत्व-निरासः

एवमपि कृतादिषु ध्यानादीनां व्यवस्था नोच्यते, किं तु यत् कृतादिषु ध्यानयज्ञार्चनैराप्नोति तत्कलौ कीर्तनेनैवेति वक्तव्यम्; न च तथोच्यते, उत्तरोत्तरयुगोत्कर्षमुखेन प्रतिपादने कलेः सर्वोत्कर्षविवक्षायां विरम्य व्यापारः प्रसज्जेत, तस्मान्न स्तुतिपरमिदम्, अपि तु फलपरमिति ।

समाधान—ऐसा माननेपर भी कृतादि युगोंमें ध्यानादिकी व्यवस्थाका वर्णन नहीं किया जाता, अपि तु इतना ही कहना चाहिये कि कृतादि युगोंमें ध्यान, यज्ञ और अर्चनसे जो फल प्राप्त होता है वह कलियुगमें कीर्तनमात्रसे ही मिल जाता है, परन्तु ऐसा तो कहते नहीं हैं [इस वाक्यसे तो सत्यादि युगोंमें ध्यान आदिकी व्यवस्था भी करते हैं]। यदि [सत्ययुगमें ध्यानसे जिस श्रेयको प्राप्त करता है उसीको त्रेतामें यज्ञ करके पा जाता है, त्रेतामें यज्ञ करके जिसे पाता है उसीको द्वापरमें पूजासे ही पा लेता है—इस प्रकार] उत्तरोत्तर युगोंके उत्कर्षका ही प्रतिपादन यहाँ प्रधान माना जाय तो कलिके सर्वोत्कृष्ट होनेकी विवक्षा होनेपर एक बार विरत होकर पुनः व्यापार करनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा *। इसलिये यह (‘ध्यायन् कृते’ इत्यादि) वचन स्तुतिपरक (अर्थवाद) नहीं अपि तु फलपरक है [अर्थात् फलसाधक व्यवस्थाका विधान करनेमें ही तात्पर्य रखता है।]

---

* क्योंकि ‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः’ इस न्यायके अनुसार जब शब्द एक बार अर्थबोधका व्यापार करके निवृत्त हो जाता है तो पुनः उसीके लिये व्यापार नहीं करता, यह नियम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु व्यवस्थावाक्यं तावदास्ताम्, इतरेषां पुनः पर्णमयीन्यायेनार्थवादत्वं भविष्यति, ततश्च व्यवस्थावाक्यस्यापि कीर्त्तनविषयत्वादर्थवादत्वमेव भविष्यति ।

चक्रकापत्त्या पर्णतान्यायाप्रवृत्तिः

नैवम्; सिद्धे व्यवस्थावाक्यस्यार्थवादत्वे पर्णमयीन्यायावतारः, अवतीर्णे पर्णमयीन्याये च तेषामर्थवादत्वम्; अर्थवादत्वे च तेषां व्यवस्थावाक्यस्य चार्थवादत्वमिति चक्रकप्रसङ्गात् ।

शङ्का—यह व्यवस्थावाक्य अभी अलग रहे, 'हरिरित्यवशेनाह……' इत्यादि अन्य वचन तो [पूर्व कथनानुसार कीर्तनीय देवतासे संवन्ध रखनेवाले यज्ञका अङ्ग होनेके कारण] पर्णमयीन्यायसे अर्थवाद होंगे ही; [इस प्रकार जव कीर्तन-वाक्य अर्थवाद सिद्ध हो जायगा तो] फिर व्यवस्थावाक्य भी कीर्तन-विषयक होनेके कारण अर्थवाद हो ही जायगा ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यवस्थावाक्यके अर्थवाद सिद्ध होनेपर ही पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है* पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति होनेपर 'हरिरित्यवशेनाह…' इत्यादि अन्य वचन अर्थवाद सिद्ध होंगे और उनके अर्थवाद सिद्ध हो जानेपर व्यवस्थावाक्य अर्थवाद

---

* 'ध्यायन् कृते' इत्यादि व्यवस्थावाक्य नामकीर्तनमात्रको स्वतन्त्र विधि सिद्ध करता है; क्योंकि यज्ञादिके स्थानमें युगभेदसे वह कीर्तनकी व्यवस्था करता है, कीर्तनको किसी अन्य विधिका अङ्ग नहीं बतलाता, ऐसी दशामें कीर्तन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युक्त्यन्तरदर्शनम्

अपि च वैष्णवेषु यागेषु विष्णोः स्वरूपेण न देवतात्वम्, अपि तु विष्णुशब्दानुविद्धतया, तत्संजल्पितस्यैव तस्य तत्रोद्देश्यतया विधानात्। अत एव हि तेनैव शब्देनोद्देशः; न शब्दान्तरेण; "विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्" इत्यादौ देवताभेदोऽपि। कीर्तने तु न विष्णुशब्दानुविद्धस्यैव तस्य विषयत्वम्, नामान्तराणामपि तत्र विनियोगात्; ततश्च—

होगा—इस प्रकार चक्रकदोषकी* आपत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त विष्णु-संबन्धी यज्ञोंमें विष्णु स्वरूपसे देवता नहीं हैं, अपि तु विष्णुशब्दसे संकेत किये जानेके कारण विष्णुनामसे उक्त विष्णुका ही वहाँ उद्देश्यरूपसे विधान है। अतः विष्णुशब्दसे ही वहाँ उच्चारण होता है, शब्दान्तरसे नहीं, इसीलिये "विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्" इत्यादि मन्त्रोंमें [शब्दान्तरसे उच्चारण किये जानेके कारण शिपिविष्ट और विष्णुमें मीमांसकोंने] देवता-भेद भी माना है। परन्तु कीर्तनमें तो विष्णुशब्दसे कहे जानेवाले विष्णुके ही ग्रहण होनेका नियम नहीं है; क्योंकि वहाँ अन्य नामोंका भी विनियोग किया गया है; अतः—

परार्थ नहीं सिद्ध होता, और परार्थ हुए बिना पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि परार्थता ही उसकी प्रवृत्तिका हेतु है; इसलिये कीर्तन-विषयक वचन अर्थवाद नहीं हो सकते। यदि किसी प्रकार व्यवस्थावाक्य अर्थवाद माना जा सके, तभी वह पर्णमयीन्यायका बाध नहीं कर सकेगा, इसी आशयसे कहते हैं कि व्यवस्थावाक्यके अर्थवाद सिद्ध होनेपर ही पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है।

* जहाँ दोसे अधिक कार्य परस्पर अवलम्बित हों वहाँ चक्रकदोष होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।

इत्यादेः पदार्थसम्बन्धमुखेनापि क्रतौ नानुप्रवेशः, अतो न स्तुतिपरत्वं फलश्रुतेरिति ।

फलपरत्वसंभावनायामर्थवादत्वायोगः

अपि च संभवति फलपरत्वे न स्तुतिपरत्वं युक्तम्, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायात् । पर्णमयीवाक्ये हि पर्णमयीत्वस्य द्रव्यस्य क्रियामनाश्रित्य फलसाधनत्वानुपपत्तेः, प्रदेशान्तरवर्तिनीं च

"भगवान् वैकुण्ठ (विष्णु) के नामोच्चारणको सब पापोंका नाशक मानते हैं ।"

—इत्यादि वाक्यका क्रतु-संबन्धी पदार्थ (देवता)के संबन्धसे भी क्रतु (यज्ञ)में प्रवेश नहीं हो सकता । इसलिये [पापक्षयरूप] फलश्रुति स्तुतिपरक (अर्थवाद) नहीं है ।

इसके सिवा यदि वाक्यके फलपरक (विधायक) होनेकी संभावना हो तो उसे स्तुतिपरक (अर्थवाद) मानना ठीक भी नहीं है; क्योंकि गौण और मुख्य दोनोंमें संभव होनेपर मुख्यमें ही कार्यकी प्रतीति होती है—ऐसा न्याय है । [यदि कहो कि इस न्यायके अनुसार तो 'यस्य पर्णमयी जुहूः…' इस फलश्रुतिको भी अर्थवाद न मानकर फलपरक ही मानना चाहिये, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि—] 'यस्य पर्णमयी जुहूः…' इस वाक्यमें पर्णमयीत्वरूप द्रव्य क्रियाका आश्रय लिये विना फलसाधक नहीं हो सकता [कारण यह है कि क्रिया ही फलकी साधिका होती है द्रव्य नहीं । यदि कहो कि 'दध्ना जुहोति' इत्यादिमें होमक्रियाके आश्रयसे जिस प्रकार दही फलका साधक होता है वैसे ही यज्ञ-क्रियाके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियामप्राप्तामाश्रित्य विधानायोगात् । क्रियासम्बन्धे फलसम्बन्धे च विधेये वाक्यभेदप्रसंगात् क्रतुविधिशेषत्वमेव विधीयते; ततश्च फलश्रुतेरर्थवादत्वम् । इह पुनः संकीर्तनस्य क्रियात्वात्, तस्याश्च स्वतः फलसाधनत्वोपपत्तेः फलार्थमेव विधानम् "पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" इति न्यायेन । तस्माद्यथार्थवादा एताः फलश्रुतयो न गुणवादा इति ।

आश्रयसे पलाशरूप द्रव्य भी फलसाधक होगा, तो ठीक नहीं; क्योंकि] अन्य प्रकरणमें स्थित और अप्राप्त [यजनरूप] क्रियाका आश्रय लेकर विधान करना युक्तिसंगत नहीं है।[1] यदि ['यस्य पर्णमयी जुहूः' इस वाक्यसे] क्रिया-संबन्ध और फल-संबन्ध[2]—दोनोंका विधान माना जाय तो वाक्य-भेदका प्रसंग आ जायगा [अर्थात् दो वाक्य करने पड़ेंगे] इसलिये उक्त फलश्रुतिका यज्ञ-विधिके अङ्गरूपसे ही विधान किया जाता है, और इसीलिये (यज्ञ-विधिका अंग होनेके कारण ही) यहाँ फलश्रुति अर्थवादरूप है। परन्तु इस कीर्तन-वाक्यमें संकीर्तन क्रियारूप ही है, और क्रियाका फल-साधक होना स्वतः सिद्ध है; अतः "पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" इस न्यायके* अनुसार फलके उद्देश्यसे ही उसका विधान किया गया है। इसलिये नाम-कीर्तन-वाक्योंकी फलश्रुतियाँ यथार्थवाद ही हैं, गुणवाद (अर्थवाद) नहीं।

---

१. अन्य प्रकरणमें स्थित क्रियाका आश्रय लेना।

२. अकीर्ति-निवारणरूप फलका साधक होना।

* यह न्याय उदीच्य मीमांसाका "तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" (३ । ३ । ४२) यह सूत्र है—इसमें—"ओमित्येतदक्षर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथातत्परत्वम्, तदपि स्वार्थपरत्वे बाधकभावात्? साधकाभावाद्वा? न तावद्बाधकभावाद्, अर्थान्तरपरत्वमेव हि तस्य बाधकम्, तदिह नास्तीत्यवोचाम। नापि साधकाभावात्, अध्ययनविधेरेव साधकत्वात्;

अतत्परत्वस्य निराकरणम्

यदि कहें, नाम-कीर्तन-वाक्य विधिपरक नहीं हैं, [इसलिये वे अर्थवाद हैं] तो भी यह बतलाना चाहिये कि उनके स्वार्थपरक होनेमें कोई बाधक है या साधकका अभाव है ? [जिसके कारण उन्हें विधिपरक न माना जाय।] कोई बाधक होनेके कारण तो ऐसा है नहीं; क्योंकि [स्वार्थपरक न होकर] अन्य अर्थका प्रतिपादक होना ही स्वार्थपरताका बाधक होता है, सो यहाँ नहीं है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं*। साधकका अभाव होनेके कारण भी ऐसा नहीं है;

मुद्गीथमुपासीत" इत्यादि मन्त्रोंमें निर्दिष्ट जो उद्गीथोपासनादि विधियाँ हैं वे क्रतुसे संबन्ध रखनेवाले उद्गीथद्वारा क्रतुकी अङ्गभूत ही तो नहीं है ? जैसे कि जुहूके संबन्धसे पलाश भी क्रतुका अङ्ग होता है—इस शङ्काका निराकरण करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। इसका अर्थ यों है—तन्निर्द्धारणानियमः —'उद्गीथोपासनादि विधियाँ क्रतुकी अङ्गभूत हैं, ऐसा निश्चय करनेका नियम नहीं है; क्योंकि तद्दृष्टेः—नियम न होना ही देखा गया है [कहाँ ? सो दिखलाते हैं—"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद" (जो इस अक्षरकी इस प्रकार उपासना करता है और जो नहीं करता— दोनों ही कर्म करते हैं) इस छान्दोग्यश्रुतिमें उपासनारहित क्रतुका प्रयोग भी देखा जाता है। तो उद्गीथोपासनादिका विधान ही क्यों हुआ ? इसपर कहते हैं—] पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्—उनका पृथक् (स्वतन्त्र) अप्रतिबन्ध—कर्मफलकी समृद्धि फल है, जैसा कि श्रुति कहती है—तदेव वीर्यवत्तरं भवति। तात्पर्य यह है कि वे विधियाँ क्रियारूप होनेके कारण स्वतन्त्र फलकी साधनभूत हैं। इसी न्यायके अनुसार कीर्तन भी क्रियारूप होनेके कारण स्वतन्त्ररूपसे फलका साधक है।

* यदि कीर्तनवाक्य 'यस्य पर्णमयी जुहूः'—इस वाक्यके समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स हि प्रयोजनशून्यमक्षरमात्रमपि न ग्राहयति, अत एव कुत्रचिदेकत्र तात्पर्य्यमागृह्णाति;तत्रान्यपरत्वस्य पराकृतत्वात् स्वार्थपरत्वं परिशिष्यते।

अपि च,उपक्रमोपसंहारयोरेकरूपत्वं पौनःपुन्यमनधिगतत्वमर्थवत्त्वमुपपत्तिः प्रशंसा चेति षड्विधानि तात्पर्य्यलिङ्गानि, तानि चाजा-

---

क्योंकि अध्ययन-विधि ही यहाँ साधक है और वह प्रयोजन-रहित एक अक्षरका भी अध्येतव्यरूपसे ग्रहण नहीं कराती है, अतएव वह [अन्यत्र या स्वार्थमें] कहीं एक जगह अपना तात्पर्य रखती ही है। उनमेंसे अन्य अर्थमें तात्पर्य होनेका खण्डन किया जा चुका है; अतः अब उसका स्वार्थमें ही तात्पर्य होना शेष रह जाता है।

इसके अतिरिक्त उपक्रम और उपसंहारकी एकता, पौनःपुन्य (अभ्यास), अनधिगतत्व (अपूर्वता), अर्थवत्त्व (फलयुक्त होना), उपपत्ति (युक्ति) और प्रशंसा—ये छः प्रकारके तात्पर्य-ग्राहक लिङ्ग* हैं, इनकी अजामिल-उपाख्यानादि स्थलोंमें

स्तुतिपरक होता और पापक्षयरूप फलके उद्देश्यसे किसी अन्य यागादिका अङ्ग होता तो उसके स्वार्थपरक होनेमें बाधा आ सकती थी। परन्तु उसके स्तुतिपरक होनेका खण्डन कर चुके हैं तथा यह भी बता चुके हैं कि युग-भेदसे यागादिके स्थानमें स्वतन्त्ररूपसे कीर्तनकी व्यवस्था है; अतः वह यागादिका अङ्ग नहीं है। इसलिये कीर्तनके स्वार्थपरक होनेमें कोई बाधक नहीं है।

* इन लिङ्गोंके द्वारा किसी ग्रन्थके सिद्धान्तका निर्णय किया जाता है। ग्रन्थमें जो विषय उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (अन्त) में समानरूपसे वर्णित हो, जिसका अनेकों स्थलोंपर अभ्यास हो यानी जो बार-बार दुहराया गया हो, जिससे कोई अपूर्व बात निकलती हो, जिसका कोई मुख्य फल हो, जिसकी ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की गयी हो तथा जिसके लिये युक्तियाँ दी गयी हों—वही उस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलोपाख्यानादिषु स्पष्टमुपलभ्यन्ते, व्याकरिष्यन्ते च यथावसरम्। तस्मान्नैवातत्परत्वं नामसंकीर्तनविषयाणां वचनानाम् । अतो यत्किञ्चिदेतदर्थवादरूपत्वमिति ।

नामकीर्तनवाक्यानां विधित्वसमर्थनम्

अपि च, मानान्तरानधिगतं कृतियोग्यमिष्टसाधनमेव विधिः ; स च लिङादियुक्तेन वाक्येनावगम्यतां वाक्यान्तरेण वा कस्तत्राग्रहः ? इहापि—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

स्पष्टतया उपलब्धि होती है, तथा यथासमय इनकी व्याख्या भी की जायगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि नाम-कीर्तन-विषयक वचनोंका स्वार्थसे अन्यत्र तात्पर्य नहीं है। अतः इनको अर्थवाद कहना अयुक्त ही है।

तथा, जो अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त न होकर कृतियोग्य (प्रयत्नकी योग्यतावाला) हो, ऐसा इष्ट-साधन ही विधि कहलाता है, वह लिङादियुक्त[1] वाक्यसे जाना जाय अथवा वाक्यान्तरसे[2], इसमें आग्रह क्या है? यहाँ (नाम-कीर्तन-वाक्यमें) भी—

"सभी पापियोंके लिये एकमात्र यही उद्धारका उपाय है कि भगवान् विष्णुका नाम-कीर्तन किया जाय जिससे कि बुद्धि भगवद्विषया हो जाती है।"

---

१. लिङादियुक्त वाक्य—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। यहाँ 'यजेत' क्रिया 'लिङ्' लकारकी है।

२. वाक्यान्तर—'पूषा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादि। यहाँ 'लिङ्' 'लोट' आदि विधिसूचक लकारका प्रयोग नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति प्रमाणान्तरानधिगतं पापक्षयसाधनत्वमवगम्यते नामकीर्तनस्य, कृतियोग्यं च तत् क्रियात्वात् कालसंस्पर्शानवगमात्।

ननु यन्न सहत एव कालसंसर्गं तत् कार्यम्, यथा यजेतेत्यादिनाभिहितम्; पदान्तराभिहितं तु न तथा, नामकीर्तनमित्यादेरस्तीत्यादिना सामानाधिकरण्येऽप्यविरोधात्।

तदयुक्तम्, कृत्यानामविधित्वप्रसङ्गात्; ते हि कालसंबन्धेनाव-

—इस वचनद्वारा नामकीर्तनकी पापक्षयके प्रति साधनता जानी जाती है, जो कि [शब्दातिरिक्त] अन्य किसी प्रमाणसे नहीं ज्ञात होती तथा क्रियारूप होनेके कारण वह (कीर्तन) कृतियोग्य भी है; क्योंकि उसके साथ किसी कालका संबन्ध ज्ञात नहीं होता [अतः कीर्तन-वाक्य विधि है।]

शङ्का—यजेत (यज्ञ करे) इत्यादि पदोंसे प्रतिपादित कार्योंकी भाँति जो तीनों कालके संसर्गको कदापि न सहन कर सके वही कार्य (विधि) है, अन्य पदोंसे प्रतिपादित कार्य तो ऐसा नहीं है [जो त्रिकाल-संसर्गको सहन न कर सके]; क्योंकि 'नामकीर्तनम्' इत्यादि पदोंका 'अस्ति' इत्यादि क्रियाओंके साथ सामानाधिकरण्य (संबन्ध) होनेपर भी कोई विरोध नहीं पड़ता [और 'अस्ति' के संसर्गसे उसमें वर्तमान कालका संसर्ग हो ही जाता है]।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेपर कृत्य-प्रत्ययान्त ('कर्तव्यम्,' 'यष्टव्यः' आदि) शब्द विधि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि 'कर्तव्यमस्ति' (कर्तव्य है) इत्यादि प्रयोग देखे जानेके कारण वे भी [वर्तमानादि] कालसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

दृश्यन्ते कर्तव्यमस्तीत्यादिप्रयोगदर्शनात्, तस्मात् कालसंस्पर्शानवगम एव कार्य्यत्वोपयोगी न तदसहत्वम्, सर्वथा कालासंबन्धे शून्यत्वप्रसङ्गाद्, उक्तं च भाष्ये "भविष्यश्चैषोऽर्थः" इति, तस्माद् दुर्वार एव नामसंकीर्तनविषयो विधिः ।

भवतु वार्थवादत्वमेषाम्, तद्बलादेव विधित्वमनुमिमीमहे, विधिं विना तस्यैवानुपपत्तेः; विधिशेषो ह्यर्थवादः । तत्र च विधावर्थवादिकमेव फलं भविष्यति ।

अवरुद्ध (युक्त) होते हैं। इसलिये कालसंसर्गका भान न होना ही कार्यत्वमें उपयोगी [अर्थात् क्रियात्वका बोधक] है, सर्वथा उसका सहन न होना ही कार्यत्वमें उपयोगी नहीं है, क्योंकि यदि कालका बिल्कुल संबन्ध न मानें तो शून्यताका प्रसंग आ जायगा [यानी किसीको भी 'कार्य' नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि 'यजेत' आदि 'लिङ्' के प्रयोगमें भी भविष्यत्कालका संबन्ध माना गया है]। भाष्यमें भी कहा है "यह विधिलिङ् आदि अर्थ भविष्यकालिक भी है।" अतः नामसंकीर्तनविषयक विधिका निवारण करना कठिन ही है।

अथवा, ये कीर्तनविषयक वचन अर्थवाद ही रहें, अर्थवादताके ही बलपर हम इनके 'विधि' होनेका अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि बिना विधिके अर्थवादत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता; विधिका शेष (अंगभूत) ही तो अर्थवाद हुआ करता है । इस प्रकार उनके विधि सिद्ध होनेपर वहाँ अर्थवादसे उपस्थापित [पापक्षय] ही फल होगा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामसंकीर्तनविषयाणि विधिवचनानि

अपि च स्पष्टमुपलभ्यन्त एव नामसंकीर्तनविषया विधयः—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ।
"संकीर्तयेज्जगन्नाथम्" "गोविन्देति सदा वाच्यम्"
नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ।
हित्वा लज्जां कलिमलकुलच्छेदकानीरयेद्वा

इसके अतिरिक्त नामसंकीर्तनविषयक विधियाँ स्पष्ट ही उपलब्ध होती हैं। यथा—

"इसलिये एकाग्रचित्तसे सात्त्वतों (भक्तों अथवा यादवों) के स्वामी भगवान् वासुदेवका श्रवण, कीर्तन, ध्यान और पूजन सदा ही करना चाहिये।" "पूर्ववर्ती भक्तोंद्वारा गाये हुए भगवत्प्रतिपादक नामोंको लज्जा छोड़कर गाता हुआ निरासक्तभावसे विचरण करता रहे।" "जगदीश्वरका नामोच्चारण करे।" "गोविन्द—इस नामको सदा ही रटे" "भगवान्में अनुराग उत्पन्न करनेवाले नामोंका लज्जा छोड़कर पाठ करे।" "अथवा लज्जा त्यागकर कलिके पाप-समूहको नष्ट करनेवाले भगवान् विष्णुके नामोंका निरन्तर उच्चारण करे। [प्रणवका अभ्यास, काशीका निवास, शतरुद्रियका जप और] सदा भगवान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णोर्नामान्यनिशममृतप्राप्तिरेषा चतुर्धा ॥

इत्येवंजातीयका बहवः ।

फलश्रुतेरर्थवादत्वाक्षेपखण्डनम्

ननु भवतु नामकीर्तनविषयो विधिः, तथापि नित्य एवासौ "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इतिवत्;

संकीर्तयेज्जगन्नाथं वेदं वापि समभ्यसेत् ।

इति समभिव्याहारात्, ततश्च घृतकुल्यादिफलश्रुतेरिव पापक्षयफलश्रुतेरर्थवादत्वम् ।

विष्णुके नामोंका उच्चारण—इन चारों प्रकारोंसे अमृत (मोक्ष) पदकी प्राप्ति होती है।"

—इत्यादिरूपसे अनेकों वचन हैं।

शङ्का—नामकीर्तनविषयक विधि भले ही रहे, तथापि वह "प्रतिदिन स्वाध्याय-पाठ करे" इत्यादिके समान नित्य-विधि ही है [काम्य नहीं]; क्योंकि—

"जगदीश्वरका नाम-कीर्तन अथवा वेदाभ्यास करे।"

इस प्रकार उसका नैत्यिक वेदाभ्यासके साथ पाठ किया गया है। अतः जिस प्रकार "घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति" इत्यादि फलश्रुति अध्ययनकी अर्थवादभूत है, उसी प्रकार पापक्षयरूप फलश्रुति भी नाम-कीर्तनविधिका अर्थवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्, अविशेषात्; न हि नित्योऽनित्यो वा विधिः फलं विना समाप्यते, ततश्चाश्रुतफलकल्पनादार्थवादिकफलस्वीकरणमेव न्याय्यम् ।

उपसंहारः

तस्माद्विवक्षितार्थस्यैव नामकीर्तनस्य पापक्षयहेतुत्वप्रतिपादकानि पुराणवचनानीति ।

कृष्ण कृष्ण मधुसूदन विष्णो
कैटभान्तक मुकुन्द मुरारे ।
पद्मनाभ नरसिंह हरे श्री-
राम राम रघुनन्दन पाहि ॥

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि [नित्य अथवा काम्यविधिकी फलाकाङ्क्षामें] कोई विशेषता (अन्तर) नहीं है। नित्य या अनित्य कोई भी विधि फलके विना समाप्त नहीं होती, इसलिये अश्रुतफल-कल्पनाकी अपेक्षा आर्थवादिक फलको स्वीकार करना ही न्यायसंगत है।

अतः पुराण-वचन अपने अभिप्रेत अर्थवाले नामकीर्तनको ही पाप-क्षयका हेतु बतलाते हैं । इति । [अब परिच्छेदकी समाप्तिमें मङ्गलाचरण करते हैं—]

"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे मधुसूदन ! हे विष्णो ! हे कैटभनाशक ! हे मुकुन्द ! हे मुरारे ! हे पद्मनाभ ! हे नरसिंह ! हे हरे ! हे श्रीराम ! हे राम ! हे रघुनन्दन ! आप हमारी रक्षा करें।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपादपद्मोपजीविनो लक्ष्मीधरस्य कृतौ भगवन्नामकौमुद्यां पुराणवचनानां विवक्षितार्थत्वप्रतिपादनं नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

इस प्रकार रघुनाथस्वरूप गुरुदेव श्रीयुत अनन्तानन्दके चरणारविन्दोंके आश्रित लक्ष्मीधरकी बनायी हुई भगवन्नामकौमुदीमें 'पुराणोंके वचनोंका अर्थ विवक्षित है' इस विषयका प्रतिपादक प्रथम परिच्छेद [सानुवाद] समाप्त हुआ।

पापौघहव्यहवनाय हुताशकल्पं
सङ्कल्पकल्पनविधौ जितकल्पवृक्षम्।
भैषज्यमेव भवदुर्गतिनाशनाय
नामामृतं भगवतो भुवने चकास्ति ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

द्वितीयः परिच्छेदः

दिवमिव धियमेव भासयन्मे सपदि मनःकुमुदं विकासयिष्यन् ।
सततमुदयतां तमो निरस्यँल्ललितमनोरमलीलनीलचन्द्रः ॥ १ ॥
असितावयवस्य या व्रजेन्दोः सितशोभैव पृथक्कृतेव भाति ।
प्रणयातिशयेन तां नु राधां भवबाधाविनिवृत्तये नमामः ॥ २ ॥

कस्मान्निमज्जनभयं ननु तर्कयाम-
रस्त्वं नाविको नरहरे यदि कर्णधारः ।
कामं निजोर्मिभिरयं प्रचलेत्समन्ता-
न्नाब्धो भवाब्धिरिह चेत्तव नामनौका ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्णाय नमः

मङ्गलाचरणम्

श्रीकान्त कृष्ण करुणाकर कञ्जनाभ
कैवल्यवल्लभ मुकुन्द मुरान्तकेति ।
नामावलीं विमलमौक्तिकहारलक्ष्म-
लावण्यबन्धनवतीं करवाणि कण्ठे ॥

एवं स्थिते नामकीर्तनस्य पापक्षयं प्रति साधनत्वे पुनरिदं विचार्यते—किं कस्यचित् साधकतमस्याङ्गभूतं तत्? उत स्वयमेव साधकमिति?

श्रीकान्त, श्रीकृष्ण, करुणाकर, कञ्जनाभ, कैवल्य-वल्लभ, मुकुन्द और मुरान्तक—इस नाम-मालाको, जो उज्ज्वल मुक्ता-हारके समान लावण्यमय सूत्रमें पिरोयी हुई है, मैं सदा ही अपने कण्ठमें धारण करूँ।

पूर्व परिच्छेदमें कहे हुएके अनुसार नाम-कीर्तनका पापक्षयमें कारण होना सिद्ध हो जानेपर पुनः इस बातका विचार किया जाता है कि वह [नामकीर्तन पाप-क्षयके प्रति] किसी साधकतम प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर साधक है या स्वयं ही?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु निर्णीतमेतत् फलश्रुतेरर्थवादत्वनिराकरणेन ।

सत्यम्; तदेव पुनराक्षेपान्तरनिराकरणेन दृढीक्रियते स्थूणानिखननन्यायेन ।

पूर्वपक्षः—स्मृतिपुराणयोर्विरोधे समुच्चयः

तत्र मन्वाद्युक्तप्रायश्चित्ताङ्गमिति तावत्प्राप्तम्, तथा हि—विकल्प-

---

शङ्का—[पापक्षयरूप] फलश्रुतिके अर्थवादत्वका खण्डन करते हुए इस बातका निर्णय तो किया ही जा चुका है [कि वह साक्षात् साधक है]।

समाधान—हाँ, सचमुच ही निर्णय किया जा चुका है, फिर भी उसीको अन्य आक्षेपोंका निराकरण करते हुए स्थूणानिखननन्यायसे* दृढ़ किया जा रहा है ।

पूर्वपक्ष

यहाँ पहले यह आपत्ति होती है कि मन्वादि-कथित प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही नामकीर्तन पाप-क्षयका कारण है; इस विषयमें यह कहा जाता है कि विकल्प[1],

---

* जैसे खूँटेको गाड़ते समय 'यह दृढ़ हुआ या नहीं ?' इस बातको जाननेके लिये उसे हाथसे हिला-हिलाकर ठोंकते हैं अथवा अधिक गहरा गढ़ा खोदकर उसमें गाड़ते हैं, उसी प्रकार जहाँ सिद्धान्तविषयपर शङ्काएँ करके उसे सुदृढ़ करनेके लिये समाधान किया जाता है ऐसे स्थलोंपर स्थूणानिखनन्यायकी प्रवृत्ति समझी जाती है ।

१. पाप-क्षयके उद्देश्यसे या तो नामकीर्तन करना चाहिये या मन्वादि-कथित प्रायश्चित्त, यही विकल्प है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समुच्चयव्यवस्थानामन्यतमाश्रयणेन स्मृतिपुराणविरोधस्तावदवश्यं परिहर्त्तव्यः, समानमूलत्वेनान्यतरस्याप्यनतिलङ्घनीयत्वात् । तत्र विकल्पव्यवस्थे तावन्न युज्येते, नित्यवदवगतस्य पाक्षिकत्वे सामान्यश्रुतस्य च विशेषविषयत्वे शब्दवचनस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात्; अतः समुच्चयोऽत्र परिशिष्यते ।

ननु समुच्चयेऽपि निरपेक्षसाधनत्वेनावगतस्य सापेक्षत्वे

समुच्चय[1] और व्यवस्था[2]—इनमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर स्मृति और पुराणोंके विरोधका अवश्य परिहार करना चाहिये, क्योंकि एक ही समान वेदमूलक होनेके कारण दोनोंमेंसे एकका भी उल्लङ्घन करना उचित नहीं है। ऐसी दशामें यहाँ विकल्प और व्यवस्थाका आश्रय लेना तो ठीक नहीं, क्योंकि जो नित्यके समान ज्ञात है उसको विकल्प माननेसे और जिसका सामान्यरूपसे श्रवण होता है उसे किसी विशेषको विषय करनेवाला माननेसे वैदिक शब्द और स्मृति-वाक्योंके स्वारस्य-भङ्ग होनेका प्रसङ्ग आ जाता है। अतः अब यहाँ समुच्चय ही बच जाता है।

आक्षेपक—समुच्चयका आश्रय लेनेपर भी जो किसी अन्य साधनकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र साधन समझा गया हो

१. नाम-कीर्तन और प्रायश्चित्त—दोनों ही करने चाहिये, एकसे पाप-क्षय नहीं हो सकता, यह समुच्चय है।

२. किसी अधिकारीके लिये नाम-कीर्तन ही पापक्षयका साधक है और किसीके लिये प्रायश्चित्त—इस तरहका निर्णय ही व्यवस्था है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वारस्यभङ्गस्तदवस्थ एव ।

मैवं; नैरपेक्ष्यं हि साधनान्तराभावः, स च नानयोरन्यतरस्यापि विषयः; स्वविषयस्य साधनत्वे साधनान्तरस्य चाभावे प्रमेये वाक्यभेदप्रसङ्गात् । स तु योग्य-प्रमाणान्तरानुदयस्य विषयः, उपलभ्यते तु प्रमाणान्तरं साधनान्तरग्राह-

समुच्चयस्य श्रैष्ठ्यम्

उसे अन्यकी अपेक्षा रखनेवाला माननेसे स्वारस्यभङ्गका दोष तो ज्यों-का-त्यों रह ही गया ।

पूर्वपक्षी—ऐसा न कहो; क्योंकि अन्य साधनकी अपेक्षा न रखनेका तात्पर्य यह है कि अन्य साधन है ही नहीं; और अन्य साधनका अभाव इन दोनों (नामकीर्तन और मन्वादि-प्रायश्चित्त) मेंसे किसीका भी विषय नहीं है [अर्थात् इन कीर्तनादिविषयक वचनोंमें किसीसे भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि पापक्षयादि कार्योंके लिये एकमात्र कीर्तन अथवा प्रायश्चित्त ही साधन है दूसरा नहीं । शब्दसे ऐसा अर्थ निकला ही नहीं करता,] क्योंकि स्वयं अपने-अपने विषयका साधक होना और उसके लिये दूसरे साधनका अभाव बतलाना—ये दो बातें एक ही वचनसे प्रमाणित करनेमें वाक्यभेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा*। साधनान्तरका अभाव तो वहाँ समझा जाता है जहाँ किसी अन्य योग्य प्रमाणकी उपलब्धि न होती हो, परन्तु यहाँ तो अन्य साधन-को ग्रहण करानेवाले प्रमाणान्तरकी प्राप्ति होती है [अर्थात्

* एक वाक्यसे एक ही कार्यका विधान होता है, दो कार्योंका विधान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कम्, अतः प्रमाणद्वयपर्य्यालोचनायां परस्परसापेक्षत्वात् स्मार्त्तपौराणयोः समुच्चय एव श्रेयान् ।

नन्वेवमपि समुच्चितयोरनयोर्दर्शपौर्णमासयोरिव कारणत्वमेव

स्मृति और पुराणोंके प्रमाणोंसे दो भिन्न-भिन्न साधन उपलब्ध होते हैं] अतः दोनों प्रमाणोंका विचार करनेपर एकको दूसरेकी अपेक्षा होनेके कारण स्मृति और पुराणोंके वचनोंका समुच्चय ही उत्तम है ।*

आक्षेपक—यदि ऐसा मानें तो भी जिस प्रकार [स्वर्गरूप फल देनेमें] दर्श और पौर्णमास दोनों ही समानरूपसे कारण हैं, उसी प्रकार परस्पर समुच्चित (मिलित) हुए ये दोनों ही समानरूपसे पापक्षयके साधक क्यों न मान लिये जाँय ? अथवा

करनेके लिये दो वाक्य करने पड़ते हैं, इसलिये एक वाक्यसे दो कार्योंका विधान माननेपर वाक्यभेदरूप दोष अनिवार्य ही है ।

* नामकीर्तनवाक्यसे इतना ही प्रतीत होता है कि कीर्तन पापक्षयका साधक है, यह नहीं प्रतीत होता कि वह किसी अन्यकी अपेक्षा रखता ही नहीं; क्योंकि शब्दसे यह अर्थ नहीं ज्ञात होता । इसी प्रकार मनु आदिके वचनोंसे द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त ब्रह्महत्यादि पापके नाशक हैं, इतना ही बोध होता है, यह नहीं कि वे अन्य साधनकी अपेक्षा ही नहीं रखते । अतः दोनोंका मिलकर पापनाशका साधक होना उचित ही है; क्योंकि शास्त्रीय प्रमाणसे दोनों ही पापनाशक सिद्ध हैं । ऐसा माननेसे स्वारस्यभङ्ग आदि दोष भी नहीं आता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किं न स्याद् विपरीतो वाङ्गप्रधानभावः ?

पुराणवचनेभ्य एव भगवद्भजनस्य प्रायश्चित्तकर्माङ्गत्वावगमादिति ब्रूमः । श्रीभागवते तावत्—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र ! सुराकुम्भमिवापगाः ॥

इति भगवद्भजनस्य प्रायश्चित्ताङ्गत्वमवगम्यते, प्रायश्चित्तानि न पुनन्तीति न तस्यार्थः, मन्वादिवचनव्याकोपात्, नारायणपराङ्मुख-

---

इसके विपरीत नामकीर्तन प्रधान है और प्रायश्चित्त उसका अङ्ग है—इस प्रकार इनमें अङ्गाङ्गिभाव क्यों नहीं स्वीकार किया जाय ?

पूर्वपक्षी—[इसके उत्तरमें] हम यह कहते हैं कि पुराणोंके वचनोंसे ही यह ज्ञात होता है कि 'भगवद्भजन प्रायश्चित्त कर्मका अङ्ग है' इसी कारण ऐसा नहीं किया जाता है । श्रीमद्भागवतमें भी—

"हे राजेन्द्र ! जैसे मदिराके घड़ेको नदियाँ नहीं शुद्ध कर सकतीं उसी प्रकार पापशोधनके लिये किये हुए प्रायश्चित्त भगवद्विमुख पुरुषको नहीं पवित्र कर सकते ।"

इस वचनसे ज्ञात होता है कि भगवद्भजन प्रायश्चित्तका अङ्ग है। उसका यह अर्थ नहीं है कि 'प्रायश्चित्त पवित्र ही नहीं कर सकते,' क्योंकि ऐसा होनेपर मन्वादि-वाक्योंसे विरोध होगा और 'नारायणपराङ्मुखम्' यह विशेषण देना भी व्यर्थ हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिति विशेषणवैयर्थ्याच्च । अपि च प्रायश्चित्तान्यनुष्ठितान्यपि नारायणपराङ्मुखं न पुनन्ति नारायणपरायणं तु पुनन्तीत्यर्थः । अतः स्वतः पुनतां तेषां नारायणपरायणत्वमङ्गमित्यवगम्यते । तथा तत्रैव—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं हरेः ॥

इति, तवेति वा; सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वं हि हरिकीर्तनस्य सिद्धवदनूद्यते । तथा स्कन्दपुराणेऽपि—

किन्तु उसका अर्थ यह है कि किये गये प्रायश्चित्त भी नारायणविमुख पुरुषको पवित्र नहीं करते, नारायणके भक्तको तो पवित्र करते ही हैं, अतः स्वतः पवित्र करनेवाले उन प्रायश्चित्तोंका नारायणपरायणता अङ्ग है—यह बात ज्ञात होती है। तथा उस (भागवत) में ही—

"मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पवित्रता और द्रव्य आदिसे भी छिद्र (न्यूनता)को प्राप्त हुए कर्मोंको श्रीहरिका अथवा [हे हरे] आपका कीर्तन पूर्ण कर देता है"

इस प्रकार हरिकीर्तनका सम्पूर्ण कर्मोंको साङ्ग (पूर्ण) बनाना ही प्रयोजन है—इस बातका इस प्रकार अनुवाद करते हैं, मानो यह सब तरहसे सिद्ध हो चुकी है। तथा स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

इति। अनुवादश्च प्राप्तिमनुमापयति निवीताधिकरणन्यायेन; उपव्यानविधायकवाक्यशेषे निवीतानुवादवत्। श्रीविष्णुपुराणेऽपि—

"जिनके स्मरण और नामोच्चारणसे तप तथा यज्ञ आदि कर्मोंमें तत्काल न्यूनताकी पूर्ति हो जाती है, उन भगवान् अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ।"

[आक्षेपक—नाम-कीर्तन सभी कर्मोंकी न्यूनताको पूर्ण करता है—ऐसा अनुवाद होनेपर भी प्रायश्चित्तके अङ्गरूपसे उसका विधान कैसे हो सकता है? पूर्वपक्षी—] निवीताधिकरणन्यायसे अनुवाद भी प्रायश्चित्त, तप और यज्ञ आदिके अङ्गरूपसे नामकीर्तनके विधानका अनुमान कराता है। जैसे उपवीतविधायक वाक्यके शेषभागमें निवीत शब्दका अनुवाद उपवीतके अङ्गरूपसे निवीतकी विधि होनेका अनुमान कराता है *। श्रीविष्णुपुराणमें भी—

* इस प्रसंगका अभिप्राय यह है—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते (जो उपवीत पहनता है वह देव-चिह्न ही धारण करता है)' इस उपवीतविधायक वाक्यके शेषमें इस प्रकार निवीत आदिका अनुवाद हुआ है—'निवीतं मनुष्याणाम् (मनुष्यसम्बन्धी आतिथ्य आदि कर्मोंमें जनेऊको निवीतरूपमें (मालाकी भाँति) रखे)' 'प्राचीनावीतं पितृणाम् (पितृसंबन्धी कर्मोंमें उसे प्राचीनावीत भावसे रखे अर्थात् बाएँ हाथको बाहर निकालकर दाएँ कन्धेपर जनेऊ कर दे) तथा 'उपवीतं देवानाम् (देव-सम्बन्धी कार्योंमें जनेऊको उपवीतरूपमें (दाएँ हाथको बाहर कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम् ॥

इति कर्माङ्गत्वमवगम्यते हरिस्मरणस्य, यद्यत्र स्मरणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितं किमिदं जपहोमार्चनादिष्विति ? अतः सर्वकर्माङ्गत्वाद्

"हे मैत्रेय ! जप, होम और पूजनादि कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हुए जिसका मन भगवान् वासुदेवमें लगा रहता है उसके लिये देवेन्द्रका पद भी यदि फलरूपसे प्राप्त हो तो वह भी विघ्न ही है।"

इस कथनसे हरिस्मरण जपादि कर्मोंका अङ्ग ही प्रतीत होता है। यदि यहाँ हरिस्मरण स्वतन्त्रतापूर्वक विवक्षित होता तो 'जप, होम और पूजनादि कर्मोंमें' इस कथनकी क्या आवश्यकता थी ? अतः भगवान्‌का कीर्तन और स्मरण

बाएँ कन्धेपर) रखे ।' यहाँ उपवीतको देवकर्मोपयोगी होनेके कारण सर्वोत्तम बतलानेके लिये 'निवीतम्' आदि वाक्य अर्थवादरूपसे प्रयुक्त हुए हैं; क्योंकि ये सभी उपवीत-विधिके शेष (अङ्ग) हैं और विधिशेष अर्थवादरूप ही होते हैं—यह पहले कहा जा चुका है। यद्यपि निवीत-वचन अनुवादमात्र ही है, तथापि आतिथ्यादि कर्मोंमें निवीतकी विधिको प्रमाणित करता है। सेवा-सम्बन्धी कार्योंमें निवीतका विधान इसलिये है कि जनेऊ असावधानीसे गिरकर कहीं अशुद्ध न हो जाय। कण्ठमें मालाकी भाँति पहन लेनेसे फिर उसके गिरनेका भय नहीं रहता। यही निवीताधिकरणन्याय कहलाता है। जैसे यहाँ निवीतानुवाद उपवीतके अङ्गरूपसे निवीतकी विधिको प्रमाणित करता है, इसी प्रकार नामकीर्तनविषयक अनुवाद भी यागादिके अङ्गरूपसे कीर्तनकी विधि होनेका अनुमान कराता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवत्कीर्तनस्मरणयोः, प्रायश्चित्तस्यापि तदन्तःपातित्वात्, प्रायश्चित्ताङ्गत्वेनैव नामकीर्त्तनं पापक्षयहेतुर्न स्वतन्त्रमिति।

पापध्वंसे नामकीर्तनस्य प्राधान्यमित्युत्तरपक्षः

अत्र समाधीयते—स्वप्रधानमेव पुरुषोत्तमकीर्त्तनं पापप्रध्वंसनहेतुः। श्रीभागवते तावत्—

कर्म्मणा कर्म्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥

इति कर्मात्मकप्रायश्चित्तनिन्दापूर्वकम्—

सभी कर्मोंके अङ्ग हैं तथा प्रायश्चित्त भी कर्मोंके ही अन्दर है, इसलिये प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही नामकीर्तन पाप-क्षयका हेतु है, स्वतन्त्र नहीं।

सिद्धान्तपक्ष

अब यहाँ समाधान किया जाता है—भगवान् पुरुषोत्तमका नामकीर्तन स्वयं प्रधानरूपसे पाप-नाशका कारण होता है; [किसी विधिका अङ्ग होकर नहीं,] क्योंकि श्रीमद्भागवतमें—

"[प्रायश्चित्तादि] कर्मसे [पाप] कर्मका आत्यन्तिक (समूल) विनाश नहीं होता; [उस समय भी वासना रहती ही है; अन्यथा पुनः पापाचार न होता], क्योंकि कर्मका अधिकारी अज्ञानी होता है। आत्यन्तिक विनाशका साधक प्रायश्चित्त तो विमर्श (ब्रह्मविद्या) है।"

इस प्रकार कर्मरूप प्रायश्चित्तकी निन्दापूर्वक—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः ॥

इति ब्रह्मविद्यासमानस्कन्धतया केवलायाः कीर्तनादिलक्षणाया भगवद्भक्तेः प्रायश्चित्तत्वेनावधारितत्वात् ।

तत्राजामिलदृष्टान्तः

तथा—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम् ॥

"कुछ लोग केवल भक्तिसे भगवान् वासुदेवमें मन लगाये हुए अपने समस्त पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे सूर्य तुषारको।"

—इत्यादि कथनके द्वारा ब्रह्मविद्याकी समकक्ष होनेके कारण केवल कीर्तनादिरूपा भगवद्भक्ति [पाप-शोधक] प्रायश्चित्तरूपसे निश्चित की गयी है। तथा—

"सभी पापियोंके लिये सबसे बढ़कर उद्धारका उपाय यही है कि भगवान् विष्णुका नामोच्चारण किया जाय, जिससे उनमें मन लगा रहे। जिस समय अजामिलने 'नारायण' इस चार अक्षरोंवाले नामका उच्चारण किया उसी समय नामोच्चारणमात्रसे ही इस पापीका उद्धार हो गया। हे पुत्रो!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥

इति तत्र तत्रैवकारश्रवणात्,

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण उपैति मुक्तिम् ॥

इत्यनेनापि केवलस्य कीर्तनस्य कृत्स्नपापक्षयहेतुत्वमेव

भगवान्‌के नामोच्चारणका माहात्म्य देखो, जिसके ही बलसे अजामिल भी यमराजके पाशसे मुक्त हो गया ।"

—इनमेंसे प्रत्येक वाक्यमें [नामकीर्तनको स्वतन्त्ररूपसे पापनाशक बतलाते हुए] निश्चयसूचक एवकार (ही) का श्रवण होता है । और—

"मनुष्योंके पापका नाश करनेके लिये इतने बड़े साधनकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्‌के गुण, कर्म और नामोंका कीर्तन किया जाय; क्योंकि आज अजामिल-जैसा पापी भी मरते समय 'नारायण' शब्दसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्ति पा रहा है ।"

—इस कथनके द्वारा भी 'केवल नाम-कीर्तन ही समस्त पापोंके नाशका कारण है'—इसी बातका समर्थन होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्थ्यते । यदि हि पर्याप्तवचनोऽयमलंशब्दस्तदा प्रथमाप्रयोगेण भवितव्यम्, अलं मल्लो मल्लायेतिवत्; इह तु तृतीया दृश्यते, अतो निवारणवचनोऽयमलंशब्द इत्यलमतिप्रसङ्गेनेतिवत् ।

एतावतेति पद्यार्थ-निरूपणम् ।

ततश्चायमर्थः, भगवतो गुणकर्मनाम्नां सङ्कीर्तनमिति यत्पुंसामघनिर्हरणायेति, एतावता अलम्, एतावन्नानुष्ठेयम्; पापक्षयमात्रस्यातितुच्छत्वात्, भगवत्कीर्तनस्याति गरीयस्त्वात् । एतदेव विवृणोति—विक्रुश्येति, आमरणमभ्यस्तमहापापोऽजामिलोऽपि पुत्रं विक्रुश्य न

है। यदि इस 'अलम्' शब्दको पर्याप्त अर्थका वाचक मानें तो उसके योगमें तृतीया विभक्ति न होकर 'एतावान् अलम्' इस प्रकार प्रथमा विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिये। जैसे 'अलं मल्लो मल्लाय' (मल्लके लिये मल्ल पर्याप्त है) इसमें 'अलं मल्लः' यहाँ प्रथमा विभक्तिका प्रयोग देखा जाता है। परन्तु यहाँ तो 'एतावता' तृतीया विभक्ति दीख पड़ती है, अतः 'अब इस प्रसंगमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है' इस वाक्यके समान यह 'अलम्' शब्द निवारणका वाचक है।

इसलिये इसका अर्थ यों समझना चाहिये—भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका जो कीर्तन मनुष्योंके पाप-नाशके निमित्त किया जाता है वह अनावश्यक है। [इसके लिये] इतने बड़े साधनका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये; क्योंकि पापका नाशरूप कार्य अत्यन्त तुच्छ है और भगवान्का नाम-कीर्तन बहुत बड़ा है। इसी बातको स्पष्ट करते हैं—मरणपर्यन्त महान् पापोंका अभ्यास रखनेवाला अजामिल भी 'नारायण' शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

हरिं कीर्तयित्वा, तदपि न स्पष्टं म्रियमाणत्वेन शिथिलकरणत्वात्, तथापि दैवगत्या पुत्रनाम्न एव भगवन्नामत्वात्, मुक्तिं समस्तानर्थनिवृत्तिलक्षणां निरतिशयानन्दरूपां च प्राप्तः; नानर्थैकदेशस्य पापस्य निवृत्तिमात्रम् । तत्रापि मुक्तिः किल बभूवेति नैतदैतिह्यमात्रं किन्त्वयमधुनैव मुक्तिमुपयातीति साङ्गुलिनिर्देशमभिधीयते धर्म्मराजेन; तत्समये तस्यार्थस्य वर्तमानत्वात्। उक्तलक्षणाया मुक्तेरबहिष्ठे नानन्यवेद्यत्वेऽपि भगवल्लोकप्राप्तिलक्षणाया अपि मुक्तेस्तात्पर्य्यम्, तस्माद्विवक्षितार्थलाभः ।

से पुत्रको पुकारकर, न कि भगवान्‌का कीर्तन करके, वह भी स्पष्ट नहीं, मरनेके समय जब कि उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी थीं और उसमें भी दैवयोगसे पुत्रका नाम ही भगवान्‌का नाम था, जिसका समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाना ही लक्षण है ऐसी निरतिशय आनन्दरूपा मुक्तिको पा गया; यहाँ अनर्थके एकदेशरूप पापकी ही निवृत्ति नहीं हुई, अपि तु उसका मोक्ष ही हो गया। यह केवल बीता हुआ इतिहासमात्र नहीं है, अपि तु इसी समय वह मुक्ति पा रहा है—इस प्रकार धर्मराज अङ्गुलिसे सङ्केत करते हुए कह रहे हैं; क्योंकि उस समय यह कार्य वर्तमान था । [अनर्थनिवृत्तिरूप] पूर्वोक्त लक्षणवाली मुक्तिका स्वरूप बाह्य न होनेके कारण यद्यपि दूसरेको ज्ञात नहीं हो सकता तथापि यहाँ तो भगवल्लोकप्राप्तिरूपा सालोक्य मुक्तिसे तात्पर्य है [उसका ज्ञान सबको होता है और वह भी परम मुक्ति ही है] इसलिये इस प्रसङ्गद्वारा [नामकीर्तन स्वतन्त्ररूपसे समस्त पापोंका नाशक है—इस] विवक्षित अर्थकी उपलब्धि होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नामकीर्तनस्य साधनान्तरानपेक्षत्वम्

ततश्चापातालावनितले निमग्नमुपरि च स्वायम्भुवभुवनमुल्लिखन्तं सर्वतोविसारिविविधशाखोपशाखं संसारमहामहीरुहमेव समूलं गिलतो भगवन्नामग्रहणमहादावदहनस्य जननमरणमध्यवर्त्तिनः सर्वानेव क्षणेन शून्यतां नयन्तीभिरनन्तजन्मानुबन्धिनीभिरतिबहलाभिरप्यंहस्तूलपटलीभिः कुक्षिकोटरकुहरप्रान्तोऽपि मनाङ् न पूर्य्यते, तस्य कथं तद्भसने साधनान्तरसाकाङ्क्षत्वशङ्कावतारः।

कर्मतो भक्तेः प्राधान्यम्, निरपेक्षसाधनत्वं च

अपि च—

न तथा ह्यघवान्राजन् पूयेत तपआदिभिः।

अतः जो भूमण्डलमें पातालतक नीचे गया है और ऊपर ब्रह्मलोकतकका उल्लेख करता है, जिसकी सब ओर फैली हुई नाना प्रकारकी छोटी-बड़ी शाखाएँ हैं, उस संसाररूपी महान् वृक्षको समूल निगल जानेवाले जिस भगवन्नाम-कीर्तनरूपी प्रचण्ड दावानलकी उदर-दरीका एक देश भी अनन्त जन्मोंसे अनुगत पापरूपी तूल (रूई) की बहुत बड़ी ढेरीसे—जो जन्म-मरणके बीचमें पड़े हुए सभी प्राणियोंको एक ही क्षणमें शून्य बना देती है—तनिक भी पूर्ण नहीं हो सकता वही कीर्तनरूप दावानल पापराशिको भस्म करनेमें अन्य साधनकी अपेक्षा रखता है—ऐसी शङ्का भी कैसे की जा सकती है? तथा—

"हे राजन्! पापी पुरुष तप आदिसे वैसा पवित्र नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥

तस्य कृष्णस्य पुरुषाणां निषेवया, कृष्णे निवेशितेन्द्रियः कीर्तनादिपरः, इति—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मविद्भि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥

इति च, कर्मभक्तिसाध्ययोः शुद्ध्योर्वैसादृश्यमुपदिश्यते; तदपि

होता जैसा कि भगवान् कृष्णमें अपनी इन्द्रियोंको लगाकर कृष्ण-भक्तोंकी सेवासे हो सकता है।"

यहाँ 'तत्पूरुषनिषेवया' का यह अर्थ है कि उन कृष्ण भगवान्‌के जनों (भक्तों) की सेवासे। ['कृष्णार्पितप्राणः' का अर्थ है—] अपनी मन आदि इन्द्रियोंको कृष्णमें लगाकर—नामकीर्तन आदिमें परायण होकर। इस वचनद्वारा तथा—

"पापी पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंके बतलाये हुए व्रत आदि उद्धारके साधनोंसे वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा कि भगवन्नाम-सम्बन्धी पदोंके उच्चारणसे होता है; क्योंकि वह (भगवन्नामोच्चारण) पुण्यकीर्ति भगवान्‌के ऐश्वर्यादि गुणोंकी प्राप्ति कराता है।"

इस वाक्यसे भी कर्म और [कीर्तनरूप] भक्तिसे होनेवाली शुद्धियोंमें असमानता बतलायी जाती है। अङ्ग-अङ्गिभावमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाङ्गाङ्गिभावे संबोभवीति, अङ्गप्रधानयोरेकफलत्वात् । श्रीविष्णुपुराणेऽपि—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

इति कर्मात्मकेभ्यः सकाशात् कृष्णानुस्मरणस्योत्कृष्टत्वमभिधीयते, तदपि प्रायश्चित्ताङ्गत्वे हरिस्मरणस्य न संजाघटीति, अङ्गिनः सकाशादङ्गस्योत्कृष्टत्वायोगात् ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।

इत्यत्रैकशब्दोऽपि नैरपेक्ष्यमेव प्रतिपादयति, यो हि सजातीयस्मरणमपि द्वितीयं न सहते स कथं जात्यन्तरं सहेत ?

ऐसा अन्तर होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अङ्ग और अङ्गीका एक ही फल हुआ करता है। श्रीविष्णुपुराणमें भी—

"तपस्या और कर्मरूप जितने भी प्रायश्चित्त हैं उन सबमें भगवान् कृष्णका स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।"

—इस प्रकार कर्मरूप प्रायश्चित्तोंसे कृष्णके स्मरणकी ही उत्कृष्टता बतलायी जाती है। यदि हरिस्मरण प्रायश्चित्तका अङ्ग हो तो यह उत्कर्ष-प्रतिपादन संघटित नहीं हो सकता; क्योंकि अङ्गीसे अङ्गकी उत्कृष्टता युक्तिसङ्गत नहीं है।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।*

इसमें आया हुआ 'एक' शब्द भी कीर्तनकी निरपेक्षताका ही प्रतिपादन करता है। जिसमें किसी दूसरे सजातीय स्मरणको भी स्थान नहीं है वह विजातीय साधनको कैसे सह सकता है?

---

* उसके लिये एक बार भगवान्का स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीनरसिंहपुराणेऽपि—

इत्युदीरितमाकर्ण्य कृष्णवाक्यं यमेरितम् ।
नारकाः कृष्ण कृष्णेति श्रीनृसिंहेति चुक्रुशुः ॥

इत्यारभ्य प्राप्तनरकाणामपि पापिनां कीर्तनमात्रादेव नरकार्णवादुत्तीर्णानां वैकुण्ठसङ्गम उपवर्ण्यते । श्रीस्कन्दपुराणेऽपि—

हरहरहरशब्दमादितो वै मुहुरभिधाय मुनीन्द्रवृन्दवर्य्यः ।
अपठदखिलमेघघोषतुल्यं सकलहिताय 'नमः शिवाय' शब्दम् ॥

इत्यारभ्य श्रवणमात्रादेव नरकान्निर्गत्य शिवपुरप्राप्तिरभिहिता ।

श्रीनरसिंहपुराणमें भी—

"यमराजद्वारा इस प्रकार कहे हुए कृष्ण-वाक्यको सुनकर सभी नरक-निवासी 'कृष्ण ! कृष्ण ! श्रीनृसिंह !' इस प्रकार पुकारने लगे ।"

—इस प्रकार आरम्भ करके नरकमें पड़े हुए पापियोंके कीर्तनमात्रसे ही नरकसमुद्रसे निकलकर वैकुण्ठ-लोकमें चले जानेका वर्णन किया गया है। तथा श्रीस्कन्दपुराणमें भी—

"उन मुनिवरने सब पापियोंके हितके लिये आरम्भमें वार-वार 'हर' 'हर' 'हर' ऐसा उच्चारण करके फिर मेघके समान गम्भीर स्वरसे 'नमः शिवाय' इस शब्दका कीर्तन किया।"

इस प्रकार आरम्भ करके शिवनामके श्रवणमात्रसे ही नरकसे निकलकर पापियोंको शिवधामकी प्राप्ति कही गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaction by eGangotri

श्रीविष्णुधर्म्मे तु स्पष्टमेव निरपेक्षसाधनत्वमुपवर्णितम्—

अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत।
विमुक्तान्यसमारम्भो नारायणपरो भव॥

इति। तथा तत्रैव—

गोविन्देति समुच्चार्य पदं क्षपितकिल्बिषः।
क्षत्रबन्धुर्विशुद्धात्मा गोविन्दत्वमुपेयिवान्॥

इति प्रायश्चित्तपराङ्मुखस्यापि क्षत्रबन्धोः कीर्तनमात्रादेव पापक्षयो दर्शितः।

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणमें तो—

"हे भारत! यदि तुम पातकोंसे डर रहे हो तो अन्य प्रायश्चित्तोंका आरम्भ छोड़कर [कीर्तन आदिके द्वारा] भगवान् नारायणकी आराधनामें लग जाओ।"

इस प्रकार स्पष्ट ही हरिकीर्तनके निरपेक्ष साधन होनेका वर्णन है। तथा उसीमें—

'गोविन्द' इस पदका उच्चारण करके पापोंसे मुक्त और शुद्धचित्त होकर वह क्षत्रबन्धु गोविन्दस्वरूप हो गया।"

इस प्रकार प्रायश्चित्तसे मुँह मोड़े हुए क्षत्रबन्धुका भी कीर्तनमात्रसे ही पापक्षय दिखलाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

तस्मात्केवलमेव हरिकीर्तनं कृत्स्नपापक्षयहेतुः, नान्यसमुच्चितं नतरामन्याङ्गभूतमिति ।

ननु किमिदं कैवल्यं नाम ? किं साधनस्य स्वरूपमेव ? उत साधनान्तराभावः ? उतान्यस्यासाधनत्वम् ? तत्र यदि स्वरूपम्, तर्हि समुच्चयेऽपि स्वरूपस्यानपायादविरोधः । अथ साधनान्तराभावः, तदोभयविधानाद्वाक्यं भिद्येतेत्यवादिष्म । विशिष्टविधाने तु सति साधनान्तरे

कैवल्यमाक्षिपति

इसलिये केवल हरिकीर्तन ही समस्त पापोंके नाशका कारण है, किसी अन्यके साथ मिलकर या किसी अन्यका अङ्गभूत होकर नहीं ।

पूर्वपक्षी—यह [जो केवल कीर्तनको कारण कहा गया, उसमें] केवलत्व (केवल शब्दका तात्पर्य) क्या है ? [नामकीर्तनरूप] साधनका स्वरूप ही कैवल्य है ? या अन्य साधनका अभाव कैवल्य है ? अथवा अन्यमें साधनत्वका न होना ही कैवल्य है ?—इनमेंसे 'साधनका स्वरूप ही कैवल्य है' ऐसा यदि मानें तो समुच्चय (एक ही साथ दो साधनके रहने) में भी स्वरूपकी क्षति न होनेके कारण कोई भी विरोध नहीं है। यदि साधनान्तरके अभावको ही कैवल्य कहें तो एक ही वाक्यद्वारा नामकीर्तन और साधनान्तरका अभाव—दोनोंका विधान होनेसे वाक्यभेद हो जायगा—यह दोष हम पहले भी कह चुके हैं । यदि साधनान्तराभावविशिष्ट नामकीर्तनका विधान मानें तो किसी अन्य साधनके प्राप्त हो जानेपर नाम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतेऽपि कीर्तने पापक्षयो नाभविष्यत्, साधनान्तराभावविशिष्टस्यैव साधनत्वात्। अथान्यस्यासाधनत्वम्, तदापि वाक्यभेद एव; एकेन वाक्येनोभयविधानायोगात्। अथ विशिष्टविधानमिति चेत्तदाप्यन्यगतस्यासाधनत्वस्यान्यविशेषणत्वेन विधानायोगात्।

कैवल्यस्य सिद्धान्ततः स्वरूपम्।

उच्यते—कारणस्य पौष्कल्यं कैवल्यम्, तदेव च नैरपेक्ष्यम्; पौष्कल्यं कार्यपूर्वक्षणनियतिः, यां सामग्रीमाचक्षते तद्विदः; यदनन्तरं कार्यमवश्यमात्मानं लभते तत्पुष्कलं कारणमिति यावत्। तच्च न

कीर्तन करनेसे भी पापक्षय नहीं होगा; क्योंकि साधनान्तराभावविशिष्ट नामकीर्तन ही साधन माना गया है [और यहाँ साधनान्तरकी सत्ता है]। यदि [कीर्तनके सिवा] अन्यमें साधनत्वका न होना ही कैवल्य है—ऐसा मानें तो भी एक वाक्यसे नामकीर्तन और अन्यका असाधनत्व—दोनोंका विधान असम्भव होनेके कारण वाक्यभेदकी आपत्ति होगी। यदि अन्यासाधनत्वविशिष्ट नामकीर्तनका विधान मानें तो भी अन्य (प्रायश्चित्तादि) गत जो असाधनत्व है उसका अन्य (कीर्तन) के विशेषणरूपसे विधान करना ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती—[कैवल्य क्या है? इसे] बतलाते हैं, कारणके पुष्कलभावको कैवल्य कहते हैं और वही निरपेक्षता है। कार्यके ठीक पूर्व क्षणमें नियमितरूपसे जो स्थिति है, जिसको कि विद्वान् पुरुष सामग्री कहते हैं, वही पौष्कल्य है। तात्पर्य यह है कि जिसकी उपस्थितिके अनन्तर कार्य अवश्य ही अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है वही पुष्कल कारण है। वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधनान्तरसव्यपेक्षत्वेऽत्रकल्पते। तच्च क्वचिदेकस्य क्वचिद्द्वयोः क्वचिद्बहूनाम्, तत्र यदा द्वयोर्बहूनाम्, वा तदा स्वाश्रये व्यासज्य वर्तते पौष्कल्यम्, यदा पुनरेकस्य तदा कार्त्स्न्येन।

ननु समवाय्यसमवायिनिमित्तजन्यं सर्वं कार्यमारम्भवादे,

साधनान्तरकी अपेक्षा रखनेपर नहीं हो सकता। वह पुष्कलत्व कहीं एकमें* कहीं दोमें† और कहीं बहुतसे‡ साधनोंमें रहता है। जब दो या बहुत-से साधनोंमें रहता है उस समय अपने हर एक आश्रयमें व्यासज्यवृत्ति (विशेषरूपसे आसक्त) होकर रहता है और यदि एकमें रहता है तो पूर्णरूपसे अपने आश्रयमें विद्यमान रहता है।

पूर्वपक्षी—[नैयायिकोंके] आरम्भवादमें[१] तो सभी कार्य समवायी, असमवायी और निमित्त कारणसे उत्पन्न होते हैं और [सांख्यभास्करादिमतावलम्बियोंके] परिणामवाद[२]

---

* जैसे संयोगका नाशरूप जो कार्य है उसके प्रति पुष्कलकारणता केवल विभागमें है।

† जैसे 'दर्शपौर्णमासाभ्याम्' इस श्रुतिमें द्विवचन-निर्देश होनेके कारण दर्श तथा पौर्णमास दोनोंके ही अपूर्वोंमें स्वर्गप्राप्तिरूप कार्यके प्रति पुष्कल-कारणता है।

‡ जिस प्रकार घटरूप कार्यके प्रति दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि सभीमें पौष्कल्य है।

१. कारणसे अत्यन्त भिन्न कार्यकी उत्पत्ति होती है—यह आरम्भवाद है।

२. कार्य और कारणमें पारमार्थिक भेद भी है और अभेद भी—यह परिणामवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिणामविवर्तयोः पुनरुपादाननिमित्तजन्यम्, तत् कथमेकस्य पौष्कल्यम् ?

उच्यते—निमित्तकारणविषयमेतत् पौष्कल्याभिधानं नोपादान-विषयम्, फलोपादानस्यात्मनः प्रसिद्धत्वेन शास्त्रानपेक्षणात् । उक्तं हि भाष्यकृद्भिः "जानात्येवासौ मयैतत् कर्तव्यमिति, उपायन्तु न वेद तस्योपायः कथनीयः" इति ।

तथा [अद्वैतवादी वेदान्तियोंके] विवर्तवादमें सभी कार्य उपादान और निमित्त कारणसे होते हैं, अतः एकको पुष्कल कारण कैसे कहा जा सकता है ?

सिद्धान्ती—बतलाते हैं [सुनो] यह पौष्कल्यवाद निमित्त कारणके विषयमें है, उपादान कारणके विषयमें नहीं; क्योंकि पापक्षयादि फलका उपादानभूत आत्मा तो ['मैं हूँ' इस प्रकार ज्ञात होनेके कारण] प्रसिद्ध है; अतः उसके लिये शास्त्रकी अपेक्षा नहीं रहती। भाष्यकार (शबर स्वामी) ने भी कहा है "उस पुरुषको यह तो अवश्य ही मालूम रहता है कि मुझे अमुक फलका साधन करना है, किन्तु उपाय नहीं जानता, अतः उसको [शास्त्रद्वारा] उपाय ही बतलाना है।"

---

१ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घट आदि कार्य केवल वाणीसे कहनेके लिये नाममात्र है वस्तुतः तो कारणभूत मिट्टी ही सत्य है) इस श्रुतिके अनुसार कार्य केवल संज्ञामात्र है, अतः मिथ्या है और कारण ही सत्य है—यही विवर्तवाद है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु निमित्तकारणस्यापि कथमेकस्य पौष्कल्यम् ? न हि निमित्तकारणमात्रात् किंचित् कार्यं सिध्यति ।

तदयुक्तम्, आलोकसंयोगमात्रादन्धकारनिवृत्तेर्दर्शनात् ।

ननु यदि पौष्कल्यमेव नैरपेक्ष्यम्; कथं तर्हि व्रीहियवयोः ?

उच्यते—तत्र कारणत्वस्यैव प्रत्येकं परिसमाप्तत्वात् । अन्योन्यनिरपेक्षत्वमेव न सर्वनैरपेक्ष्यमितिकर्तव्यतासाकाङ्क्षत्वात् ।

पूर्वपक्षी—अकेले निमित्त कारणको भी कैसे पुष्कल कारण कहा जा सकता है ? केवल निमित्त कारणसे तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है ।

सिद्धान्ती—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रकाशके संयोगमात्रसे [जो निमित्त कारण ही है] अन्धकारकी निवृत्ति देखी जाती है ।

पूर्वपक्षी—यदि पुष्कल कारण ही निरपेक्ष साधन है तो व्रीहि और यव कैसे निरपेक्ष हो सकते हैं ?*

सिद्धान्ती—बतलाते हैं; व्रीहि तथा यवके स्थलमें प्रत्येकमें ही कारणताकी समाप्ति होनेके कारण वे निरपेक्ष हैं। यहाँ परस्पर ही निरपेक्षता है† सबसे निरपेक्षता नहीं है; क्योंकि प्रत्येकमें प्रोक्षणादि इतिकर्तव्यता (करण-सहकारी कार्य) की अपेक्षा है;

---

* क्योंकि व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत, (व्रीहिसे यज्ञ करे, यवसे यज्ञ करे) यहाँ पृथक्-पृथक् तृतीया विभक्तिका निर्देश होनेसे व्रीहि और यव निरपेक्ष साधन प्रतीत होते हैं; परन्तु इनमें प्रोक्षणादिकी अपेक्षा होनेके कारण पुष्कलत्व नहीं है, और इसीसे निरपेक्षता भी नहीं रही ।

† अर्थात् व्रीहिकी अपेक्षा यव नहीं रखता और यवको व्रीहिको अपेक्षा नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पौष्कल्यं तु स्वव्यतिरिक्तसर्वनैरपेक्ष्यम् । अतश्च केवलया भक्त्येत्ययमर्थः—मधुभिदभिधानमेव मनागुद्दिश्यमानमशेषपापप्रध्वंसस्य पुष्कलं कारणं तरणिरिव गगनाङ्गनमवतीर्णस्तिमिरपटलपाटनस्य । तच्च पौष्कल्यं कारणत्वस्य विशेषणं न भक्तेः, भक्तेः कैवल्ये कारणत्वे च विधेये वाक्यभेदो मा प्रसाङ्क्षीदिति ।

ननु भक्तेरेव विशेषणं कैवल्यम्, केवलया भक्त्येति भक्तिसामानाधिकरण्यात् ?

[इसलिये ये एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखनेके कारण निरपेक्ष साधन तो हैं, किन्तु पुष्कल कारण नहीं हैं] क्योंकि पुष्कल कारण तो अपने अतिरिक्त सभीकी अपेक्षा नहीं रखता । अतः 'केवलया भक्त्या' इसका यह तात्पर्य है—भगवान् मधुसूदनका नाम ही यदि थोड़ा भी उच्चारण किया जाय तो वह अशेष पापोंको नष्ट करनेका पुष्कल कारण है; जैसे आकाशके प्राङ्गणमें अवतीर्ण हुआ सूर्य ही अन्धकारसमूहका विध्वंस करनेमें पुष्कल कारण है । वह पौष्कल्य कारणत्वका ही विशेषण है, भक्तिका नहीं; क्योंकि उक्त वाक्यद्वारा भक्तिके कैवल्य और कारणत्व दोनोंका विधान करनेपर कहीं वाक्यभेदका प्रसंग न उपस्थित हो जाय [—ऐसा सन्देह है] ।

पूर्वपक्षी—भक्तिका ही विशेषण कैवल्य है; क्योंकि 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यमें [केवल तथा भक्ति—दोनोंमें समान विभक्ति होनेसे] केवल शब्दका भक्तिके साथ सामानाधिकरण्य है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवं, कारणत्वविशेषणत्वेऽपि तत्सामानाधिकरण्योपपत्तेः, तन्तुभिरुपादानैः पटं—कुविन्दः करोतीतिवत्। तत्र हि कारणं विशिंषदुपादानत्वं तद्द्वारेण तन्तूनपि विशिनष्टि, तथेहापि; अन्यथा कैवल्यस्य भक्तिविशेषणत्वे वाजपेयोक्तो वैरूप्यदोषोऽपि प्रसज्येत, तत्र हि वाजपेयशब्दस्यान्नादिद्रव्यवचनत्वे करणभूतं द्रव्यं प्रति यजत्यर्थस्य प्राधान्यात् फलापूर्वं प्रति च गुणभावात् प्रधानत्वगुणत्वोद्देश्यत्वविधेय-

---

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि कारणत्वका विशेषण माननेपर भी भक्तिके साथ उसके समानाधिकरणत्वकी उपपत्ति हो जाती है; जैसे 'तन्तुभिरुपादानैः पटं कुविन्दः करोति' (उपादान कारणभूत तन्तुओंसे जुलाहा वस्त्र बुनता है) इस वाक्यमें उपादानपद कारणका विशेषण होता हुआ उसीके द्वारा तन्तुओंका भी विशेषण होता है, इसी प्रकार यहाँ भी कैवल्यपद कारणत्वका विशेषण होता हुआ भक्तिका भी विशेषण होता है। अन्यथा कैवल्यपदको एकमात्र भक्तिका विशेषण माननेपर वाजपेयाधिकरणमें कहा हुआ वैरूप्यदोष भी उपस्थित होगा। वहाँ [वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (स्वाराज्यकी कामनावाला वाजपेयद्वारा यजन करे) इस वाक्यमें] वाजपेय पदको अन्नादि द्रव्यका वाचक मान लेनेपर 'यज्' धातुका यजनरूप अर्थ करण (साधन) भूत अन्नादि द्रव्यके प्रति प्रधान तथा उससे होनेवाले फलापूर्वके प्रति गौण होने लगेगा और ऐसा होनेसे एक ही प्रतीतिमें एक ही यागकी वाजपेय शब्दके वाच्य द्रव्यके प्रति प्रधानता और फलापूर्वके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वज्ञातत्वाज्ञातत्वानि परस्परविरुद्धान्येकस्यां प्रतीतावेकस्यैव प्रसज्ज्येरन्निति नामधेयत्वमेव तस्य समर्थितम्, तथेहापि केवलया भक्त्येति कैवल्यगुणयुक्ताया भक्तेः फलसाधनत्वे विवक्षिते तस्याः कैवल्यं प्रति

प्रति गौणता होगी तथा एकहीमें उद्देश्यता-विधेयता, ज्ञातता-अज्ञातता आदि परस्पर विरुद्ध दोषोंकी आपत्ति होगी* इसलिये 'वाजपेय' शब्द यज्ञका नाममात्र है, इस प्रकार उसकी नामधेयताका समर्थन किया गया है। इसी तरह यहाँ भी 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यमें कैवल्यगुणयुक्त भक्तिको ही यदि फलकी साधिका माननी इष्ट हो तो भक्ति कैवल्यके प्रति प्रधान और फलके प्रति गौण हो जायगी और ऐसी

---

* स्वर्ग आदि कामनाओंके लिये जो यज्ञ किया जाता है उसके द्वारा एक 'अपूर्व' नामक फलकी उत्पत्ति होती है वही 'अपूर्व' स्वर्गादिका साधक होता है। अपूर्वको ही अदृष्ट भी कहते हैं, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इसलिये यह 'अज्ञात' है, यज्ञके द्रव्यादि साधनोंसे यह उत्पन्न किया जाता है अतः 'विधेय' है। इसके विपरीत द्रव्य आदि साधन प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण ज्ञात हैं तथा 'अपूर्व' के उत्पादक होनेसे 'उद्देश्य' हैं। पूर्व मीमांसामें वाजपेय यज्ञके प्रकरणमें इस बातका विचार किया गया है कि 'वाजपेय' शब्दका अर्थ क्या है? क्या वाजपेय शब्दसे द्रव्य आदि साधनका ग्रहण होता है? या उससे उत्पन्न होनेवाले अपूर्वका? यदि 'अपूर्व' का ग्रहण मानें तो जहाँ यह कहा जाता है कि 'वाजपेय द्वारा यजन करे' वहाँ 'अपूर्व' द्वारा यजन नहीं बन सकता; क्योंकि अपूर्व तो यजनका फल है। यदि द्रव्यादि साधनोंको ही वाजपेय शब्दका मुख्य अर्थ मानें तो 'यजन' रूप कार्यका संबन्ध प्रधानतया अन्नादि द्रव्योंसे होगा और गौणरूपसे 'अपूर्व' के साथ होगा। ऐसी स्थितिमें एक ही वाजपेय शब्द प्रधानतया अन्नादि द्रव्योंका वाचक होकर उद्देश्य और ज्ञात होगा तथा वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राधान्यात् फलं प्रति च गुणभावाद्विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरनिवार्यैव; तस्मात्कारणविशेषणमेव पौष्कल्यम् ।

दशामें परस्पर विरुद्ध [प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन] पूर्वोक्त युग्म त्रिकों-की आपत्तिका निवारण असम्भव हो जायगा, इसलिये पौष्कल्य-पद कारणका ही विशेषण है †।

गौणरूपसे अपूर्वके साथ सम्बद्ध होकर विधेय एवम् अज्ञात होगा। इस प्रकार एक ही प्रतीतिमें प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन परस्पर विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होगी। इसलिये 'वाजपेय' शब्द केवल यज्ञका नाममात्र है, वह द्रव्य आदिमें विशेषरूपसे रूढ़ नहीं है—ऐसा निश्चय किया गया है।

† भाव यह है कि 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यका यदि यह अभिप्राय मानें कि 'कैवल्यगुणसे युक्त भक्ति पापक्षयमें कारण है तो एक ही भक्तिका केवल शब्दसे भी सम्बन्ध होता है और फलके साथ भी। इनमें केवल शब्दके साथ तो विशेष्य होनेके कारण वह 'प्रधानतया' अन्वित होती है और फलके साथ 'गौणरूप' से। तथा केवल शब्द साधनकोटिमें है अतः उससे अन्वित होनेपर भक्तिमें 'उद्देश्यता' रहती है और फलसे सम्बन्ध होनेपर उसमें 'विधेयता' हो जाती है। इतना ही नहीं, उद्देश्यरूपसे वह 'ज्ञात' रहती है और विधेयरूपसे 'अज्ञात'। इस प्रकार प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होने लगती है, इसलिये केवल शब्द भक्तिका विशेषण नहीं है अपि तु कारणका ही विशेषण है, ऐसा माननेपर उक्त वाक्यका तात्पर्य यह होता है कि पापक्षयके प्रति भक्ति ही पुष्कल (निरपेक्ष) कारण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विरोधमुद्भाव्य तत्परिहारः ।

ननु तृतीयया साधकतमत्वमभिधीयते, तमबर्थश्च सातिशयः, स चापेक्षिकः, अपेक्षा च नासति साधकान्तरेऽवकल्पते, केवलप्रातिपदिकेन च पौष्कल्यमभिधीयत इति परस्परव्याहतमेतत् ।

पूर्वपक्षी—परन्तु 'केवलया भक्त्या' की तृतीया विभक्तिसे तो यहाँ साधकतमत्वका प्रतिपादन होता है, साधकतम शब्दमें जो तमप् प्रत्यय है उसका अर्थ 'अतिशय (अधिकता) सहित है,' अतिशयभाव भी अपेक्षाकृत होता है, अपेक्षा भी किसी अन्य साधककी उपस्थितिके बिना नहीं हो सकती और यहाँ पौष्कल्यका कथन केवल प्रातिपदिक संज्ञासे होता है, इस प्रकार ये बातें परस्पर विरुद्ध हैं ‡ ।

---

‡ इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—'केवलया भक्त्या' (केवल भक्तिसे पाप नष्ट होता है) इस वाक्यमें तृतीया विभक्ति (करण कारक) के द्वारा यह प्रतिपादन होता है कि भक्ति पापनाशका साधक ही नहीं, साधकतम (अतिशय साधक) है । 'साधकतम' शब्दमें जो 'तमप्' प्रत्यय है उसीका अर्थ अतिशय है । हम किसीको अतिशय साधक तभी कह सकते हैं, जब उससे निम्न श्रेणीके अन्य अनेकों साधक उपलब्ध हों । जहाँ दूसरे साधक हैं ही नहीं वहाँ किसकी अपेक्षा अतिशय साधक होगा ? अतिशयकी सिद्धि तो अन्य साधकोंके होनेपर ही हो सकती है । इसी आशयसे पूर्वपक्षीने शङ्का की है कि तृतीया विभक्तिद्वारा भक्तिको 'साधकतम' माननेपर अन्य सामान्य साधकोंकी उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है, ऐसी दशामें वह निरपेक्ष साधन नहीं रहती; क्योंकि उसे अन्य सामान्य साधकोंकी अपेक्षा है । एक ओर तो यह बात है, दूसरी ओर 'केवल' रूप प्रातिपदिकसे पौष्कल्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्, अतिशयोऽप्यत्र कार्यसन्निकर्षोऽभिप्रेतः; स च नापेक्षिक एव, अपि त्वनापेक्षिकोऽपि; तदाहुर्वार्तिककारमिश्राः—

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य चार्थेन संगतिः ।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा ॥

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ (तृतीया विभक्तिके अर्थमें) जो अतिशय भाव है वह कार्य-सन्निकर्ष-रूप ही माना गया है* और वह साधकान्तरकी अपेक्षा रखता ही है—ऐसा नियम नहीं है, अपि तु, उसकी अपेक्षा नहीं भी रखता है। अतएव पूज्यपाद वार्तिककारने कहा है—

"अथवा इन्द्रिय, विषयके साथ इन्द्रियोंका संयोग, इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग, आत्माके साथ मनका संयोग अथवा ये सभी प्रमाण (साधकतम) हैं।"

(निरपेक्षता) का प्रतिपादन होता है; क्योंकि केवल शब्दका अर्थ ही है 'एक मात्र।' 'एक मात्र साधक है' ऐसा कहनेसे अन्य साधनोंकी अपेक्षाका अभाव स्पष्ट ही प्रतीत होता है—इस प्रकार यहाँ परस्पर विरोध है।

१. निकट-से-निकट कालमें एक क्षणका भी व्यवधान न करके कार्यकी सिद्धि होना ही कार्य-संन्निकर्ष है।

* पूर्वपक्षीकी उक्त शङ्काका उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है—तुमने जो यह कहा कि साधकतम (अतिशय साधक) में अतिशय भावकी सिद्धिके लिये अन्य साधककी अपेक्षा है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि हम दूसरेकी अपेक्षासे 'अतिशय' होना नहीं मानते, हमारे मतमें अतिशयभाव 'कार्य-सन्निकर्षरूप' ही है अर्थात् हम उसीको अतिशय साधक (साधकतम) मानते हैं जो क्षणभरका भी व्यवधान न करके कार्य सिद्ध कर सके। ऐसा माननेसे अन्य साधकोंकी अपेक्षाका निराकरण हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। अत्र चात्मन इन्द्रियार्थपर्यन्तानामापेक्षिकं साधकतमत्वम्, सर्व एव वेत्यत्र त्वनापेक्षिकम्, अवधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात्। तत्राप्यापेक्षिकत्वे कथं चिद्विप्रकर्षस्यापि सम्भवाद् अनापेक्षिक एव मुख्यः सन्निकर्षः, स एव चौत्सर्गिकस्तृतीयार्थः, साधनान्तरेषु तु प्रमाणान्तरैरुपस्थापितेषु तद्बलादापेक्षिकोऽपि स्वीक्रियते। अत इह कार्यप्रत्यासन्नत्वमनापेक्षिकमेव

—इस वार्तिकमें आत्माके साथ मनके संयोगसे लेकर इन्द्रिय-विषयसंयोगतक अपेक्षाकृत साधकतमत्व है और 'सर्व एव वा' (अथवा सभी हैं—) इसमें अपेक्षारहित साधकतमत्व बतलाया है; क्योंकि अपेक्षाके अवधिभूत अन्य साधनका वहाँ अभाव है। उन (सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों सन्निकर्षों) में निरपेक्ष ही मुख्य सन्निकर्ष है; क्योंकि सापेक्षतामें किसी प्रकार कुछ कालतक व्यवधानकी भी सम्भावना रहती है। और वह (निरपेक्ष सन्निकर्ष) ही तृतीया विभक्तिका स्वाभाविक अर्थ है। अन्य प्रमाणोंसे उपस्थित किये गये साधनान्तरोंमें तो उनके बलसे ही आपेक्षिक सन्निकर्ष भी स्वीकार कर लिया जाता है। [जैसे पूर्वोक्त वार्तिकमें इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा विषयेन्द्रिय-संयोग आदिमें साधकतमत्व स्वीकार किया गया है] अतः यहाँ प्रतिबन्धकरहित तृतीयाके द्वारा निरपेक्ष कार्यसन्निकर्षका ही प्रतिपादन होता है। इससे

१. अर्थात् इन्द्रियकी अपेक्षा विषयेन्द्रियसंयोग और उसकी भी अपेक्षा इन्द्रियमनःसंयोग साधकतम है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर साधकतम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुक्तप्रग्रहया तृतीययाऽभिधीयते; ततश्च सिद्धमेव पौष्कल्यं स्पष्टार्थमनूद्यते केवलयेति न व्याघातः।

न चैकहायन्यादिभिरन्वितः सोमक्रय इव भक्त्या कैवल्येन चान्वितमंहोविधूननमेव प्रतीयते, परस्परान्वयस्तु तयोः पार्ष्ठिक इति वक्तव्यम्; अघधूननस्य फलस्योद्दिश्यमानत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः, तस्मादस्मदुक्तैव वाचोयुक्तिर्वरीयसी। तस्मान्निरपेक्षमेव भगवन्नामकीर्तनं पापक्षयहेतुर्नान्याङ्गभूतं न चान्यसमुच्चितमिति।

यह सिद्ध ही हो गया कि केवल शब्दसे पौष्कल्य (निरपेक्ष साधनत्व) का ही कथन है; स्पष्ट समझनेके लिये ही ['केवलया भक्त्या' में] केवल शब्दका अनुवाद हुआ है; अतः कोई विरोध नहीं है।

"अरुणया[1] एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इस वचनद्वारा जिस प्रकार एकहायनी आदिसे युक्त ही सोम-क्रय होता है उसी तरह 'केवलया भक्त्या' इस वचन-द्वारा भक्ति और कैवल्य–दोनोंसे युक्त ही पाप-नाशन प्रतीत होता है, उनमें परस्पर अन्वय तो पीछे किया गया है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर पापनाशरूप फल उद्देश्य कोटिमें आ जायगा; अतः उसकी विधेयता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये हमारी कही हुई युक्ति ही श्रेष्ठ है। अतः सिद्ध हुआ कि भगवन्नामकीर्तन निरपेक्षरूपसे ही पापनाशका कारण है किसी अन्य (मन्वादि-प्रायश्चित्त) का अङ्ग होकर या उसके साथ मिलकर नहीं।

---

१. एक सालकी पिङ्गलनेत्रोंवाली बछियासे [उसके बदलेमें] सोम-रस खरीदे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामकीर्तनस्यान्यकर्माङ्गत्वनिरासः

यत्तूक्तं पुराणवचनैरेवाङ्गत्वमवगम्यत इति, तदयुक्तम्; प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यस्यायमर्थः—प्रायश्चित्तानि न निष्पुनन्ति न सम्यक् पुनन्तीति, सम्यक्त्वञ्चात्र वासनापरिक्षयः, स च न कर्मसाध्यः, तानि हि नारायणपराङ्मुखमधिकुर्वन्ति तस्य च कथं वासनाविध्वंसं विदध्युः ? तस्य भक्तिज्ञानैकसाध्यत्वात्। यस्तु

तुमने जो यह कहा था कि 'पुराणोंके ['प्रायश्चित्तानि चीर्णानि०…' इत्यादि] वचनोंसे ही यह ज्ञात होता है कि नामकीर्तन अन्य कर्मोंका अंगभूत है' वह भी अयुक्त ही है; क्योंकि 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि' इसका अर्थ यह है—प्रायश्चित्तानि न निष्पुनन्ति—प्रायश्चित्त [आचरित होनेपर भी भगवद्विमुखको] भलीभाँति पवित्र नहीं कर सकते। यहाँ 'भलीभाँति' कहनेका तात्पर्य है वासनाका सर्वथा क्षय हो जाना, और वासनाक्षय कर्मद्वारा साध्य नहीं है। वे प्रायश्चित्त नारायण-विमुखपर अधिकार रखते हैं, पर उसकी वासनाका नाश कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि वासनाका नाश तो केवल भक्ति और ज्ञानसे ही हो सकता है। परन्तु जो नारायण-

---

१. प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारायणप्रवणः स कर्मात्मकेषु प्रायश्चित्तेषु न प्रवर्तत एव। एवं च पापक्षयं कुर्वतामेव प्रायश्चित्तानां तद्वासनाक्षयहेतुत्वं निवार्यते।

अत्र स्मृतिविरोध-परिहारः।

न चैवं सति मन्वादिवचनविरोधो न वा विशेषणानर्थक्यम्, हेतुत्वेनोपयोगात्, इदमेव च स्पष्टीकृतं कर्मणा कर्मनिर्हार इति, न हि तस्य कर्मणा कर्मनिर्हारो नास्तीत्यर्थः, अपि तु नात्यन्तिक इति, आत्यन्तिकत्वञ्च सह वासनाभिः परिक्षय इति। अविद्वदधिकारत्वादिति

परायण है, वह कर्मरूप प्रायश्चित्तोंमें प्रवृत्त ही नहीं होता, इस प्रकार जो केवल पापक्षयके साधक प्रायश्चित्त हैं उनके वासना-क्षयमें कारण होनेका निषेध किया जाता है।

ऐसा होनेपर न तो मन्वादि-वचनोंसे विरोध होता है और न 'नारायणपराङ्मुखम्' यह विशेषण ही व्यर्थ होता है; क्योंकि विशेषणको हेतु मान लेनेसे उसका उपयोग हो जाता है। इसी बातको 'कर्मणा[1] कर्मनिर्हारः' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट किया गया है। उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मसे कर्मका नाश नहीं होता, अपि तु 'आत्यन्तिक विनाश नहीं होता' यह अर्थ है। आत्यन्तिकका अभिप्राय यह है कि वासनाओंके साथ ही उसका नाश हो 'अविद्वदधिकारत्वात्' यह कथन भी उसकी हेतुताको ही प्रकट करता है।

१. कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारत्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हेतुत्वमेव प्रकटयति, अधिक्रियतेऽस्मिन् पुरुष इत्यधिकारः, अविद्‌षोऽधिकारोऽविद्वदधिकारस्तस्य भावस्तस्मात्, भगवत्पराङ्मुखविषयत्वात्प्रायश्चित्तानामित्यर्थः। विमर्शनमिति च ब्रह्मविद्या दृष्टान्तत्वेनानूद्यते न विधीयते, भक्तेरेव प्राकरणिकत्वात्।

तथा—

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥

जिसमें पुरुष अधिकृत किया जाय उसे अधिकार कहते हैं, अविद्वान् (अज्ञानी) का जो अधिकार है वही अविद्वदधिकार कहा जाता है उसका भाववाचक शब्द 'अविद्वदधिकारत्व' है, इसमें पञ्चमी विभक्ति जोड़नेसे 'अविद्वदधिकारत्वात्' शब्द बना है; इससे तात्पर्य यह निकला कि प्रायश्चित्त भगवद्‌विमुखके ही लिये हैं। विमर्शन कहते हैं ब्रह्मविद्याको, इसका दृष्टान्तरूपसे अनुवाद हुआ है, विधान नहीं किया जाता है; क्योंकि यहाँ भक्तिका ही प्रकरण है। तथा;

"[प्रायश्चित्त करनेवाला मनुष्य] कभी पापसे निवृत्त होता है और कभी पुनः उसे करने लगता है; अतः मैं [उसके किये हुए] प्रायश्चित्तको हाथीके स्नानकी भाँति व्यर्थ ही समझता हूँ।"

---

१. यह व्याख्या 'अविद्वदधिकारत्वात्' पाठ मानकर की गयी है। 'अविद्वदधिकारित्वात्' पाठ माननेपर यों व्याख्या करनी चाहिये—'अविद्वान् अधिकारी यस्मिंस्तत्, तस्य भावः, तस्मात्।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति सतीषु पापवासनासु पापप्रवृत्तेरवश्यंभावात् 'प्रायश्चित्तमनर्थकम्' इति ब्रुवतेदमेवोपजीव्यते ।

नामकीर्तनात् सवासनानां पापानां ध्वंसः

तथा—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

इत्येतदपि संवादकम् ।

यस्मिन् यस्मिन्निमित्ते यद्यत्प्रायश्चित्तं विहितं तपोदानव्रतादि

उपर्युक्तश्लोकार्थनिरूपणम् ।

च तैः प्रायश्चित्तैस्तान्यघान्येव पूयन्ते नश्यन्ति; न पुनरधर्मजम् अधर्मेभ्यो जातम्, अन्येषु-

---

इस प्रकार पाप-वासनाओंके रहते हुए अवश्य ही पापकी प्रवृत्ति होनेके कारण 'प्रायश्चित्त व्यर्थ है' ऐसा कहते हुए यही सिद्ध करते हैं [कि प्रायश्चित्त पापोंके संस्कारकी निवृत्ति नहीं कर सकते] ।

तथा—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

यह वचन भी पूर्व कथनका ही अनुमोदन करता है ।

जिन-जिन पापोंके निमित्त जो-जो तप, दान और व्रत आदि प्रायश्चित्त विहित हैं उन-उनके द्वारा वे-वे पापमात्र ही नष्ट होते हैं, अधर्मज अर्थात् अधर्मसे उत्पन्न हुआ चित्त शुद्ध नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहणाड्डः; ततश्च तत्तत्संस्कारविशिष्टतयोत्पन्नं हृदयम्, ईशाङ्घ्रिसेवया तु तदपि पूयते, अपिशब्दान्न केवलमघानि नश्यन्ति; अपि तु तत्संस्कारा अपीति । ईशाङ्घ्रिसेवा चात्र न

होता। 'अन्येष्वपि दृश्यते'* (३।२।१०१) इस पाणिनि-सूत्रमें 'अन्येषु' पदका ग्रहण किया है, अतः सभी उपाधियोंसे रहित केवल 'जन्' धातुसे तथा जातिभिन्न पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्तसे इतर उपपद रहनेपर भी 'ड' प्रत्यय होता है, इसलिये अधर्मपूर्वक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हुआ [फिर 'अधर्म जन् ड' इस अवस्थामें 'ड्' की इत्संज्ञा और धातुके 'अन्' भागका लोप हो जानेसे अधर्मज शब्द सिद्ध हुआ] उस अधर्मके संस्कारसे विशिष्ट होकर जो चित्त बना है वही अधर्मज है। [प्रायश्चित्तोंसे वह शुद्ध नहीं होता] परन्तु भगवान्के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है। अपि (भी) शब्दके उच्चारणसे यह अभिप्राय व्यक्त हुआ कि 'केवल पाप ही नष्ट नहीं होते अपि तु, पापोंके संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं'।

---

* यहाँ शंका होती है कि 'अधर्मेभ्यो जातम्' इस विग्रहमें पञ्चम्यन्त अधर्म शब्द उपपद रहते हुए 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय कैसे होगा? क्योंकि 'सप्तम्यां जनेर्डः' इस सूत्रके अनुसार सप्तम्यन्त उपपद रहते हुए ही जन् धातुसे 'ड' प्रत्ययका विधान होता है, पञ्चम्यन्त उपपद रहते हुए यदि होता भी है तो वह शब्द अजातिवाचक रहे तभी होता है। इसके उत्तरमें कहते हैं— 'अन्येष्वपि' इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थी पादसेवनलक्षणा भक्तिर्विवक्ष्यते; किं तर्हि ? कीर्तनलक्षणा तदधिकारत्वात्, तथा हि सेवा भजनं भक्तिरिति पर्यायाः ।

नवधा भक्तिः

सा चात्र—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

'भगवच्चरणसेवा' से यहाँ नवधा भक्तिमें कही हुई पादसेवनरूपा चौथी भक्ति नहीं विवक्षित है, तो क्या विवक्षित है ? कीर्तनरूपा भक्ति ही विवक्षित है; क्योंकि उसीका प्रकरण चल रहा है। इस प्रकार सेवा, भजन और भक्ति ये पर्याय (समान अर्थवाले) शब्द हैं।

वह भक्ति भी—

"भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य (सेवकभाव), सख्य (मित्रभाव) और आत्मसमर्पण" ।*

---

* नव प्रकारकी भक्तिके यहाँ क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—श्रवणमें राजा परीक्षित, कीर्तनमें शुकदेव, स्मरणमें प्रह्लाद, पादसेवनमें लक्ष्मी, अर्चनमें राजा पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्य-भक्तिमें हनुमान्जी, सख्य भक्तिमें अर्जुन तथा आत्मनिवेदनमें राजा बलि प्रख्यात हुए थे। जैसा कि कहा है—

विष्णोस्तु श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे च सेवनविधौ लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति नवधा भिद्यते, सा च प्रत्येकं कृत्स्नपापक्षयहेतुः, तत्तन्माहात्म्यप्रतिपादकवचनानां पुराणेषु भूयस्त्वात् । इह तु कीर्तनस्यैव सेतिहासमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रतिपादनात् कीर्तनलक्षणोपादीयते ।

अथ वा सर्वप्रकारापि भक्तिरत्र प्रकरणिनी, केवलया भक्त्येत्यविशेषेण प्रक्रमात् ; कीर्तनवदन्येषामपि शृङ्गग्राहिकया पापक्षयहेतुत्वप्रतिपादनाच्च । तत्र—

इस प्रकार नव भेदवाली है; इनमेंसे प्रत्येक भक्ति समस्त पापोंके नाशकी कारणभूत है, क्योंकि पुराणोंमें इन सबके महत्त्व बतलानेवाले बहुत अधिक वचन मिलते हैं । परन्तु यहाँ प्रकरणकी समाप्तितक [अजामिलके] इतिहाससहित कीर्तनका ही प्रतिपादन है, इसलिये कीर्तनरूपा भक्ति ही भक्तिशब्दसे गृहीत होती है ।

अथवा, यहाँ सब प्रकारकी भक्तिका प्रकरण है, क्योंकि केवलया भक्त्या (केवल भक्तिसे) इस प्रकार सामान्यरूपसे भक्तिका प्रकरण आरम्भ हुआ है और सींग पकड़कर भिन्न-भिन्न गौओंका परिचय देनेके समान कीर्तनके अतिरिक्त श्रवण आदिको भी पाप-क्षयका हेतु बतलाया गया है । उस नवधा भक्तिमें—

अक्रूरस्त्वभिवादने च हनुमान् दास्ये च सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कैवल्यमेषां पदम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
निंवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥

इति स्मरणस्य; तदपीशाङ्घ्रिसेवयेति पादसेवनस्य; यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवयेत्यात्मनिवेदनस्य भगवज्जनसेवायाश्च; तस्या अपि मुख्यभगवद्भक्तित्वात्, सर्वपुराणेषु पुनः पुनरत्यादरेण मद्भक्तजनवात्सल्यमित्यादिभिर्विधीयमानत्वात्।

"जिन्होंने यहाँ भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंमें अपने गुणानुरागी मनको एक वार भी लगा दिया वे उन चरणोंके स्मरणरूप प्रायश्चित्तका आचरण करके यमराज और उनके पाशधारी दूतोंका स्वप्नमें भी दर्शन नहीं करते।"

यह वचन स्मरणरूपा भक्तिको, 'तदपीशाङ्घ्रिसेवया' (भगवान्‌की चरण-सेवासे हृदय भी शुद्ध होता है) यह वचन चरणसेवामयी भक्तिको, 'कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया' (कृष्णमें अपने प्राणोंको अर्पणकर उन के भक्तोंकी सेवासे मनुष्य जितना शुद्ध होता है उतना अन्य प्रकारसे नहीं) यह वचन आत्मनिवेदन और भगवद्भक्तोंकी सेवाको समस्त पापोंका क्षय करनेमें कारण वतलाता है; क्योंकि भक्तोंकी सेवा भी प्रधान भगवद्भक्ति है; तथा 'मद्भक्तजनवात्सल्यम्' (मेरे भक्तोंपर दया दिखाना) इत्यादि वचनोंसे सभी पुराणोंमें अत्यन्त आदरके साथ वारम्बार इसका विधान किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

इति तु यमवाक्यं नवविधाया अपि, तथा हि यदिति व्यस्तमव्ययम्, अन्यथा यच्छिर इति समासे जिह्वाचेतःशब्दाभ्यां सम्बध्यमानस्य यच्छब्दस्यादःसापेक्षत्वेनासामर्थ्यप्रसङ्गाद्, विष्णुकृत्य-

---

"[हे दूतगण !] जिसकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिसका चित्त भगवान्‌के चरणारविन्दोंका स्मरण नहीं करता तथा जिसका मस्तक एक बार भी भगवान् कृष्णको नमस्कार नहीं करता उन भगवान् विष्णुके निमित्त कर्म न करनेवाले दुष्टोंको ही तुमलोग पकड़ ले आना।"

यह यमराजका वचन तो नवों प्रकारकी भक्तिका सर्व पापनाशक होना बतलाता है; इसीको स्पष्ट करते हैं— 'यच्छिरः' इस पदमें 'यत्' शब्द पृथक् अव्ययपद है, अन्यथा यदि 'यच्छिरः' इसको समासमें एकपद मानें तो 'जिह्वा' और 'चेतस्' शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाले यत् शब्दमें इन दोनों (जिह्वा तथा चेतस्) शब्दोंकी अपेक्षा होनेके कारण असामर्थ्यका* प्रसङ्ग उपस्थित होगा। 'विष्णुकृत्यम्' शब्दसे गोबलीवर्दन्यायके

---

* ऐसी दशामें समास हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'समर्थः पदविधिः' इस सूत्रके अनुसार सामर्थ्य रहनेपर ही समास होता है। 'संसृष्टार्थं समर्थम्' इस भाष्यकारके वचनानुसार यहाँ एकार्थीभावरूप सामर्थ्यका ग्रहण होता है। यदि यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिति च कीर्तनस्मरणवन्दनेभ्योऽवशिष्टं श्रवणादिषट्कं गृह्यते गोबलीवर्दन्यायेन। न कृतं विष्णुकृत्यं यैस्तेऽकृतविष्णुकृत्यास्तानानयत्वमिति नवविधभक्तिहीनानामानयनप्रतिपादनेनैकैकभक्तियुक्तानामनानयनं प्रतीयते, एकाङ्गवैकल्येन प्रत्युदाहरणनियमात्। तत्रापि "वैवस्वतं संगमनं जनानाम्" इतिश्रुत्यानयनस्योत्सर्गतः प्राप्तत्वाद् भक्तानामनानयनमेव विधीयते, अप्राप्तत्वात्। ततश्च

अनुसार कीर्तन, स्मरण और वन्दनसे अवशिष्ट श्रवणादि छः साधनोंका ग्रहण होता है। जिन्होंने विष्णुका कृत्य नहीं किया है, वे 'अकृतविष्णुकृत्य' हैं, उन्हें ले आओ—इस प्रकार नव प्रकारकी भक्तिसे हीन पुरुषोंके ले आनेका कथन होनेसे यह प्रतीत होता है कि जो एक-एक भक्तिसे भी युक्त हैं उन्हें नहीं ले आना है; क्योंकि एक अंगका अभाव होनेपर प्रतिकूल उदाहरण देनेका नियम है*। यद्यपि भक्तोंका 'नहीं लाया जाना' अर्थतः प्रतीत होता है तथापि 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' (प्राणियोंको ले जानेवाले यमराजको) इस श्रुतिसे 'सभी जीवोंका यमराजद्वारा लाया जाना' स्वतः प्राप्त होनेके कारण भक्तोंके नहीं लाये जानेका ही विधान है; क्योंकि वह अप्राप्त है [और विधि अप्राप्तकी ही होती है]। अतः भाव यह है

यत्शब्द समस्त हो जाय तो उसके अर्थका अन्यत्र अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि वह समासवृत्तिमें आबद्ध हो चुका है और वृत्त किसीका विशेषण नहीं होता; अतएव यह परिभाषा है—सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च विशेषणयोगो न।

* जैसे 'एक सालकी लाल रंगवाली बछिया देकर सोमरस खरीदे' इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि दो सालकी या श्वेत रंगकी बछिया देकर न खरीदे। इसी प्रकार नवविध भक्तिसे हीन पुरुषको ले आनेके लिये यमकी आज्ञा होनेसे जो एक भी भक्तिसे युक्त है उसका नहीं लाया जाना सिद्ध हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवविधाया भक्तेरेकैकत्वेन कृत्स्नपापक्षयहेतुत्वमिति भावः। श्रवणादीनां तु माहात्म्यं स्वस्वप्रकरणे विशेषतोऽवगन्तव्यम्। प्रसङ्गागतं चैतत्, प्रस्तुतं पुनरधर्मवासनानिवृत्तिहेतुत्वं भक्तेरेव नो कर्मणामिति।

अधर्मपदार्थविवेचनम्

ननु कोऽयमधर्मो नाम ? यद्वासनानां निवृत्तये न प्रभवन्ति कर्माणि। किं हननादि कर्मैव ? किं वा तज्जन्यः संस्कारः ? किं वान्यः ? न तावत् कर्म, तस्य स्वयमेव निवृत्तत्वात् तादर्थ्येन प्रायश्चित्तविधानानुपपत्तेः, अथ संस्कारः, न तज्जन्यामन्यां वासना-

---

कि नौ प्रकारकी भक्तियोंमेंसे प्रत्येकको ही सम्पूर्ण पापोंके क्षयकी हेतुता प्राप्त है। पुराणोंमें अपने-अपने प्रकरणोंमें श्रवण आदिका माहात्म्य विशेषरूपसे जाननेयोग्य है। ऊपरकी बातें प्रसङ्गानुसार आ गयीं, प्रस्तुत विषय तो यही है कि अधर्मोंकी वासनाको निवृत्त करनेमें भक्ति ही कारण है, कर्म नहीं।

पूर्वपक्षी—यह अधर्म क्या वस्तु है ? जिसकी वासनाओंको मिटानेमें कर्म समर्थ नहीं हैं। क्या हिंसा आदि कर्म ? या हिंसादिजन्य संस्कार ? अथवा इनसे भिन्न कोई वस्तु अधर्म है ? हिंसादि कर्म तो अधर्म है नहीं; क्योंकि वह [हिंसा आदि हो जानेके उपरान्त] स्वयं ही निवृत्त हो जाता है, उसके लिये प्रायश्चित्तका विधान ठीक नहीं जँचता। यदि हिंसादि कर्मसे होनेवाले संस्कारको अधर्म कहें तो पुनः उससे होनेवाली दूसरी वासना हम नहीं मान सकते; क्योंकि एक संस्कारसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन्नीकुर्मः संस्कारस्य संस्कारान्तरायोगादनवस्थाप्रसङ्गात्, न वान्यः, प्रमाणाभावात्। यदाहुर्वार्तिककारमिश्राः—

तस्मात्फलप्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्॥

इति। शक्तिमात्रमिति च यागादिजन्यः संस्कार एवोच्यते, शक्तिमन्तमन्तरेण मुख्यशक्तेरवस्थानायोगात्। उत्पत्तौ वापि पश्वादेः शक्तिमात्रकमित्यपि फलस्य पूर्वावस्था, यथोक्तं निबन्धकृद्भिः

दूसरे संस्कारकी उत्पत्ति असङ्गत है और ऐसा माननेपर अनवस्था दोषकी आपत्ति होगी। इनसे अतिरिक्त भी कोई वस्तु अधर्म नहीं है; क्योंकि उसकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है; जैसा कि भगवान् वार्तिककारने भी कहा है—

"इसलिये यागादिके फलदानमें प्रवृत्त होनेके समय अथवा पश्वादिरूप फलकी उत्पत्तिके पूर्व यागादिकी जो शक्तिमात्र है वही अपूर्व है उससे भिन्न नहीं है।"*

'शक्तिमात्र' कहनेसे यागादिजन्य संस्कारका ही प्रतिपादन होता है; क्योंकि शक्तिमान्के विना मुख्य शक्तिकी स्थिति नहीं रह सकती। "उत्पत्तौ वापि पश्वादेः शक्तिमात्रकम्" इस कथनसे पश्वादि फलकी पूर्वावस्था कही गयी है; जैसा कि निबन्धकारने कहा है—फलके अङ्कुरित होनेकी अवस्था ही [पूर्वावस्था है]

---

* इस श्लोकमें पूर्वार्धसे यागादिकी फलदानकालिक उत्तर अवस्थाको अपूर्व कहा गया है और उत्तरार्धसे पश्वादिकी उत्पत्तिरूप फलकी पूर्वावस्था अपूर्व कही गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"फलस्य चाङ्कुरावस्था" इति । सा च यागादिजन्यः संस्कार एव । धर्मवदेवाधर्मः, तथा चाधर्मवासनाक्षयो नाम न कश्चित् ।

इदमपेशलम्, जात्यन्तरमेव धर्माधर्मौ न संस्कारजातीयौ, अभियुक्तैर्भेदेनानुक्रान्तत्वात् । तत्र च क्रियाज्ञानयोरेव संस्कार इति तार्किकाः । वयं तु सर्वेषामेव संस्कारव्यतिरिक्तानां विनश्यतां

और वह यागादिसे होनेवाला संस्कारमात्र ही है । अतः जिस प्रकार धर्म किसी कर्मका संस्कार है उसी प्रकार अधर्म भी है; इसलिये 'अधर्मकी वासनाका नाश' नामक कोई वस्तु है ही नहीं ।

सिद्धान्ती—यह कथन अच्छा नहीं है; धर्म और अधर्म दोनों ही भिन्न जातिके हैं, संस्कारजातीय नहीं हैं; क्योंकि [अक्षपाद आदि] अभियुक्तों (विद्वानों) ने भिन्नरूपसे ही उनकी गणना की है । क्रिया और ज्ञानसे ही जन्य संस्कार होते हैं—ऐसा तो तार्किक ही मानते हैं* । हमलोग तो संस्कारातिरिक्त सभी विनाशशील पदार्थोंका संस्कार होता है, ऐसा कहते हैं; विनाशशील होनेके कारण ही उनमें संस्कारका अनुमान†

---

* नैयायिकोंके मतमें संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—वेग, स्थितिस्थापक और भावना । इनमें प्रथम दो संस्कार क्रियाजन्य हैं और तीसरा ज्ञानजन्य है ।

† अनुमानका प्रकार यों है—

संस्कारातिरिक्तं सर्वं संस्कारजनकम्, तद्भिन्नत्वे सति विनाशशीलत्वात्; क्रियाज्ञानवत् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोऽस्तीति ब्रूमः, विनश्यत्त्वेनैवानुमातुं शक्यत्वात् । श्रीविष्णुपुराणे चैतदेव स्पष्टीकृतम्—

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥

इति । तैर्हिंसादिभिर्भाविता वासितास्तान्येव प्रतिपद्यन्ते, न चात्र धर्माधर्मशव्दाभ्यां विहितप्रतिषिद्धयोः क्रिययोरुपादानं तयोः पृथगेव हिंसादिशव्दैरुपात्तत्वात् । यद्यपि मुख्यवृत्त्याग्निहोत्र-

---

किया जा सकता है । श्रीविष्णुपुराणमें भी इसीको स्पष्ट किया गया है—

"हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य—इन सबको इनकी वासनासे प्रभावित पुरुष ही प्राप्त करते हैं, अतएव इनमें उनकी रुचि हो जाती है ।"

इस प्रकार उन हिंसादिकोंके द्वारा प्रभावित—उनकी वासना (संस्कार) से वासित पुरुष उन हिंसादिको ही प्राप्त करते हैं । इस वचनमें धर्म और अधर्म शव्दसे विहित तथा प्रतिषिद्ध क्रियाओंका ग्रहण नहीं है; क्योंकि उन दोनों (धर्म-अधर्म) का हिंसा आदि शव्दोंसे पृथक् ग्रहण किया गया है ‡ । यद्यपि मुख्य वृत्ति (अभिधाशक्ति) से अग्निहोत्र

'संस्कारातिरिक्त सभी वस्तु संस्कार-जनक हैं, क्योंकि वे संस्कारभिन्न होते हुए विनाशशील हैं; जैसे—क्रिया और ज्ञान ।'

‡ अतः ऐसा नहीं कहना चाहिये कि ज्ञान और क्रिया ही संस्कार-जनक हैं; क्योंकि उक्त श्लोकमें हिंसा आदिको भी संस्कार-जनक कहा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हननक्रिययोरेवार्थानर्थहेतुत्वेन धर्माधर्मशब्दवाच्यत्वं तथापि यद्द्वारेण तयोरर्थानर्थहेतुत्वं तदेवापूर्वं प्रायेण धर्माधर्मशब्दाभ्यां शास्त्रेषु व्यवह्रियते ।

मतान्तरसंवादः

वार्तिककाराणामपि स्वर्गयागयोरन्तराले किञ्चिदतीन्द्रियं तयोरेव साध्यसाधनसंबन्धनिर्वाहकं वस्तु श्रुतार्थापत्तिप्रमेयमपूर्वन्नाम न परपरिकल्पितं कार्यनियोगापरपर्यायशब्दैकसमधिगम्यं किञ्चिदिति मनीषितम्, न पुनः

और हिंसा कर्मोंको ही पुरुषार्थ तथा पुरुषानर्थका साधक होने-के कारण धर्म और अधर्म शब्दका वाच्य कहा गया है तथापि जिसके द्वारा वे दोनों अर्थ या अनर्थके कारण होते हैं उस अपूर्वका ही शास्त्रोंमें प्रायः धर्माधर्म शब्दोंसे व्यवहार किया जाता है ।

वार्तिककारको* भी यही मानना इष्ट है कि स्वर्ग और यज्ञके मध्यमें उनके साध्य-साधनभावको निभानेवाली कोई 'अपूर्व' नामक अतीन्द्रिय वस्तु है जिसका श्रुतार्थापत्ति† प्रमाणसे निश्चय होता है, अन्य लोगोंकी कल्पना की हुई एक-मात्र लिङादि-शब्दसे जाननेयोग्य 'कार्य' और 'नियोग' आदि

---

* यहाँ यह शङ्का होती है कि वार्तिककारने धर्मको संस्काररूप कैसे कहा ? इसीके उत्तरमें वार्तिककारका अभिप्राय बतलाते हैं ।

† क्षणभङ्गुर यज्ञ आदि कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलके जनक कैसे हो सकते हैं ? नष्ट हुआ कारण तो फलका साधक होता नहीं देखा जाता । इस प्रकार साध्य-साधनभावकी अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति है, इसीसे 'अपूर्व'की कल्पना की जाती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कार एव । मण्डनमिश्रैरप्ययमेवार्थोऽङ्गीकृतः प्रारब्धक्रिययैव जीवन्मुक्तिं समर्थयद्भिः । अथ वाग्निहोत्रहननादिक्रियाणां विहित-प्रतिषिद्धत्वनिबन्धनः स्वर्गनरकहेतुरेकः संस्कारः श्रुतार्थापत्तिप्रमेयः, तासामेवान्योऽपि सजातीयोत्पत्तिहेतुः क्रियानिबन्धनोऽनुमेयः, यथा

नामोंवाली कोई वस्तु, 'अपूर्व' नहीं है । 'संस्कार ही अपूर्व है' ऐसा मानना वार्तिककारको अभीष्ट नहीं है। धर्माधर्मरूप प्रारब्ध-क्रियासे ही जीवन्मुक्तिका समर्थन करनेवाले मण्डनमिश्रजी-ने* भी यही सिद्धान्त माना है [कि धर्म और अधर्म—ये दोनों विजातीय हैं न कि संस्काररूप हैं।] अथवा अग्निहोत्र और हिंसा आदि कर्मोंका विधि-निषेधके कारण होने-वाला एक स्वर्ग-नरकका हेतुभूत संस्कार है, जो श्रुता-र्थापत्ति प्रमाणसे निश्चित करने योग्य है और फिर उन्हीं क्रियाओंका दूसरा संस्कार भी, जो सजातीय संस्कारके उत्पत्तिका हेतुभूत और क्रियारूप हेतुसे सिद्ध होनेवाला है, अनुमानद्वारा† जान लेनेयोग्य है । जैसे योगी, शैव,

---

* यहाँ शङ्का होती है कि मण्डनमिश्र आदि वेदान्तके विद्वान् तो संस्कारको ही लेकर जीवन्मुक्तिका समर्थन करते हैं और सभी संस्कार धर्म-अधर्म शब्दसे ही कहे जाते हैं; अन्यथा उनके दुख-सुख-भोगकी उपपत्ति नहीं हो सकती—इसीके उत्तरमें मण्डनमिश्रके मतका उल्लेख करते हैं।

† अनुमान-वाक्य यों समझना चाहिये—विमता यागादिक्रिया सजाती-योत्पादकसंस्कारहेतुः; क्रियात्वात्, वेष्टनादिक्रियावत् । अर्थात् विवादकी स्थानभूत यागादिक्रिया अन्य सजातीय संस्कारको उत्पन्न करनेवाले संस्कारकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगिशैववैष्णवशिवलिङ्गशालग्रामादिदर्शनस्य पुरुषार्थहेतुरतिशयः शास्त्रसमधिगम्यः कश्चिदस्ति, पाषण्डिचाण्डालादिदर्शनस्य पुनरनर्थहेतुः, तयोरेवानुभवनिमित्तः स्मृतिहेतुरन्योऽपि । अस्मिंश्च विभागे—

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतो हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥

वैष्णव, शिवलिङ्ग और शालग्रामादिके दर्शनका कोई पुरुषार्थ-साधक 'अतिशय' है, जो शास्त्रगम्य है तथा पाषण्डी और चाण्डालोंके दर्शनका भी कोई अनर्थसाधक 'अतिशय' है और फिर उन्हीं दोनों प्रकारके दर्शनोंका अनुभवसे सिद्ध स्मरणका कारणभूत दूसरा 'अतिशय' भी है । इस प्रकारके विभागमें—

"यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी चित्त कुमार्गकी ओर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित्त ऐकान्तिक—सर्वथा पापनिवर्तक नहीं है; इसलिये कर्मके आत्यन्तिक विनाशकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके लिये भगवान्का गुणानुवाद ही ऐकान्तिक साधन है; क्योंकि वह चित्तका शोधक है ।"

उत्पत्तिका हेतु है; क्योंकि वह क्रिया है, जैसे वेष्टन आदि क्रिया । 'उदुम्बरी वेष्टयितव्या' इस विधि-वाक्यसे उदुम्बर-शाखाको वेष्टित करनेकी विधि बतलायी गयी है, इसके वेष्टनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है जो कि प्रधान यागजन्य संस्कारका जनक है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्येवंजातीयकं वचनजातं प्रमाणम्। तथा हि न तावत्- सजातीयोत्पादकः संस्कारो नास्त्येवेति वक्तुं शक्यते

सजातीयोत्पादक-संस्कारे प्रमाणदर्शनम्

यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्।

इति श्रुतेः।

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

इत्यादिस्मृतेश्च। स्वर्गनरकसृष्टाविव पुण्यपापसृष्टावप्यविषमस्य कृपालोः परमेश्वरस्य प्राचीनपुण्यपापसापेक्षत्वाच्च। परमसिद्धान्तेऽप्यन-

---

इत्यादि प्रकारके वाक्यसमूह प्रमाण हैं। तथा सजातीयोत्पत्तिका हेतुभूत कोई संस्कार है ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस विषयमें—

"जो एक बार कोई पाप करता है वह उससे भिन्न दूसरा पाप भी कर सकता है।" यह श्रुति तथा—

"उन उत्पन्न होनेवाले जीवोंमेंसे जिन्होंने पूर्वजन्ममें जो-जो कर्म किये थे वे पुनः-पुनः जन्म लेनेपर उन्हीं-उन्हीं कर्मोंको प्राप्त करते रहते हैं।"

इत्यादि स्मृति भी प्रमाण है। स्वर्ग-नरककी सृष्टिके समान पाप-पुण्यकी सृष्टिमें भी समानभाव रखनेवाले दयामय परमेश्वर पूर्वजन्मके पुण्यपापकी ही अपेक्षा [रखते हुए जीवको तदनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त] करते हैं। परम सिद्धान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाकृत्यैव सापेक्षत्वं सृष्टेर्मायामयत्वेन वैषम्यदोषसमाधानाच्च ।

संस्कारद्वयाङ्गीकारे युक्तिः यदि परं स्वर्गनरकहेतुरेव सजातीयोत्पादकोऽपीति वक्तव्यम् ; तथा च सति—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥

इत्यादिना वेदाभ्यासजपोपासनादिस्वाध्यायैः शुद्धेरनात्यन्ति-

(वेदान्त) में भी प्राचीन संस्कारादिकी अपेक्षाका त्याग न करके ही सृष्टिको मायामय मानकर ईश्वरमें प्राप्त होनेवाले वैषम्य-दोषका समाधान किया है ।

किन्तु यदि स्वर्ग-नरकका हेतुभूत एक ही संस्कार सजातीय उत्पत्तिका कारण है—ऐसा कहा जाय तो ऐसा होनेपर—

'विद्या (अन्य देवोपासना), तप, प्राणायाम, मैत्री, तीर्थस्नान, व्रत, दान और जपसे अन्तरात्माकी वैसी आत्यन्तिक शुद्धि नहीं होती जैसी भगवान् अनन्तके हृदयस्थित होनेपर होती है ।'

इत्यादि वचनोंसे वेदाभ्यास, जप, उपासना और स्वाध्यायसे होनेवाली शुद्धिके आत्यन्तिक न होनेकी कल्पना नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कत्वाभिधानं नात्रकल्पेत; निरंशस्य संस्कारस्य सान्वयविनाशायोगात्, तस्मात्स्वर्गनरकहेतुः सजातीयोत्पत्तिहेतुश्चेति संस्कारद्वयं कर्मणामवश्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

भक्तेरेवात्यान्तिकशुद्धिकरत्वम्

ततश्च नरकहेतुः संस्कारः प्रायश्चित्तैर्निवर्त्यते न सजातीयोत्पादकः, भक्त्या पुनरुभयविधोऽपीति भक्तेरेवात्यन्तिकशुद्धिहेतुत्वं न कर्मणामिति, अतश्च प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्येतदप्यनात्यन्तिकतया कर्मात्मकानि प्रायश्चित्तानि विनिन्द्य प्रकरणिनीमत्यन्तपावनीं भगवद्भक्तिमेव प्रशंसति ।

यत्पुनः सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वमिति, तदविरुद्धम्, दध्यादिवद्गु-

---

वन सकती; क्योंकि अंशरहित संस्कारका आंशिक विनाश नहीं हो सकता। अतः कर्मोंके स्वर्ग-नरकका हेतु और सजातीय उत्पत्तिका हेतु—ये दो संस्कार अवश्य मानने चाहिये ।

ऐसी स्थितिमें नरकका हेतुभूत संस्कार ही प्रायश्चित्तसे निवृत्त होता है, सजातीय उत्पत्तिका हेतुभूत संस्कार नहीं। परन्तु भक्तिसे दोनों प्रकारके संस्कार निवृत्त होते हैं; अतः भक्ति ही आत्यन्तिक शुद्धिका हेतु है कर्म नहीं । इसलिये 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि' यह वचन आत्यन्तिक शुद्धिका साधन न होनेसे कर्ममय प्रायश्चित्तोंकी निन्दा करके प्रकरणप्राप्त अत्यन्त पावन भगवद्भक्तिकी ही प्रशंसा करता है ।

तुमने जो यह कहा था कि नामकीर्तन समस्त कर्मोंमें सद्गुणका आधान करनेके लिये है, इससे मुझे विरोध नहीं है;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनस्य कर्मसाद्गुण्या- र्थत्वेऽप्यविरोधः

भयार्थत्वोपपत्तेः, यथा दध्ना जुहोति दध्नेन्द्रियकामस्य जुहोतीत्यादिशास्त्रात् क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च दध्यादिस्वरूपस्य; तथेहापि। "वासुदेवे मनो यस्य" इति तु गुणफलाधिकारः, फलश्रवणात्। न च पर्णमयीत्यादिवत् फलश्रुतेरर्थवादत्वम्, स्मरणस्य भावार्थत्वेन स्वतः फलसाधनतोपपत्तेः, पर्णतावैषम्यात्।

क्योंकि दधि आदिकी तरह वह दोनों प्रयोजनोंका साधक हो सकता है। जैसे 'दहीसे हवन करता है' 'इन्द्रियोंकी कामनावाले पुरुषके लिये दहीसे हवन करता है' इत्यादि शास्त्र-वचनोंके अनुसार दही आदिका स्वरूप यज्ञ और पुरुष दोनोंके लिये सिद्ध होता है उसी प्रकार यहाँ कीर्तन भी उभयार्थक होगा। 'वासुदेवे मनो यस्य' इस वचनमें गुणयुक्त फलका सम्बन्ध है; क्योंकि वहाँ फलका श्रवण होता है*। 'यस्य पर्णमयी जुहूः' इत्यादिकी तरह यहाँ फलश्रुति अर्थवाद नहीं है; क्योंकि यहाँ स्मरण भावार्थ (धात्वर्थ) है, अतः उसमें फलसाधनताकी स्वतः सिद्धि हो जाती है, पर्णतान्यायसे यहाँ समानता नहीं है।

---

* 'तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्।' इस प्रकार फलका श्रवण होता है; तात्पर्य यह कि जपादिमें भगवान्का स्मरण इन्द्रपदसे भी महान् फलका हेतु है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्तोपसंहारः

तस्मादन्याङ्गत्वे प्रमाणाभावात् स्वातन्त्र्येण च सर्वपुराणानां गतिसामान्यात् स्वप्रधानमेव भगवत्कीर्तनं कृत्स्नपापक्षयहेतुरिति स्थितम् ।

श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयापरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रुनेत्रमवशं मां नाथ नित्यं कुरु ॥

अतः 'कीर्तन अन्य कर्मोंका अङ्ग है' इसमें कोई प्रमाण न होनेके कारण और सभी पुराणोंके स्वतन्त्र एवं समानार्थक होनेसे नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे समस्त पापोंके क्षयका कारण है—यह बात सिद्ध हुई ।

"हे[1] नाथ ! आप मुझे ऐसा कर दें कि मैं प्रतिदिन 'श्रीराम, जनार्दन, जगन्नाथ, नारायण, आनन्दमय, दयामय, कमला-कान्त, कृष्ण' इत्यादि आपके नाममय महान् सुधासागरकी तरङ्गोंमें डूबकर आँखोंसे आँसू बहाता हुआ विवश होकर बारंबार मूर्छित होता रहूँ ।"

---

१. [अब नाममें दृढ़ निश्चय होनेके कारण ग्रन्थकार भगवान्से भक्तिकी प्रार्थना करते हैं—]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपादपद्मोपजीविनो लक्ष्मीधरस्य कृतौ श्रीभगवन्नामकौमुद्यां नामकीर्तनस्य पुरुषार्थत्वप्रतिपादनं नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥

इस प्रकार श्रीमान् अनन्तानन्द रघुनाथके चरण-कमलोंका आश्रय लेनेवाले लक्ष्मीधरकी कृति—भगवन्नामकौमुदीमें नामकीर्तनकी पुरुषार्थरूपताका प्रतिपादन करनेवाला दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

क्षुत्तृड्भ्यामभिभूताय मर्त्यलोके विषीदते ।
नामामृतमयीं भिक्षां देहि मे करुणार्णव ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

तृतीयः परिच्छेदः

क्रोधो दहत्येष लुनाति लोभः क्षोभं च कामादिरयं विधत्ते ।
पापैर्मनोभूः परिपीडितेयं प्रतीक्षते नाथ तवावतारम् ॥ १ ॥
विरमसि चिरमस्ति को विचारस्त्वमसि वदान्यवरो लघुर्हि याच्ञा ।
निरवधिकरुणार्णवं जनोऽयं वरयति विन्दुनिषेकमेकवारम् ॥२॥
विबुधास्तु सुधा सुधां पिबन्तु न बुधास्तत्र मनाङ्मनो नयन्ति ।
हरिनामसुधैव चेत्सुलभ्या वसुधैव त्रिदिवस्य वन्दनीया ॥३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्णाय नमः

मङ्गलाचरणम्

यस्य नामान्यधीयानैः शुकैरपि शुकायितम् ।
विनेयैर्वल्लवस्त्रीणां स कृष्णः कुरुतात् कृपाम् ॥

पूर्वपक्षः—विकल्पव्यवस्थयोर्व्यवस्थाया ज्यायस्त्वम्

एवं भक्तिकर्मणोः संभूय साधनत्वे निरस्ते पुनरिदं विचार्यते—किमनयोर्व्यवस्था विकल्पो वेति ? तत्राधिकारिभेदेन व्यव-

---

गोपियोंके सिखलाये हुए शुकनामक पक्षी जिनके नामोंका उच्चारण करते हुए शुकदेवजीके समान ज्ञानी हो गये वे भगवान् कृष्ण मुझपर कृपा करें ।

पूर्वपक्ष नं० १

इस प्रकार (द्वितीय परिच्छेदके निश्चयानुसार) भक्ति और कर्मके एक साथ मिलकर पापक्षयमें कारण होनेका निराकरण करनेके पश्चात् पुनः इस बातका विचार किया जाता है कि भक्ति तथा कर्म इन दोनोंमें व्यवस्था[१] है या विकल्प[२] ? यहाँ [श्रद्धालु आदि] अधिकारिभेदसे व्यवस्था

---

१. किसी विशेष अधिकारीके लिये नामकीर्तन है और उससे भिन्न अधिकारीके लिये द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त हैं—इस प्रकारका नियम व्यवस्था है।

२. सभी लोग स्वेच्छानुसार नामकीर्तन अथवा द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त कर सकते हैं—यह विकल्प है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थाय्यमधिकारिविशेषणस्य किञ्चित्करत्वाच्छ्रद्धादिसहकृतस्यैव कीर्तनस्य पावनत्वं फलिष्यति, विकल्पे तु तन्निरपेक्षस्यैव, तत्र गुरुलघुनोर्विकल्पे गुरुणो ह्यत्यन्तबाधप्रसङ्गाद् व्यवस्थैव साधीयसी।

ननु नामकीर्त्तनविषयं शास्त्रं न द्वादशवार्षिकादेः साधनत्वमपलपति तत्कथं बाधः ?

उच्यते—अननुष्ठानमेवात्र बाधितत्वम्, न विषयापहारः।

माननेपर अधिकारीका [श्रद्धा आदि] विशेषण ही फलोपयोगी हो सकता है; अतः श्रद्धा आदिके सहित ही नामकीर्तन पवित्र करनेवाला है—ऐसा फलित होगा। परन्तु विकल्प माननेपर श्रद्धा आदिकी अपेक्षासे रहित नामकीर्तन ही पवित्र करनेवाला सिद्ध हो सकता है। इनमेंसे यदि विकल्प-पक्ष स्वीकार करें तो गुरु और लघुके विकल्पमें गुरुके अत्यन्त बाध होनेकी आपत्ति होगी * इसलिये व्यवस्था ही अच्छी है।

आक्षेपक—नामकीर्तन-विषयक शास्त्र तो द्वादशवार्षिक (बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले) आदि प्रायश्चित्तोंकी साधनताका अपलाप नहीं करता, फिर इससे उनका बाध कैसे होगा ?

पूर्वपक्षी—कहते हैं [सुनो—] यहाँ अननुष्ठान (कर्ममें

* द्वादशाब्द आदि गुरु कर्म, कठिन और बहुत कालतक सिद्ध होनेवाला है, परन्तु कीर्तन लघु कर्म, सुकर और शीघ्रसाध्य है; फल दोनोंका एक ही है। ऐसी दशामें लघु कर्मके अनुष्ठानसे ही यदि कार्य सिद्ध हो जाता है तो गुरु कर्म कौन करेगा ? अतः गुरु कर्मका बाध हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथोक्तं भट्टैः "एतेन प्रवृत्तिश्च फलं प्रमाणानां प्रवृत्त्याख्यफलापहारश्च बाधः" इति। तत्र यदा समशिष्टयोर्द्वयोरपि नोपलभ्यते विशेषः, तदा निरङ्कुशत्वादिच्छायाः कस्यचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्प्रवृत्तिरिति द्वयोरपि पाक्षिकमनुष्ठानम्; यदा पुनरुपलभ्यते विशेषः सुकरदुष्करत्वभेदेन तदा सुकरानुरागिणीमिच्छां न कश्चिदपि कदाचिदप्यपाक्रष्टमीष्ट इति दुष्करस्यात्यन्तबाध एव तस्माद् व्यवस्थैव वरीयसी।

तत्र महदल्पादिपापभेदेन व्यवस्था

तत्र केचिन्नितान्तमनुरक्ताः स्मृतिषु पुराणेभ्यश्च मना-

प्रवृत्तिका अभाव) ही बाध है, विषयापहाररूप बाध नहीं है;* जैसा कि भट्टजीने कहा है—"इस कारण प्रवृत्ति भी प्रमाणोंका फल है और प्रवृत्तिनामक फलका अपहार भी उनका बाध है।" यदि समानरूपसे विहित दो कर्मोंमें [से किसी एकमें] कोई विशेषता उपलब्ध न हो तो इच्छाकी स्वतन्त्रता होनेसे किसीकी किसी भी कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसी स्थितिमें दोनोंका ही वैकल्पिक अनुष्ठान किया जा सकता है। परन्तु यदि किसीमें सुकर और दुष्कर भेदसे विशेषता प्राप्त हुई तो सुकर कर्ममें अनुरक्त होनेवाली अभिलाषाको कोई कभी नहीं त्याग सकता; अतः दुष्कर कर्मका अत्यन्त बाध हो जायगा, इसलिये विकल्पसे व्यवस्था ही श्रेष्ठ है।

यहाँ कुछ लोग स्मृतियोंमें अत्यधिक अनुरक्त होकर पुराणोंसे किञ्चित् भय मानते हुए छोटे-बड़े, प्रकट-गुप्त अथवा

---

* विषयापहाररूप बाध तो तब होता जब कि नामकीर्तनविषयक वचनमें द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्तके पापनाशक होनेका खण्डन किया गया होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिभ्यतो महदल्पपापभेदेन वा ज्ञाताज्ञातकृतभेदेन वा प्रकाशरहस्य-भेदेन वा स्मार्त्तं पौराणञ्च प्रायश्चित्तं व्यवस्थापनीयमिति वदन्ति, ततश्चाल्पाज्ञानादिकृतविषयैः स्मार्त्तैर्विकल्प्यते पौराणमित्युक्तं भवति ।

उक्तव्यवस्थायाः खण्डनम्

तन्न साधीयः—

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः ।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

इति गुरुलघुसर्वपापानामविशेषेण कृष्णानुस्मरणस्य मुख्य-प्रायश्चित्तत्वाभिधानात् ।

जानकर या बिना जाने किये हुए पापोंके भेदसे स्मार्त (स्मृति-कथित) और पौराणिक प्रायश्चित्तकी व्यवस्था करनी चाहिये—ऐसा कहते हैं । इससे अल्प, अज्ञानकृत और गुप्तपापविषयक स्मार्त प्रायश्चित्तोंके साथ पौराणिक प्रायश्चित्तका विकल्प है—यह प्रतिपादित होता है ।

परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि—

"हे मैत्रेय ! पापोंके प्रायश्चित्तको जाननेवाले स्वायम्भुवमनु आदि स्मृतिकारोंने महान् पापके लिये महान् और लघुके लिये लघु प्रायश्चित्त बतलाये हैं । वे जो तपःकर्मरूप सम्पूर्ण प्रायश्चित्त हैं उन सभीमें भगवान् कृष्णका स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है ।"

इस प्रकार सामान्यतः छोटे-बड़े सभी पापोंके लिये कृष्णका स्मरण ही मुख्य प्रायश्चित्त कहा गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवान्तरपूर्वपक्षः—कीर्तनस्य महापातकाद्यनिवर्तकत्वम्

ननु को नाम न ब्रूते कृष्णानुस्मरणं महापातकादिप्रकीर्णान्तसर्वाघसंहरणमिति, सा हि ब्रह्मविद्या, तथा हि कृषति विलिखति विदारयति संसाराटवीमिति वा, कर्षति—आकर्षति—आत्मसात्करोति वाज्ञानमिति वा कृष्णः परमात्मा, सदानन्दरूपो वा;

कृष्णस्मरणशब्दस्य ब्रह्मविद्यार्थत्वकल्पनम्

> कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
> तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

इति च स्मृतेः। तस्य चायमर्थः—भवनं भूः सत्ता तद्वाचको

पूर्वपक्ष नं० २

पूर्वपक्षी—भगवान् कृष्णका स्मरण महापातक (ब्रह्महत्यादि) से लेकर प्रकीर्ण (छोटे) पापोंतक सभीका संहार करनेवाला है—ऐसा कौन नहीं कहता? किन्तु यहाँ कृष्ण-स्मरण ब्रह्मविद्या है, वह इस प्रकार है—कर्षण करता—फाड़ता अर्थात् संसाररूपी वनका विदारण (नाश) करता है अथवा कर्षण करता—खींचता अर्थात् अज्ञानको अपने वशमें करता है इसलिये कृष्ण—परमात्मा अथवा सदानन्दस्वरूप है। इसमें निम्नाङ्कित स्मृति प्रमाण है—

"'कृष्' शब्द भू (सत्ता) का वाचक है और 'ण' आनन्दका। इन दोनोंकी एकता परब्रह्म है; उसे ही कृष्ण कहते हैं।"

इसका भाव यह है—भूका अर्थ है भवन अर्थात् सत्ता (सदा रहना), अतः यहाँ भूवाचक शब्दका अर्थ हुआ सत्तावाचक;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूवाचकः, न तु पृथिवीवाचक इति; निर्वृतिवचनेन णकारेणानन्वयात्, पृथिवीवर्तिनां जीवानामानन्दो यस्मादिति विग्रहे लक्षणाप्रसङ्गात्, आस्थावरमाचतुराननञ्च सर्वेषां जीवानामानन्दयितरि स्वसमयपरिपच्यमाननानापुण्योपसादितविविधविषयसन्निधिसंसृज्यमानमनोमुकुरमण्डलान्तरभिव्यज्यमानतया तत्तदानन्दतयोपधीयमाने परमात्मनि पृथिवीगतानन्दत्वस्य तद्हेतुत्वस्य चाविवक्षितत्वात्, विवक्षितत्वे वा "ये वामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां

पृथ्वीवाचक नहीं, क्योंकि [पृथिवी जड़ वस्तु है, अतः] उसका आनन्दवाचक णकारसे अन्वय नहीं हो सकता। यदि 'पृथ्वीपर रहनेवाले जीवोंको जिससे आनन्द प्राप्त होता है [वह कृष्ण है]'—ऐसा विग्रह करें तो लक्षणाका प्रसङ्ग* उपस्थित होता है। और जो स्थावरसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी प्राणियोंको आनन्द देनेवाले हैं तथा समयानुसार फल देनेवाले नाना प्रकारके पुण्योंद्वारा प्राप्त भाँति-भाँतिके विषयोंकी सन्निधिसे रचे हुए मनरूपी दर्पणके भीतर अभिव्यक्त होनेके कारण जो उन-उन [माल्यानन्द, चन्दनानन्द आदि] आनन्दोंके रूपमें उपाधिसे प्रतीत होनेवाले हैं उन आनन्दमय परमात्मामें केवल पृथिवीके जीवोंका आनन्दत्व और उन्हींके आनन्दकी उत्पत्तिका कारणत्व विवक्षित नहीं है। यदि विवक्षित मानें तो "जो उस आदित्यमण्डलसे परवर्ती लोक हैं

* जड होनेके कारण पृथिवीमें आनन्द रह नहीं सकता; अतः पृथिवी शब्दकी उसपर रहनेवाले जीवमें लक्षणा माननी पड़ेगी तथा जीव शब्दमें षष्ठ्यर्थकी भी लक्षणाद्वारा ही उपस्थिति होगी, इस प्रकार दो बार लक्षणाकी आपत्ति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च" इत्यादिशास्त्रविरोधात् । तस्मान्निरवद्यस्य सर्वेषामात्मभूतस्य सदानन्दस्यानुस्मरणं पुनः पुनश्चिन्तनं सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणं विजातीयप्रत्ययनिरोधलक्षणं वा निदिध्यासनमिहोपादीयते । तस्य चात्मसतत्त्वसाक्षात्कारकारणभूतं श्रवणं प्रति फलोपकार्य्यङ्गभूतस्यासम्भावनानिरासवत् तत्प्रतिबन्धकपातकप्रध्वंसोऽपि द्वारकार्य्यं भवत्येव;

उनका और देवताओंके आनन्दोंका भी ईशन (शासन) करनेवाला ईश्वर है।" इत्यादि शास्त्रोंसे विरोध पड़ता है। इसलिये सबके आत्मभूत और अनिन्दनीय सदानन्दस्वरूप परमात्माका किया हुआ चिन्तन अर्थात् सजातीय प्रतीतियोंकी आवृत्ति या विजातीय प्रतीतियोंकी निवृत्तिरूप निदिध्यासन ही यहाँ [ऐक्य शब्दसे] गृहीत होता है। वह निदिध्यासन आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके कारणभूत श्रवणका फलोपकारक अङ्ग है और जिस प्रकार प्रमाण एवं प्रमेयकी असम्भावनाको निवृत्त करना [श्रवण तथा मननका] मुख्य कार्य है उसी प्रकार आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके प्रतिबन्धक पापोंका नाश करना भी उस (निदिध्यासन) का मुख्य कार्य है ही *। इस विषयमें—

---

* इस प्रसङ्गका स्पष्टीकरण यों है—पहले यहाँ यह प्रश्न उठता है कि निदिध्यासन तो साक्षात् ज्ञानका हेतु है उसे पापक्षयका साधन कैसे माना जाय? इसीके उत्तरमें कहते हैं कि साक्षात् ज्ञानका हेतु श्रवण ही है; निदिध्यासन तो उसका अङ्ग है, जो उसके फलमें उपकारक होता है। तथा निदिध्यासनका मुख्य व्यापार पापक्षय ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।

इति स्मरणात्, कीर्तनस्य महापातकादिनिवर्तकत्वे नेदं प्रमाणम् ।

मध्यमपक्षः—अनन्तरोक्तपूर्वपक्षखण्डनमुक्तव्यवस्थानिरासश्च

कृष्णशब्दस्य रूढ-यौगिकार्थप्रदर्शनम्

इदमसुन्दरम्, कृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धये ब्रह्मणि रूढत्वात्; रूढिर्योगमपहरतीति न्यायात् । यौगिकत्वे वा दुर्वारमदनमहाग्रहगृहीततया समुल्लङ्घितसकलसेतूनां गोकुलकामिनीनाम्, अतिविषमरो-

---

"पापकर्मका नाश हो जानेसे ही मनुष्योंको ज्ञानकी उत्पत्ति होती है"

यह स्मृति प्रमाण है। इसलिये ये [पूर्वोक्त 'पापे गुरूणि गुरूणि…'इत्यादि दोनों] वचन कीर्तनके महापातकादि-निवर्तक होनेमें प्रमाण नहीं हैं।

मध्यम पक्ष (पूर्वपक्ष नं० २ का खण्डन)

मध्यस्थ—यह कथन तो अच्छा नहीं मालूम होता; क्योंकि 'रूढि योगका अपहरण कर लेती है' इस न्यायके अनुसार 'कृष्ण' शब्द यशोदाके दूध पीनेवाले तमालके समान श्यामल कान्तियुक्त ब्रह्ममें ही रूढ है। अथवा यौगिक माननेपर भी, अनिवार्य प्रेमरूपी महान् ग्रहसे गृहीत होनेके कारण [भगवान्में तन्मय होकर] समस्त सेतुओं (बन्धनों) का उल्लङ्घन करनेवाली

१—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्' इस प्रसिद्धिके अनुसार ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षावेशविवशविश्रृङ्खलसकलकरणवृत्तीनां पूतनाप्रभृतीनामरातीनाम्, अत्यन्तपराचीनचेतसां यमुनावनपशुपक्षिसरीसृपाणाम्, अतिबहलमोहपटलीपिनद्धसर्वेन्द्रियाणां वृन्दावनतरुगुल्मलतावीरुधामपि मुक्तिसुखमनिवारितं वितरतो नित्यनिरस्तनीहारतया निरन्तरस्वमहिमसमुल्लसदनन्तानन्दस्य गोपालशिरोमणेः सर्वप्रकारोऽपि योगोऽस्यैवेति तस्यैवेह ग्रहणं न निर्गुणस्य ब्रह्मणः; प्रयोगप्राचुर्य्यात्तत्रैव प्रथम-

---

गोकुलकी कामिनियोंको, अत्यन्त विषम रोषके आवेशसे विवश एवं उच्छृङ्खल इन्द्रियोंवाले पूतनादि शत्रुओंको, अत्यन्त वहिर्मुख (विषयोन्मुख) चित्तवाले यमुना और वृन्दावनके पशु, पक्षी तथा सर्पादिकोंको और बुद्धिगत विपुल व्यामोहरूप आवरणसे ढँकी हुई समस्त इन्द्रियोंवाले वृन्दावनीय वृक्ष, तृण, लता तथा वेलोंको भी जो अवाध मोक्ष-सुख बाँटते थे, सदा ही अज्ञानरहित होनेके कारण निरन्तर अपनी ही महिमामें उल्लसित होनेवाला अनन्त आनन्द ही जिनका स्वरूप है ऐसे इन गोपाल-शिरोमणिमें ही [कर्षण करना आदि] सब प्रकारका यौगिक अर्थ भी है; अतः उन्हींका यहाँ ग्रहण है, निर्गुण ब्रह्मका नहीं; क्योंकि गोपाल कृष्ण अर्थमें ही कृष्ण शब्दका अधिक प्रयोग होनेके कारण उसी अर्थमें सर्वप्रथम प्रतीतिका उदय होता है।

मदन शब्दका 'प्रेम' अर्थ किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्प्रतीतेरुदयात् । तस्य चानुस्मरणं कीर्तनमेव न ध्यानम्, वाक्यशेषे कीर्तनस्यैव प्रशंसनात्;

क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् ।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥

इति । न चान्यद्विधीयतेऽन्यत्प्रशस्यत इति सङ्गच्छते । अपि च प्रतीचीनमात्मवस्तु न कदाचिदपि स्मरणाङ्गनमवतरति, प्रतीचीनत्वस्यैव व्याघातात्, अतस्तस्य नाम्ना रूपेण वा तदुभयनिरासेन वोपाधिना तद्विषयत्वं वक्तव्यम्, तत्र नामोपाधिकं स्मरणमिह गृह्यते

उन भगवान् कृष्णका निरन्तर स्मरण, कीर्तन ही है ध्यान नहीं; क्योंकि वाक्यके शेषभूत अगले श्लोकमें कीर्तनकी ही प्रशंसा की गयी है—

"पुनः लौट आना ही जिसका लक्षण है ऐसा स्वर्ग-गमन कहाँ ? और मुक्तिका सर्वोत्तम बीज भगवान् वासुदेवका जप कहाँ ?"

अन्यका विधान करके अन्यकी प्रशंसा करे—यह बात सङ्गत नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यग्रूप आत्मवस्तु कभी स्मरण-पथपर नहीं आ सकती; क्योंकि ऐसा होनेपर उसकी प्रत्यग्रूपताका ही व्याघात होगा। इसलिये राम-कृष्ण आदि नामसे या मेघके समान श्यामता आदि रूपसे अथवा दोनोंके त्यागरूप उपाधिसे 'वे भगवान् स्मरणका विषय होते हैं'—ऐसा कहना चाहिये। उनमेंसे नामोपाधिक स्मरणका ही यहाँ ग्रहण होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तच्च कीर्तनमेव । स्मरणशब्देन च कीर्तनमुपाददानस्य मानसमपि भगवन्नाम्नोऽनुसन्धानं सर्वाघसंहारि, न केवलं वाचिकमिति विवक्षितम्; पुराणान्तरे च समानप्रकरणे नानाविधनरकयातनाकन्दकुद्दालस्य कीर्तनस्यैव वर्णितत्वात् ।

इहाप्यस्मिन् प्रकरणे सङ्कीर्तनमेवोपादीयते, न ध्यानम्; तस्य च गुरुलघुभेदानादरेण सर्वाघसंहारहेतुत्वेनावधारितत्वान्न महदल्पपापभेदेन व्यवस्थापनं गरीयः । अत एव न ज्ञानाज्ञानप्रकाशरहस्यभेदावपि व्यवस्थापकौ, स्वरूपेण वा गरिमलघिमानौ स्यातां निमित्तान्तरेण वा; गरिमलघिमानावेव तौ, कस्तत्र विशेषः ? गुरुलघुनोश्चां-

---

है और वह कीर्तनरूप ही है। जो स्मरणशब्दसे कीर्तनका ग्रहण करते हैं उन्हें यह कहना इष्ट है कि भगवान्के नामोंका वाणीद्वारा ही स्मरण करना नहीं, अपितु मनद्वारा अनुसन्धान करना भी सब पापोंका नाशक है, क्योंकि अन्य पुराणोंमें भी इसीके समान [कीर्तनके] प्रकरणमें नाना प्रकारकी नरक-यातनारूप कन्दके [छेदनके] लिये कुदालसदृश कीर्तनका ही वर्णन किया गया है।

यहाँ भी इस प्रकरणमें सङ्कीर्तनका ही ग्रहण है, ध्यानका नहीं; और वह पापोंके गुरु-लघुभेदका अनादर करता हुआ समस्त पापोंके संहारका हेतु निश्चित किया गया है। इसलिये महान् और अल्प पापके भेदसे उसकी व्यवस्था उत्तम नहीं है, अतएव ज्ञान-अज्ञान, प्रकट और गुप्त भेद भी व्यवस्था करनेवाले नहीं हो सकते। स्वरूपसे गुरुता-लघुता हो अथवा अन्य निमित्तसे वे गुरुता-लघुता ही हैं, उनमें विशेषता क्या है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हसोरविशेषेण निवर्तकं भगवत्कीर्तनमित्यभ्यधायि; तत्कथं तद्भेदेन व्यवस्थेति ?

कैमुत्यन्यायेनोक्तव्यवस्थायाः खण्डनम्

यस्मिन्न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः ।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते ॥

इत्यनेनापि व्यवस्था न प्रतीयते, कथम् ? अल्पपापनिवर्तकत्वे कीर्तनस्य न चित्रबुद्धिः, किन्तु नितान्तमहीयसामप्यंहसां

हम यह कह चुके हैं कि भगवन्नाम-कीर्तन छोटे-बड़े सभी पापोंका सामान्यरूपसे निवर्तक है, अतः गुरु-लघुभेदसे अलग-अलग व्यवस्था कैसे मानी जा सकती है ?

"जिनमें बुद्धि लगानेवाला जीव कभी मनुष्य-लोकके सुखोंको नहीं स्वीकार करता, जिनके चिन्तनमें स्वर्गलोककी प्राप्ति भी विघ्न-सी प्रतीत होती है, जहाँ अपना चित्त प्रवेश करानेवाले पुरुषको ब्रह्मलोक भी छोटा मालूम होता है, जो अविनाशी परमेश्वर विमल बुद्धिवाले पुरुषोंके चित्तमें स्थित होकर मुक्ति देते हैं, उन्हीं भगवान्के कीर्तन करनेपर यदि पाप नष्ट हो जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ?"

इस वचनसे भी व्यवस्थाकी प्रतीति नहीं होती । [यदि कहो] कैसे नहीं होती ? [तो सुनो—] कीर्तनके अल्प पापका निवर्तक होनेपर आश्चर्यमयी बुद्धि नहीं हो सकती; अपि तु अत्यन्त महान्से भी महान् पापोंकी कीर्तनमात्रसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनमात्रान्निवृत्तिरित्युच्यमाने कस्यचिदनवगतभगवन्नाममहिम्नः पुंसश्चित्रबुद्धिरुत्पद्यते; सा निवर्त्यते कैमुत्यन्यायेन। तथा हि—यस्मिन्न्यस्तमतिः, यच्चिन्तने, यत्र निवेशितात्ममनसः, चेतसि यः स्थित इति च स्मरणमेव शब्दभेदेन प्रतिवाक्यमलङ्कारार्थमावर्त्यते—

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः।

इतिवत्। उत्तरोत्तरभूमिकागतस्तु विशेषो विद्यमानोऽपि न

निवृत्ति हो जाती है—ऐसा कहनेपर जो भगवान्‌की नाम-महिमाको नहीं जानता उस पुरुषकी बुद्धि विस्मित हो सकती है और वह विस्मय-बुद्धि ही कैमुतिकन्याय * से निवृत्त की जाती है। उसका प्रकार यों है—'जिनमें बुद्धि लगानेवाला' 'जिनके चिन्तनमें' 'जिनमें अपना चित्त प्रवेश करानेवाला' 'जो चित्तमें स्थित होकर' इत्यादिरूपसे प्रतिवाक्यमें अलंकारके लिये शब्द-भेदसे स्मरणकी ही आवृत्ति की जाती है; जैसे—

"कदम्ब विकसित होते हैं, कुटजकी कलियाँ खिलती हैं"

इस वाक्यमें शब्दभेदसे विकासका ही कथन है। [नरक (मानव-सुख), स्वर्ग, ब्रह्मलोक और मोक्ष] इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता विद्यमान होनेपर भी यहाँ वह विवक्षित

---

* जो दुःसाध्य कार्य कर सकता है उसके लिये छोटे कार्यके करनेमें क्या आश्चर्य है ? यही इस न्यायका सारांश है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवक्ष्यते कैमुत्यानुपयोगात्। नरकशब्देन तु नाधर्मफलस्य ग्रहणम्, तन्निवृत्तेः कैमुत्येन सिषाधयिषितत्वात्। ततश्चायमर्थः—यस्मिन्नच्युते निविष्टबुद्धिर्नरकं नराणां कं सुखं मानुषमानन्दं सार्वभौमत्वादिकम् अन्तरायत्वेनापि न प्राप्नोत्येव, यदि कथञ्चिदसावमरपुरीपारमैश्वर्य्यमधिगच्छति तर्हि स विघ्नः, द्विपरार्द्धस्थायी हैरण्यगर्भोऽपि लोकोऽल्पकः, मुरमथनचरणस्मरणस्यातिविसदृशं फलम्, सार्वभौमसेवाया इव स्वोदरम्भरित्वम्, किं तर्हि? तेषां स्मरतां पुंसां मुक्तिं सकार्य्याविद्याविध्वंसद्वारेण निरतिशयानन्दे निजमहिमन्यवस्थानमेव ददाति

नहीं है; क्योंकि कैमुतिकन्यायमें उसका उपयोग नहीं है। 'नरक' शब्दसे यहाँ अधर्मकी फलभूत नरक-यातनाका ग्रहण नहीं है; क्योंकि उसकी निवृत्तिको यहाँ कैमुत्य-न्यायसे ही सिद्ध करना इष्ट है। अतः 'यस्मिन्न्यस्तमतिः' इत्यादि श्लोकका अर्थ यों है—जिन भगवान् अच्युतमें बुद्धि लगानेवाला पुरुष नर-क—मनुष्योंके सुख अर्थात् सार्वभौमत्व आदि मानव आनन्दको विघ्नरूप होनेके कारण स्वीकार ही नहीं करता है। यदि किसी प्रकार वह देवपुरीके परम ऐश्वर्यको प्राप्त करता है तो वह भी उसके लिये विघ्न ही है। दो परार्द्धोंतक रहनेवाला ब्रह्मलोक भी उसके लिये अत्यन्त तुच्छ है; भगवान् मुरारिके चरण-चिन्तनका वह अत्यन्त अयोग्य फल है; जैसे सम्राट्की सेवाका केवल पेट पालना ही फल होना अत्यन्त अयोग्य है। तो योग्य फल क्या है? [सो बतलाते हैं—] उन स्मरण करनेवाले पुरुषोंको भगवान् उनकी अविद्याका उसके कार्यसहित नाश करके अपनी महिमामें स्थितिरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् । अमलधियो हि ते, न हि तेषां समलधियामिवान्येषां देशकालावच्छिन्नं फलमुचितम्, इदमेवामलत्वं धियो यदुत पुरुषोत्तमपादपल्लवप्रवणत्वम्, विषयद्वारेणैव हि समलत्वममलत्वं च धियः, ततश्च येषां धीर्भुवनत्रितयान्तरे वर्तमानं यं कञ्चिदमरमन्यमवलम्बते तेषामुचितान्येव साम्राज्यादीनि, येषां पुनर्भुवनत्रितयोत्तीर्णभक्तानुगृहीतमूर्त्तिमुत्तमश्लोकशिखामणिमवलम्बते, तेषां तु विविधपरिच्छेदविरहिणी मुक्तिरेवोचिता, न तु परिच्छिन्नान्यन्यानि फलानीति ।

इह दातृदानसंप्रदानभावस्यौपचारिकत्वान्न षष्ठीपर्य्यनुयोगः ।

निरतिशय आनन्दमय मोक्ष देते हैं; क्योंकि उनकी बुद्धि निर्मल होती है, अन्य कलुषित बुद्धिवाले पुरुषोंकी भाँति उनके लिये देश-कालसे परिच्छिन्न फल उचित नहीं है । भगवान् पुरुषोत्तमके चरण-पल्लवोंमें अनुराग होना ही बुद्धिकी विमलता है । बुद्धिका मलयुक्त और निर्मल होना विषयोंके ही [ग्रहण और त्यागके] द्वारा होता है । अतः जिनकी बुद्धि त्रिभुवनके भीतर वर्तमान जिसी-किसी अन्य देवताका आश्रय लेती है उनके ही लिये साम्राज्यादि भोग उचित हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि [निरीहताके कारण] त्रिभुवनसे अतीत भक्तोंद्वारा सेवित स्वरूपवाले पुण्यकीर्तिशिरोमणि परमेश्वरका आश्रय लेती है, उनके लिये तो [देश, काल और वस्तुकृत] नाना प्रकारके परिच्छेदसे रहित (मूर्ति, विनाश और भेदसे शून्य) मुक्ति ही उचित है, इससे भिन्न परिच्छिन्न फल नहीं ।

यहाँ दाता, दान और सम्प्रदानभाव औपचारिक (गौण) है, इसलिये यहाँ षष्ठीविभक्तिके प्रयोगके विरुद्ध कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

मुक्तिमपि न कतिपयानां वितीर्य्य विरमति मुरभिदितरदानिवत्, अपि तु येषां मनसि स्थितः तेषां सर्वेषामेवेति बहुव्रीहौ सिद्धस्य सर्वनाम्नो विवक्षा। अपि च, अन्येषां दातॄणां यद्यर्थिनो मनसि स्थिताः तर्हि तेभ्योऽर्थं वितरन्ति, अयं पुनरर्थिनामेव मनसि स्थितो मुक्तिं ददाति, अन्यच्च, अन्ये दातारो वनीयकेभ्यो धनं विभज्य वितरन्तो वियन्ति; अयं पुनरव्ययः प्रतिवनीयकं सर्वस्वं वितरन्नपि न व्येति। य एवं मनोमात्रेणाप्यभिमुखानां सर्वाननर्थानपनयति

प्रश्न नहीं उठ सकता। भगवान् मुरारि अन्य दानियों-की भाँति कुछ ही लोगोंको मुक्ति बाँटकर विराम नहीं लेते, अपि तु जिन-जिनके मनमें वे स्थित होते हैं उन सभीको देते हैं—इस प्रकार बहुव्रीहिसमासके अन्तर्वर्ती सर्वनामपदकी* विवक्षा है। इसके अतिरिक्त अन्य दाताओंके मनमें यदि याचक स्थित होते (जँचते) हैं तो वे उन्हें धन वितरण करते हैं, परन्तु ये भगवान् स्वयं याचकोंके ही मनमें स्थित होकर मुक्ति देते हैं। तथा इतर दानी याचकोंको विभाग करके धन बाँटते हुए खर्चेमें पड़ जाते हैं, परन्तु ये अव्यय हैं, प्रत्येक याचकको सर्वस्व देते हुए भी घाटेमें नहीं रहते। जो इस प्रकार सम्मुख आये हुए प्राणियोंके सङ्कल्पमात्रसे [अविद्या-अहङ्कारादि] सभी अनर्थोंको दूर करते और उन्हें

---

* 'अमला धीर्येषाम्' (निर्मल है बुद्धि जिनकी) इस प्रकार विग्रह वाक्यमें आये हुए 'येषाम्' (जिनकी) इस सर्वनामपदके द्वारा उक्त अर्थका प्रतिपादन करना इष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निरतिशयं चार्थमुपनयति, तस्मिन्बहिरन्तःकरणद्वयीं वाङ्मनसलक्षणां प्रणिदधानानामनर्थैकदेशपरिहारमात्रं किं चित्रम्? नैव चित्रमिति। ततश्च ज्ञानकृतप्रकाशमहापातकपरिहारोऽपि मनसः क्षतिमेवावहति न पुनः पूर्तिम्, तत्कथं तत्रापि सङ्कोचेन व्यवस्थाशङ्केति।

युक्त्यन्तरेणोक्तव्यवस्थानिरासः

एवञ्च—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

निरतिशय पुरुषार्थ (परमानन्दमय मोक्ष) प्राप्त कराते हैं उन परमेश्वरमें वाणी और मनरूप वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको एकनिष्ठ करनेवाले भक्तोंके अनर्थोंका एकदेशमात्र नष्ट होना क्या आश्चर्य है? अर्थात् यह आश्चर्यकी बात नहीं है। इसलिये कीर्तनद्वारा जान-बूझकर किये हुए और प्रकट पापका नाश हो जाना भी मनको थोड़ा ही प्रतीत होता है पूर्ण नहीं* फिर उसमें भी संकोचके साथ [अर्थात् अज्ञात और अल्प पापका ही नाशक कीर्तन है—इस प्रकार न्यूनतापूर्वक] व्यवस्थाकी आशङ्का कैसे की जा सकती है?

ऐसा माननेसे—

"विवश होकर भी जिनका नाम लेनेपर मनुष्य सिंहसे डरे हुए मृगोंकी भाँति समस्त पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं।"

---

* जब केवल मनसे ही चिन्तन करनेपर भगवान् मोक्षतक दे देते हैं, तो मन और वाणी—दोनोंसे चिन्तन एवं कीर्तन करनेका फल मोक्षसे भी बड़ा होना चाहिये। इससे ज्ञात तथा प्रकट पापका नाश हो जाना कौन-सी बड़ी बात है? अतः इतना-सा फल न्यून ही है पूर्ण नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्येतदप्यनुसृतं भवति। वर्णितव्यवस्थायां तु प्रकीर्णकविषयत्वे पातकशब्दो बाध्येत, अतिपातकादिविषयत्वे सर्वशब्दः, न च पातकशब्दस्येव सर्वशब्दस्यापि विशेषान्तरे पर्य्यवसानम्, प्रयोगवैफल्यात् पातकशब्देनैव तत्सिद्धेः, अस्मत्पक्षे तु पातकशब्देनैव सर्वपातकग्रहणेऽपि न्यायाभासपरिकल्पितव्यवस्थाबाधेन सफलः सर्वशब्दः, तस्मान्नैव व्यवस्था।

यह वचन भी संगत हो जाता है। पूर्वोक्त व्यवस्था स्वीकार करनेपर तो यदि इस वचनको प्रकीर्ण (छोटे-छोटे साधारण) पापोंको ही विषय करनेवाला मानें तो 'पातक' शब्द बाधित होगा और यदि अतिपातक आदिविषयक मानें तो 'सर्व' शब्द बाधित होगा। यदि कहो 'पातक' शब्दकी भाँति 'सर्व' शब्द भी विशेष प्रकारके पापोंका ही बोध करानेमें तात्पर्य रखता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि पातक शब्दसे ही उस तात्पर्यकी सिद्धि होनेके कारण उसका प्रयोग निरर्थक हो जायगा। हमारे पक्षमें तो पातक शब्दसे ही सब पातकोंका ग्रहण होनेपर भी न्यायाभास-कल्पित व्यवस्थाका बाध करके सर्व शब्द सफल हो जाता है, अतः व्यवस्था मान्य नहीं है।*

---

* यहाँके प्रसंगका स्पष्टीकरण यों है—महापातकसे लेकर उपपातकतक जितने भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं वे सभी पातक कहलाते हैं, महापातकको ही अतिपातक कहते हैं, इन सभीसे अतिरिक्त पाप प्रकीर्ण कहे जाते हैं। उपर्युक्त विष्णुपुराणके वचनमें यह कहा है कि 'सर्वपातकैः पुमान् विमुच्यते' (पुरुष समस्त पातकोंसे छूट जाता है)। यदि कीर्तनके द्वारा अज्ञात और गुप्त पापोंसे ही मुक्त होनेकी व्यवस्था मानी जाय तो यह विचारणीय है कि ऊपर लिखे हुए वचनका क्या तात्पर्य है? यदि यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भागवते तु शृङ्गग्राहिकयैव महापातकान्यनुक्रम्य सङ्कीर्तनेनैव तन्निवृत्तिरभिहिता—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥

श्रीमद्भागवतमें तो शृङ्गग्राहिकान्यायसे ही महापातकोंकी गणना करके सङ्कीर्तनसे ही उनकी निवृत्ति बतलायी है—

"चोर, मद्य पीनेवाला, मित्रद्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुकी शय्यापर सोनेवाला (गुरुस्त्रीगामी), स्त्री राजा पिता एवं गौका वध करनेवाला और इनसे अतिरिक्त जितने भी

मान लें कि वह सभी प्रकीर्ण [नगण्य] पापोंसे ही मुक्त होनेकी बात कहता है तो उसमें पातक शब्दका प्रयोग असंगत होगा; क्योंकि पातक शब्द विशेष प्रकारके पापोंकी संज्ञा है। यदि कहें कि वह महापातक आदि पातकोंसे ही मुक्त होना बतलाता है तो सर्व शब्दका प्रयोग व्यर्थ होता है; क्योंकि सर्वशब्द सभी पातकोंको ग्रहण करानेके लिये ही है। यदि कहा जाय कि जिस प्रकार पातक शब्द सामान्यतः सभी पापोंका वाचक होनेपर भी विशेषमें तात्पर्य रखता है उसी प्रकार सर्वशब्द भी विशेष प्रकारके पापोंको ही ग्रहण करता है, तो ठीक नहीं, क्योंकि विशेष प्रकारके पापोंका ग्रहण तो पातक शब्दसे ही हो जाता है फिर इसीके लिये सर्व शब्दकी क्या आवश्यकता है ? अतः व्यवस्था माननेपर इस दोषका उद्धार नहीं हो सकता। यद्यपि व्यवस्था न माननेपर भी सर्व शब्दका प्रयोग असंगत ही है; क्योंकि पातक शब्द सामान्यतः सभी पापोंका वाचक है ही, उसीसे सबका ग्रहण हो जायगा, तथापि इस कल्पित व्यवस्थाको बाधित करना ही सर्व शब्दका मुख्य प्रयोजन माननेसे वह सफल हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

इति । न च तदज्ञानकृतविषयं रहस्यविषयं वेति वक्तव्यम्, बुद्धिपूर्वमखिलजगत्प्रख्यातं पातकं कृतवतोऽजामिलस्यापि नामकीर्तनादेव तन्निवृत्तेर्वर्णनात् । न च तदप्युपपातकादिविषयमिति वक्तव्यम्, तस्मिन्महापातकानामप्यनुक्रान्तत्वात्; "यतस्ततोऽप्युपानिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम्" इत्यादिना ।

श्रीविष्णुधर्मे च बुद्धिपूर्वप्रकाशमहापातकिनः क्षत्रबन्धोरपि

पापी हैं—उन सभीके लिये एकमात्र यही उद्धारका सुगम उपाय है कि भगवान् विष्णुका नामोच्चारण किया जाय जिससे उनके प्रति बुद्धि लगी रहे ।"

यहाँ ऐसा कहना उचित नहीं है कि 'यह वाक्य अज्ञानकृत अथवा रहस्य (गुप्त) पापके विषयमें ही है', क्योंकि जिसने जान-बूझकर सब प्रकारके जगत्प्रसिद्ध पाप किये थे उस अजामिलके पापोंकी नामकीर्तनद्वारा निवृत्ति होनेका वर्णन किया गया है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह वर्णन उपपातक आदिको ही विषय करनेवाला है; क्योंकि "इधर उधरसे वह न्याय अथवा अन्यायसे धन लाया करता था" इत्यादि वचनसे अजामिलमें महापातकोंकी भी गणना की जा चुकी है ।

तथा श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराणमें* जान-बूझकर प्रकट

---

* गोविन्देति समुच्चार्य पदं क्षपितकल्मषः ।
क्षत्रबन्धुर्विनष्टात्मा गोविन्दत्वमुपेयिवान् ॥

'वह विनष्टात्मा क्षत्रियाधम 'गोविन्द' इस पदका उच्चारण करके पापमुक्त हो भगवत्स्वरूप हो गया ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामकीर्तनमात्रात् परमपूतत्वप्रतिपादनान्नेयं व्यवस्था न्यायविदां हृदयमधिरोहति ।

मतान्तरव्यवस्था—श्रद्धाभक्तिमतः श्रवणकीर्तनादिष्वाधिकारः, तादितरस्य तु स्मार्ते कर्मणि

तस्मादन्यथा व्यवस्थाप्यते—तद्यथा; यस्य पुराणेषु मातृवचनेष्विव न कदाचिदिमान्यपथ्यमतथ्यं वाभिदधति; अपि तु पथ्यमेव तथ्यमेवेति दृढतरश्रद्धानुबद्धा, भगवति च भक्तजनमनःसरोजिनीजीवितेश्वरे नमदमरमण्डलमौलिमालामाणिक्यशलाकालिखितनिजविजयवर्णना-

---

महापाप करनेवाले क्षत्रियाधमका भी हरिनाम-कीर्तनमात्रसे परम पावन हो जाना वतलाया गया है; इसलिये [स्वल्प-महान् पापोंके भेदसे की हुई] यह व्यवस्था न्यायवेत्ताओंके मनपर नहीं अधिकार प्राप्त कर सकती ।

न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्था

अतः वे अन्य प्रकारसे व्यवस्था करते हैं, सो इस तरह है—माताके वचनोंकी भाँति पुराणोंके वचनोंमें भी जिसकी अत्यन्त सुदृढ़ श्रद्धा हो अर्थात् जो यह समझता हो कि ये पुराण कभी अपथ्य (हानिकर) अथवा मिथ्या नहीं कहते अपि तु सदा लाभदायक और सत्य ही प्रतिपादन करते हैं; तथा जो भक्तोंके हृदयकमलके जीवितेश (सूर्य) हैं, जिनकी चरण-पादुका, प्रणाम करते हुए देव-वृन्दके मुकुटोंमें जटित माणिक्यकी लेखनीसे अङ्कित अपनी विजयवर्णनमयी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्णश्रेणीसनाथपादपीठे पुरभिदि मुरभिदि वा भक्तिभरगरिमगर्भिणी स्तम्भस्वेदरोमोद्गमादिसात्त्विकभावसहचरी चित्तवृत्तिः, सापि न गतानुगतिकत्वेन, अपि तु तदीयमहिममहार्णवावगाहनेन; तस्य पौराणानां श्रवणकीर्तनादीनामन्यतमं गुरुलघुविशेषानादरेण सर्वेषामेव निरङ्कुशमंहसां परमं प्रक्षालनम्, इतरस्य पुनः प्रतिपदोक्तं स्मार्तमिति ।

श्रद्धावतोऽधिकारे प्रमाणदर्शनम् ।

तत्र श्रद्धावतोऽधिकारे नारदीयवचनं प्रमाणम्—

वर्णमालाओंसे सुशोभित हो रही है उन भगवान् शङ्कर अथवा विष्णुमें जिस भक्तकी चित्तवृत्ति—अनुकरणशीलताके कारण नहीं, अपितु भगवान्की महिमारूपी महासागरमें निमग्न होनेके कारण—भक्ति-भारके गौरवसे भरी हो और स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंसे युक्त रहती हो उसीके लिये पुराण-प्रतिपादित श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमेंसे कोई एक भी साधन बड़े-छोटे भेदकी अपेक्षा न करके उसके सभी पापोंका स्वतन्त्रतापूर्वक भली-भाँति शोधन करनेवाला हो सकता है; इससे भिन्न श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुषके लिये प्रतिपदोक्त (भिन्न-भिन्न पापोंके लिये स्पष्टतया बतलाये हुए) स्मार्त प्रायश्चित्त कर्तव्य हैं ।

[श्रद्धावान् और भक्तिमान्मेंसे] श्रद्धावान्का कीर्तन आदिमें अधिकार होनेके विषयमें यह नारदीय वचन प्रमाण है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती ।

इति, श्रीमद्भागवते च—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धश्च यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

इति,

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

इति च पुराणेषु श्रद्धावतां भक्तियोगाधिकारं दर्शयति; निवर्तयति तु कर्माधिकारम् । श्रीमद्भगवद्गीतासु—

"जिसको जितना विश्वास (श्रद्धा) है उसे उतनी ही सिद्धि प्राप्त होती है।"

तथा श्रीमद्भागवतमें भी—

"जो पुरुष मेरी कथा आदिमें स्वेच्छासे ही (स्वभावतः) श्रद्धा रखता है तथा जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त, उसको भक्तियोग ही सिद्धिदायक होता है।"

यह वचन तथा—

"जबतक कर्मोंसे वैराग्य न हो अथवा जबतक मेरी कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न न हो तबतक ही कर्म करे।"

यह वचन भी श्रद्धावानोंका पौराणिक भक्तियोग (श्रवण-कीर्तनादि) में अधिकार दिखलाते हैं और उनके लिये कर्माधिकारकी निवृत्ति करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

इति श्रद्धाहीनस्य सर्वत्रानधिकारं दर्शयति । शिवधर्मोत्तरेऽपि—

विधिवाक्यमिदं शैवं नार्थवादः शिवात्मकः ।
लोकानुग्रहकर्ता यः स मृषार्थं कथं वदेत् ॥

इति गुणवादनिराकरणेन शिवशासनेषु श्रद्धामुत्पादयन् श्रद्धावतोऽधिकारं दर्शयति । श्रुतिरपि कर्मकाण्डे ज्ञानकाण्डे च श्रद्धावत एवाधिकारं दर्शयति, तत्र कर्मकाण्डे "श्रद्धयाग्निः

"परमात्म-तत्त्वको न जाननेवाला, अश्रद्धालु और संशयात्मा प्राणी नष्ट (परमार्थसे भ्रष्ट) हो जाता है, सन्दिग्ध चित्तवाले पुरुषके लिये तो न यह मनुष्य-लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।"

यह वचन श्रद्धाहीन पुरुषका सर्वत्र अनधिकार दिखलाता है । शिवधर्मोत्तरमें भी—

"यह शिवसम्बन्धी विधिवाक्य है, अर्थवाद नहीं; यह परम कल्याणमय है । भला जो लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं वे भगवान् शिव असत्य कैसे कह सकते हैं ?"—

यह वचन अर्थवादका निराकरण करके शिवकी आज्ञाओंमें श्रद्धाकी उत्पत्ति कराता हुआ श्रद्धावान्का अधिकार प्रदर्शित करता है । श्रुति भी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें श्रद्धावान्का ही अधिकार दिखलाती है; उनमेंसे कर्मकाण्डमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समिद्धयते श्रद्धया हूयते हविः" इत्यादिका। ज्ञानकाण्डे "श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादिका । तस्मात्सर्वत्र श्रद्धावत एवाधिकारः ।

सा च पुरुषभेदेन विषयभेदेषु व्यवतिष्ठते, तस्माद् व्यवस्थितोऽधिकार इति । युक्तश्चैतत्, विधिपुरुषसम्बन्धो वा तद्धेतुर्वा व्युत्पत्तिभेदेनाधिकारशब्दार्थ इति न्यायविदां स्थितिः। तत्र श्रेयःसाधनलक्षणस्य विधेः स्वसाध्यभोग्यश्रेयोद्वारेण भोक्त्रा पुरुषेण सम्बन्धो विधिपुरुषसम्बन्धः, तद्धेतुर्जीवनकामनादिः ।

"श्रद्धयाग्निः समिद्धयते श्रद्धया हूयते हविः"[1] इत्यादि और ज्ञानकाण्डमें "श्रद्धावित्तो[2] भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इसलिये सर्वत्र श्रद्धावान्‌का ही अधिकार है।

वह श्रद्धा पुरुषभेदसे [उनकी रुचिके अनुकूल] भिन्न-भिन्न विषयोंमें व्यवस्थित रहती है, अतः पुरुषका अधिकार व्यवस्थित होता है। यह ठीक भी है, व्युत्पत्तिभेदसे[3] अधिकार शब्दका अर्थ विधि-पुरुषसम्बन्ध अथवा उसका हेतु है—यह न्यायवेत्ताओंकी स्थिति (सिद्धान्त) है। उनमें श्रेयःसाधनरूप विधिका उससे सिद्ध होनेवाले भोग्यरूप कल्याणके द्वारा भोक्ता पुरुषसे सम्बन्ध होना ही विधिपुरुषसम्बन्ध है और उस (सम्बन्ध) का हेतु

१—'श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित होती है, श्रद्धासे हविका हवन होता है।'

२—श्रद्धारूपी धनसे युक्त होकर अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करे।

३—'अधिकरणमधिकारः' इस व्युत्पत्तिसे विधिपुरुषका सम्बन्ध और 'अधिक्रियतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे विधिपुरुषसम्बन्धका हेतु ही अधिकार माना गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियोगवादिनस्तु नियोज्यनियोगयोर्बोद्धृबोद्धव्यलक्षणः सम्बन्धो विधि-पुरुषसम्बन्धः, स च कर्मण्यैश्वर्य्यमित्येवलक्षणादधिकारादन्य एवेति मन्यन्ते। स सर्वोऽपि न श्रद्धामन्तरेण सम्भवति, अनवगताप्तभावस्य पुंसो वाक्याद्विशिष्टप्रवर्त्तकविषयाद् वस्तुवृत्त्या विसंवादशून्यादपि ममेदमिष्टसाधनमिति वा ममेदं कार्यमिति वा प्रतिपत्तेः प्रवृत्तेश्चादर्शनात्।

ननु यस्य वेदस्तन्मूलं च स्मृतिपुराणादि सर्वं शास्त्रं प्रमाणमिति

जीवनकामना आदि है। नियोगवादी (प्रभाकर भट्ट) यह मानते हैं कि नियोज्य-नियोगका बोद्‌धृ-बोद्धव्यरूप सम्बन्ध ही विधि-पुरुषसम्बन्ध है और वह 'कर्ममें ईश्वरत्व है' ऐसा लक्षण होनेके कारण अधिकारसे भिन्न ही है। परन्तु वह सब भी श्रद्धाके विना सम्भव नहीं है; क्योंकि जिसके आप्तभाव (विश्वास-पात्रता) को नहीं जाना गया है उस पुरुषके इष्टसाधनत्व-प्रतिपादक वास्तविक विरोधशून्य वाक्यसे भी 'मेरा यह इष्टसाधन है' ऐसा ज्ञान किसीमें नहीं देखा जाता अथवा 'मेरा यह कर्तव्य है' यह समझकर उसमें [किसी भी पुरुषकी] प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

शङ्का—'वेद और वेदमूलक स्मृति-पुराण आदि सभी शास्त्र प्रमाणभूत हैं'—ऐसा माननेके कारण जिसकी बुद्धिकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

श्रद्धानिमित्तकव्यवस्थायामनुपपत्तिः

निर्णिक्तशङ्कापङ्कबुद्धिरस्ति स एव शास्त्रेऽधिक्रियते। तत्र यदि कथञ्चिदेकदेशेऽप्यश्रद्धा तत्कथमेकदेशान्तरेऽप्यधिकारः ? अपि च नैकदेशविषयिणी श्रद्धैव सम्भविनी। सा हि शास्त्रस्य प्रमाणान्तरसंवादनिबन्धना वा ? स्वतःप्रामाण्यनिबन्धना वा ? न तावदाद्यः, प्रमाणान्तरैर्दुरवगाहत्वादतिगहनस्य धर्मतत्त्वस्य। नापि द्वितीयः, स्वतःप्रामाण्यस्यैकदेशान्तरेऽप्यविशेषात्। तन्निबन्धना चेदभविष्यत् सर्वत्रापि श्रद्धा, न वा कुत्रचित्। तत् कथं तन्निबन्धना व्यवस्थेति ?

शङ्कारूप कीचड़ धुल गयी है उसीका शास्त्रमें अधिकार है। यदि उसे शास्त्रके एकदेश (पुराण आदि) में भी अश्रद्धा हो तो उसका एक देशान्तर (स्मृति आदि) में भी कैसे अधिकार हो सकता है ? इसके अतिरिक्त [शास्त्रके एक भागमें अश्रद्धा रहनेपर] दूसरे भागमें श्रद्धा हो नहीं सकती; क्योंकि [यह विचारणीय है कि] शास्त्रका अन्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाणोंसे अविरोध होनेपर उसमें श्रद्धा होती है अथवा उसे स्वतःप्रमाण मानकर ? इनमें प्रथम पक्ष तो मान्य है नहीं, क्योंकि धर्मका तत्त्व अत्यन्त गहन है; अतः उसमें शब्दप्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंका प्रवेश होना कठिन है, और न दूसरा पक्ष ही सम्भव है; क्योंकि जो स्वतःप्रमाण है [वह सम्पूर्ण एक-सा ही है] उसके एक भागमें भी कोई विशेषता नहीं है। यदि उसे स्वतःप्रमाण मानकर उसमें श्रद्धा होगी तो सम्पूर्ण भाग [अर्थात् पुराण और स्मृति—दोनों] में ही श्रद्धा हो सकती है; किसी एक ही देशमें नहीं होगी। ऐसी दशामें श्रद्धानिमित्तक व्यवस्था भी कैसे मानी जाय ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इदमसाम्प्रतम्, धर्मब्रह्मविषयशास्त्रयोः प्रामाण्यस्याविशिष्टत्वेऽपि श्रद्धाया व्यवस्थितत्वात्। यो ह्यकर्तारमात्मानमवगमयन्तीरुपनिषदोऽपि न श्रद्धत्ते स एव कर्मविधीनाद्रियते, अत एव हि तस्यैव तत्राधिकारो नेतरस्य। अन्यथा हि सर्वस्यापि सर्वत्राधिकारोऽभविष्यत्, न च तथास्ति। एवमिहापि वक्तृदोषविरहादेकतुलारूढेषु सर्वशास्त्रेषु समानगरिमसूत्सर्गसिद्धापि श्रद्धा कुत्रचित् कुतश्चित् प्रतिबन्धकाददृष्टादुदा-

अनुपपत्तिपरिहारः

समाधान—यह कथन अनुचित है; क्योंकि धर्म और ब्रह्मके प्रतिपादक शास्त्रोंमें प्रमाणता एक-सी ही होनेपर भी श्रद्धा व्यवस्थित हुआ करती है। जो कर्तृत्व-शून्य आत्मतत्त्वका बोध करानेवाली उपनिषदोंपर भी श्रद्धा नहीं करता वही यागादि कर्मविधियोंका आदर करता है, इसलिये उसीका वहाँ अधिकार है दूसरेका नहीं। यदि ऐसा न मानें तो सभीका सर्वत्र अधिकार होने लगेगा, और ऐसा होता नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी वक्ताके दोषसे रहित होनेके कारण एक तुलनापर आरूढ हुए समान गौरव रखनेवाले सम्पूर्ण शास्त्रोंमें जो स्वभावसिद्ध श्रद्धा है वह भी कहीं (एकदेशमें) किसी अदृष्ट प्रतिबन्धकसे और उदाहरणाभास दिखलायी देनेसे

---

१. 'ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः (गाँवमें यह एक ही अद्वितीय पुरुष है)' इस वाक्यसे जैसे अन्य पुरुषोंका अभाव सूचित न होकर उसके समान पुरुषका अभाव सूचित होता है उसी प्रकार 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे भी ब्रह्मव्यतिरिक्त प्रपञ्चका अभाव सूचित नहीं होता, बल्कि यही जाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हरणाभासदर्शनाच्चार्थान्तरपरत्वशङ्काकलङ्केन कुण्ठीक्रियते; तदुपपन्नं तन्निबन्धना व्यवस्थेति ।

भक्तिमतोऽधिकारे प्रमाणप्रदर्शनम्

भक्तेरप्यधिकारिविशेषणत्वं पुराणवचनैरेवावगम्यते । श्रीविष्णुपुराणे तावत्—

यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् ।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः ॥

इति । अत्र च भक्तिशब्देन भगवदालम्बनो रत्याख्यः स्थायी

अर्थान्तरपरत्व (अन्य अर्थ होने) की शङ्कारूप कलंकसे कुण्ठित हो जाती है, इसलिये उन (शास्त्रों) के स्वतःप्रामाण्यसे सिद्ध होनेवाली व्यवस्था ठीक ही है ।

भक्ति भी अधिकारीका विशेषण है—यह पुराणके वचनोंसे ही ज्ञात होता है । श्रीविष्णुपुराणमें यों कहा है—

"हे मैत्रेय ! जिस प्रकार अग्नि धातुओंको गला देती है उसी प्रकार भक्तिके साथ किया हुआ जिन भगवान्‌का नामकीर्तन सम्पूर्ण पापोंका लय करनेवाला है ।"*

यहाँ 'भक्ति' शब्दसे भगवान् जिसके आलम्बन विभाव हैं ऐसे रति (अनन्य प्रीति) नामक स्थायी भावका कथन होता है,

---

जाता है कि ब्रह्मके समान कोई दूसरा नहीं है—इस प्रकारके उदाहरणाभासोंसे बुद्धि संशयग्रस्त हो जाती है ।

* इससे भगवद्भक्तके सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्तिका कारण भगवन्नाम-कीर्तन है और इतर मनुष्योंके पापक्षयका हेतु मन्वादिकथित द्वादशाब्दिकादि प्रायश्चित्त है—इस प्रकार व्यवस्था सिद्ध हुई ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ते रत्याख्य-स्थायिभावपरत्वम्

भावोऽभिधीयते, न भजनमात्रम्, तस्य कीर्तन-शब्देनोपायेषूपात्तत्वात्। प्रह्लादचरिते चायमर्थः स्फुटतरमवगम्यते—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—इति श्लोकद्वयस्यैकवाक्यत्वात्।

नन्वन्यैव भक्तिरन्यैव च प्रीतिः, निर्देशभेदादेव; अन्यथा हि

केवल भजनका ही नहीं; क्योंकि उस (भजन) का कीर्तन शब्दसे उपायोंमें ग्रहण हुआ है। प्रह्लादचरितमें यह अर्थ अत्यन्त स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है; क्योंकि वहाँ—

"हे नाथ! हे अच्युत! हजारों योनियोंमेंसे मैं जिन-जिनमें जाऊँ उन-उनमें रहते हुए मेरी सदा ही आपमें अविचल भक्ति बनी रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जो अटल प्रीति होती है वही प्रीति आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे अलग न हो।"

इस प्रकार इन दो श्लोकोंकी एकवाक्यता है।

शङ्का—किन्तु भक्ति अन्य ही वस्तु है और प्रीति भी अन्य ही है—यह बात पृथक्-पृथक् निर्देशसे ही सिद्ध है; अन्यथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तेः प्रीतिपरत्व-विरोधः

पौनरुक्त्यं प्रसज्ज्येत, अन्यच्च नेह प्रीतिः प्रार्थ्यते, अपि तु 'हे माप लक्ष्मीपते ! अविवेकिनां विषयेषु या प्रीतिः सा त्वामनुस्मरतो मे हृदयात्सर्पतु गच्छतात्' इति रागनिवृत्तिः प्रार्थ्यते । तत् कथमेकवाक्यत्वमिति ?

विरोधपरिहारः

असुभगमेतत्, यदि भक्तेरन्या प्रीतिः प्रार्थ्यते विरक्तिर्वा, तर्हि तस्या अपि भगवद्वाक्ये भक्तेरिवानुभाषणेन ग्रहणेन च भवितव्यम्, "भक्तिर्मयि तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति" इतिवत् "मयि प्रीतिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्य-

---

यहाँ पुनरुक्तिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा । [इसके अतिरिक्त] दूसरी बात यह है कि यहाँ (द्वितीय श्लोकमें) प्रीतिकी याचना नहीं की जा रही है, अपि तु 'हे माप—लक्ष्मीपते ! अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जो प्रीति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे निकल जाय—अन्यत्र चली जाय' इस प्रकार राग-निवृत्तिकी प्रार्थना की जा रही है। इसलिये इन दोनों श्लोकोंमें एकवाक्यता कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कथन अच्छा नहीं है; क्योंकि यदि भक्तिसे भिन्न प्रीति अथवा विरक्तिकी प्रार्थना की जाती तो जिस प्रकार भगवान्के "भक्ति तो तुम्हारी मुझमें है ही तथा और भी होगी" इस अगले वाक्यमें* भक्तिका अनुवाद और ग्रहण हुआ है उसी प्रकार "तुम्हारी प्रीति तो मुझमें है ही फिर भी होगी"

---

* वह वाक्य इस प्रकार है—

मयि भक्तिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति ।
वरस्तु मत्तः प्रह्लाद व्रियतां यस्तवेप्सितः ॥ (१।२०।२०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ति" इति, "विषयेषु विरक्तिस्तु तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति" इति च तथा, न चैवमभवत्। तस्मात्पूर्वश्लोकोद्दिष्टाया भक्तेः स्वरूपवर्णनमुत्तरश्लोकेन क्रियत इति व्याख्येयम्, तद्यथा—अनुस्मरत इति षष्ठी पञ्चमी वा पुरुषस्य हृदयस्य च विशेषणम्, प्रीतिशब्देन च सुखं वा तदभिव्यञ्जिका वा बुद्धिवृत्तिर्गृह्यते, तत्र सुखपक्षे तस्य सर्वत्रैकरूपत्वात्तदुपरागस्यैव भेदाद्विषयेष्वनुभूयमानेषु या प्रीतिर्यत्सुखमभिव्यज्यते सा त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्मापसर्पतु नापयातु त्वदनुस्मरणेनैव तत्सुखमभिव्यज्यतामिति सुखाभिव्यञ्जकं भगवदनुस्मरणं प्रार्थितं

"विषयोंमें विरक्ति तो तुम्हें है ही पुनः होगी"—इस रूपमें प्रीति या विरक्तिका भी अनुवाद और ग्रहण होने चाहिये, परन्तु ऐसा हुआ नहीं; इसलिये पूर्व श्लोकमें कही हुई भक्तिका उत्तर श्लोकके द्वारा स्वरूप वर्णन किया जाता है—ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये। उसका प्रकार यह है—'अनुस्मरतः' इस शब्दमें षष्ठी अथवा पञ्चमी विभक्ति है और वह पुरुष अथवा हृदयकी विशेषणभूत है। प्रीति शब्दसे सुख अथवा उसको अभिव्यक्त करनेवाली बुद्धिवृत्तिका ग्रहण है। उनमेंसे सुखपक्षमें सुखका स्वरूप सर्वत्र एक ही है केवल उसकी उपाधिमें ही भेद है; इसलिये अनुभव किये जानेवाले विषयोंमें जिस प्रीति—जिस सुखकी अभिव्यक्ति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे न जाय—अलग न हो, आपके स्मरणसे ही उस सुखकी अभिव्यक्ति हो—इस प्रकार सुखको अभिव्यक्त करनेवाले भगवत्स्मरणकी याचना की जाती है। बुद्धि-वृत्तिपक्षमें भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवति । वृत्तिपक्षेऽपि तथैव; तत्रापि तत्स्वरूपसमानयोगक्षेमस्यापि तद्भेदस्य विषयावच्छेदमन्तरेणानवगमादवच्छेदकविषयान् बहिर्भाव्य प्रीतेरेवोपादानेऽविवेकिनां विषयेषु सुखसाधनेषु या प्रीतिः सा त्वामनुस्मरतो मम हृदयान्नापयातु विषयानुल्लङ्घ्य त्वामेव निरतिशयसुखात्मानमालम्बतामिति यत्तच्छब्दयोः सामानाधिकरण्यं स्फुटमेव। ततश्च पक्षद्वयेऽपि श्रीमन्मुरमथनचरणारविन्दमकरन्दमन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनसः कोऽपि समुल्लासः स्वानन्दमाविर्भावयन् भक्तिरित्यभिहितं भवति, सा च रतिरेवेति ।

इसी प्रकार भगवत्स्मरण प्रार्थित होता है, वहाँ भी [जन्य होनेके कारण] बुद्धिके स्वरूपके समान ही जो योगक्षेम है उसका और बुद्धिवृत्तिके भेदका ज्ञान विषयरूप अवच्छेद (आश्रय) के विना हो नहीं सकता, इसलिये प्रीतिके अवच्छेदक (विशेषणभूत) विषयोंको अलग करके केवल प्रीतिका ही ग्रहण करनेपर अविवेकियोंकी विषयोंमें—सुखके साधनोंमें जो प्रीति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे दूर न हो अर्थात् विषयोंका उल्लङ्घन करके निरतिशय सुखरूप आप परमात्माका ही आश्रय ले—इस प्रकार यत् और तत् शब्दोंकी समानाधिकरणता स्पष्ट ही है। अतः दोनों ही पक्षोंमें श्रीभगवान् मुरारिके चरणारविन्दोंकी मकरन्दमयी मन्दाकिनी (गङ्गा) में स्नान करनेवाले मनका कोई अनिर्वचनीय उल्लास ही अपने आनन्दको प्रकट करता हुआ 'भक्ति' कहलाता है, और वह भक्ति रति (प्रीतिरूपा) ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रतिरेव भक्तिरित्यत्र प्रमाणम्, भक्तेर्गरीयस्त्वं च

श्रीमद्भागवते च—रतिरेव भक्तिरित्यवगम्यते—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

इत्यत्र। तस्य ह्ययमर्थः—'गुणलिङ्गानां गुणमयशरीराणामानुश्रविकं श्रुतिपुराणादिगम्यं कर्म चरितं येषां ते तथोक्ताः, तेषां देवानां मध्ये सत्त्व एव शुद्धसत्त्वमयमङ्गलमूर्तौ सरस्वतीतीरवासिभृगुमुख्यमुनिजनसिद्धान्तप्रसिद्धमहिमनि श्रीवत्सलाञ्छन एक-

---

श्रीमद्भागवतमें भी—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

इस वचनसे 'रति ही भक्ति है' यह ज्ञात होता है। इसका अर्थ यह है—'जो गुणलिङ्ग हैं—अर्थात् जिनके शरीर गुणमय हैं और जिनके कर्म—चरित्र आनुश्रविक अर्थात् श्रुतिपुराणादिसे जाननेयोग्य हैं उन देवताओंमेंसे सत्त्वमें ही अर्थात् शुद्ध सत्त्वमय—मङ्गलमूर्ति भगवान्में ही—जो सरस्वतीतीरनिवासी भृगु-आदि मुनियोंके निर्णयानुसार विख्यात महिमावाले हैं* तथा जिनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न सुशोभित है उन विष्णुमें

---

* एक बार यज्ञ करनेकी इच्छासे सरस्वतीके तटपर निवास करनेवाले भृगु आदि महर्षियोंने विचार किया कि ब्रह्मा आदि तीनों देवताओंमें जो सबसे प्रधान हो उसीका यजन किया जाय। इस निश्चयके लिये भृगुजी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनसः पुरुषस्य एकाग्रस्य वा मनसो या वृत्तिरनिमित्ता फलाभिसंधिशून्या स्वरसत एव विषयसौन्दर्यादयत्नेनैव जायमाना न बलादापाद्यमाना सा भागवती भक्तिः; सा च सिद्धेर्ज्ञानाद् गरीयसी' इति। गरीयस्त्वमेव विवृणोति—

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

ही एकचित्त हुए पुरुषकी अथवा एकाग्र हृदयकी जो कारणरहित यानी फलकामनासे शून्य, [अनन्य प्रीतिरूपा] वृत्ति है, सो भी बलात्कारसे स्थापित की हुई नहीं, अपितु, स्वभावसे ही अर्थात् [भगवद्विग्रहरूप] विषयमें अत्यन्त सौन्दर्य होनेके कारण बिना यत्नके ही उत्पन्न हुई है वही भगवान्‌की भक्ति है और वह सिद्धि अर्थात् ज्ञानसे श्रेष्ठ है।' [इसके अगले वाक्यमें] भक्तिकी श्रेष्ठताको ही व्यक्त करते हैं—

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

भेजे गये। वे सर्वप्रथम ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ ब्रह्माजीको प्रणामादि किये बिना ही बैठ गये। इससे ब्रह्माजी बहुत कुपित हुए, तब वे वहाँसे हटकर कैलास पर्वतपर गये तथा शिवजीके समक्ष भी अविनीत-सा व्यवहार किया। शिवजीने भी उन्हें दण्ड देनेको त्रिशूल उठाया, तब वे भागकर विष्णुलोकमें जा पहुँचे और वहाँ भगवान् विष्णुके शयनागारमें जाकर उनकी छातीमें लात मारी। इतनेपर भी भगवान् विष्णु कुपित नहीं हुए, अपितु, उनके पद-चिह्नको अपने वक्षःस्थलका भूषण माना। अतः शुद्ध सत्त्वमय होनेके कारण वे ही सर्वप्रधान माने गये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। यथा निगीर्णमन्नपानादि जाठरो जातवेदा जरयति तथा या कोशमन्नमयादि पञ्चप्रकारमाशु नाशयति, अनुभवशिरस्कत्वात्; न ज्ञानमिव तत्त्वयुक्तिभिः क्रमेणैकैकमपोहति, ततश्च तरया गरीयस्त्वे कतमः सन्देह इति; मुक्तेर्गरीयसीति वा व्याख्येयम्,

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसायुज्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

'जिस प्रकार भक्षण किये हुए अन्न-पान आदिको जठरानल जीर्ण कर देता है उसी प्रकार जो अनुभव-प्रधान होनेके कारण अन्नमयादि* पाँच प्रकारके कोशोंको शीघ्र नष्ट कर देती है, ज्ञानकी भाँति तत्त्व-युक्तियोंसे क्रमशः एक-एक कोशका बाध नहीं करती; उस भक्तिकी अत्यन्त गुरुतामें कौन-सा सन्देह हो सकता है ? अथवा [उपर्युक्त कारणसे] वह मुक्तिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है'—इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि इस विषयमें—

"मेरे भक्त मेरी सेवाके अतिरिक्त सालोक्य[1], सार्ष्टि (सारूप्य[2]), सामीप्य[3], सायुज्य[4] अथवा अभेदमुक्ति दी जानेपर भी उसे ग्रहण नहीं करते ।"

---

* अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये ही पाँच कोश हैं।

१–सर्वोत्तम वैकुण्ठधाममें वास। २—चार भुजाएँ आदि भगवत्सम्बन्धी अंगोंके सदृश अंगोंसे युक्त होना। ३–गरुड आदिके समान भगवान्‌के समीप वैकुण्ठ-धाममें रहना। ४–भगवान्‌में लीन होकर एक हो जाना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

इत्यादिदर्शनात्। "जरयत्याशु या कोशम्" इति तु स्वयमेव भक्तिरन्विष्यमाणा मुक्तिं बलादविलम्बेनापादयतीति दर्शयति। एवंलक्षणश्च मनसः परिणामः कथं नु रतेरन्यः स्यात्।

देवानां गुणलिङ्गानामित्यादेर्व्याख्यान्तरम्

अन्या व्याख्या—एकमनसः पुंसो देवानां या वृत्तिः सा भक्तिरित्यन्वयः, तत्र देवशब्दस्य नानार्थत्वादिन्द्रियग्रहणार्थमुपपदं गुणलिङ्गानामिति, शब्दादिग्रहकारणानामित्यर्थः; अनेनैव कर्मेन्द्रियाणामपि ग्रहणम्, छत्रि-

—इत्यादि प्रमाण देखे जाते हैं। "जरयत्याशु या कोशम्०" यह वचन तो यह दिखलाता है कि 'खोज की जानेपर भक्ति स्वयं ही बलपूर्वक शीघ्रतासे मुक्ति दे देती है।' इस प्रकारका जो मनका परिणाम है वह रतिसे भिन्न कैसे हो सकता है ?

['देवानां गुणलिङ्गानाम्' आदि श्लोकको] दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—एकचित्त पुरुषके देवताओं (इन्द्रियों) की जो वृत्ति है वही भक्ति है—ऐसा अन्वय है। 'देव' शब्दके अनेकों अर्थ होते हैं इसलिये इन्द्रियरूप अर्थ ग्रहण करनेके निमित्त 'गुणलिङ्गानाम्' यह पद समीपमें रखा है, इसका अर्थ है 'शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले'। छत्रिन्याय*के अनुसार 'गुणलिङ्गानाम्' इस पदसे ही कर्मेन्द्रियोंका भी ग्रहण

* जिस प्रकार 'छत्रिणो यान्ति (छत्तेवाले जा रहे हैं)' इस कथनसे एक समुदायके अन्दर यदि कुछ लोग बिना छत्तेके हों तो वे भी छत्तेवालोंके साथ 'छत्री' पदसे गृहीत होते हैं उसी प्रकार यद्यपि गुणलिङ्ग शब्द शब्दादि गुणोंको ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंका ही विशेषण है तथापि उक्त न्यायसे ही यहाँ इन्द्रियसमुदायमें कर्मेन्द्रियोंका भी ग्रहण होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्यायेन, कर्मशब्देनैव बुद्धेरपि, अन्यथा विशेषणविशेष्ययोरनन्वयप्रसङ्गात्। कर्म कर्तव्यम्, तच्च द्विविधम्—दृष्टमानुश्रविकञ्च, तत्र प्रत्यक्षादिभिः कर्तव्यत्वेनावगतं दृष्टम्, यस्य तु शास्त्रादवगम्यते कर्तव्यत्वं तदानुश्रविकम्। तत्र रागादिनिबन्धनप्रवृत्तिवारणार्थं विशेषणमानुश्रविककर्मणामिति, आनुश्रविकेऽपि काम्ये रागादिनिबन्धनत्वात्प्रवृत्तेस्तन्निवृत्तये विशेषणमनिमित्तेति, अनिमित्तापि कदाचिदन्यदेवतालम्बिनी वृत्तिः स्यान्न च सा भागवती भक्तिरत आह—

होता है और ['आनुश्रविककर्मणाम्' के] कर्म शब्दसे ही बुद्धिका भी ग्रहण है; अन्यथा विशेषण और विशेष्यमें यहाँ अन्वय ही नहीं बन सकता [क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंमें कर्मका अभाव है]। 'कर्म' कहते हैं कर्तव्यको, उसके दो भेद हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। उनमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा कर्तव्यरूपसे ज्ञात होनेवाला कर्म दृष्ट है तथा जिसकी कर्तव्यता शास्त्रसे ही जानी जाती है वह कर्म आनुश्रविक है। वहाँ रागादिसे होनेवाली प्रवृत्तिका वारण करनेके लिये 'आनुश्रविककर्मणाम्' यह विशेषण दिया गया है और आनुश्रविक होनेपर भी काम्य कर्ममें रागादिसे युक्त प्रवृत्ति होती है; अतः उसकी निवृत्ति करनेके लिये 'अनिमित्ता' यह विशेषण दिया गया है। निमित्त (कामना) रहित होनेपर भी कदाचित् अन्य देवताका अवलम्बन करनेवाली वृत्ति हो तो वह भगवान्‌की भक्ति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—सत्त्व एव [अर्थात् सत्त्वमूर्ति भगवान् विष्णुमें ही हो तभी वह भागवती भक्ति है]। शेष सब बातें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्त्व एवेति। शेषं पूर्ववत्। अनेनैव क्रमेण श्रीमदच्युते चित्तावतारस्य विवक्षितत्वान्न प्रातिलोम्येन विशेषणानर्थक्यं शङ्कनीयम्।

प्रमाणवाक्यनिष्कर्षः

अयमत्र निष्कर्षः—रागादिदोषनिबन्धनाभ्यः प्रवृत्तिभ्यः परावृत्तानां श्रुतिपुराणवैष्णवागमविहितश्रवणादिकर्मप्रवणानामिन्द्रियाणां किञ्चिदपि फलमनभिसन्दधानानां सकलभुवनसौभाग्यसारसर्वस्वमूर्तौ मुरमर्दने परिचयप्रचयादनपेक्षितविधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरव्यवच्छिद्यमाना वृत्तिर्भागवती वृत्तिर्भक्तिरिति।

पूर्व व्याख्याके अनुसार समझनी चाहिये। इसी क्रमसे श्रीभगवान् अच्युतमें चित्तका अवतरण (परायण होना) विवक्षित है, अतः विपरीत-भावसे [अर्थात् 'देवानाम्' इस विशेष्यके अन्तमें] 'गुणलिङ्गानाम्' इत्यादि विशेषणोंका प्रयोग करना निरर्थक है—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

यहाँ सारांश यह है—जो रागादिदोषके कारण होनेवाली प्रवृत्तियोंसे पराङ्मुख हो चुकी हैं, श्रुति, पुराण और वैष्णवशास्त्रोंमें विहित श्रवणादि कर्मोंमें लगी हुई हैं और किसी भी फलकी कामना नहीं करतीं उन इन्द्रियोंकी समस्त लोकोंके सौभाग्य-सार एवं सर्वस्वरूप भगवान् मुरारि (विष्णु) में अधिक परिचयके कारण विधिकी अपेक्षा न रखनेवाली; स्वभावतः उल्लसित होती हुई तथा अन्य विषयोंसे [आकृष्ट होकर] कभी विलग न होनेवाली जो वृत्ति है वही भगवत्-सम्बन्धिनी वृत्ति एवं भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावरूपाया मनोवृत्तेरेव मुख्यतया भक्तिशब्दार्थत्वम्

तत्र बहिरिन्द्रियाणां श्रवणादिव्यतिरेकेण वृत्त्यभावात्, श्रवणादीनां चान्योन्यं भिन्नजातीयत्वान्मनोवृत्तेस्तु भावलक्षणायाः सर्वत्रैकरूपत्वान्मनोवृत्तिरेव मुख्यो भक्तिशब्दार्थः, श्रवणादिषु तु तदनुविधानादेव भक्तिशब्द इति ।

> भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
> स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो हि भिद्यते ॥

इत्यनेनापि भक्तिभावयोरभेद एवावगम्यते; अन्यथा हि भक्तेर्वैविध्यं प्रतिज्ञायौत्पत्तिकसत्त्वादिगुणभेदेन भावभेदप्रतिपादनायोगात् । श्रीनरसिंहपुराणेऽपीक्ष्वाकुचरिते—

वहाँ बाह्य इन्द्रियोंकी श्रवण आदिके अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं है और श्रवण आदि परस्पर भिन्न-भिन्न जातिके हैं, परन्तु भावरूपा मनोवृत्ति सब इन्द्रियोंमें एक समान है, इसलिये मनोवृत्ति ही मुख्यरूपसे भक्ति शब्दका अर्थ है । श्रवण आदिकी वृत्तियोंमें तो उसीका अनुकरण होनेसे भक्ति शब्द प्रयुक्त होता है।

"हे भामिनि ! भक्तियोग अनेकों मार्गोंद्वारा अनेकों प्रकारका माना जाता है; क्योंकि स्वभाव, गुण और मार्गसे प्राणियोंके भाव भिन्न-भिन्न होते हैं ।"

इस वचनसे भी भक्ति और भावका अभेद ही ज्ञात होता है; अन्यथा 'भक्ति नाना प्रकारकी है' ऐसी प्रतिज्ञा करके उत्पत्तिकालिक सत्त्वादि गुणोंके भेदसे भावका भेद बतलाना असङ्गत होगा । श्रीनरसिंहपुराणमें भी इक्ष्वाकुके चरित्रमें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानरतिं नृपः ।
पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशि ॥

इत्यादिना प्रेमातिशयस्यैव भक्तित्वं दर्शितम् । श्रीस्कन्दपुराणेऽपि–

बीभत्सिते दुर्विषये कदाचि-
द्यो वापि रागो भविता जनस्य ।
स चेद् भविष्यत्यपि नाम रुद्रे
को नाम मुक्तो न भवेद्भवाब्धेः ॥

इत्येतदेव दर्शितं भक्तिप्रक्रमात् । श्रीलिङ्गादिषु च—'स्वर-

"राजा इक्ष्वाकु [भगवान् कृष्णमें अत्यन्त भक्ति होनेके कारण] कृष्णके समान वर्णवाले मेघमें, उनके समान नामवाले कृष्णसार मृगमें और उन्हींके सदृश दीखनेवाले नील कमलमें भी पक्षपातके कारण बहुत आदर और प्रेमभाव रखने लगे।"

इत्यादि वाक्यद्वारा प्रेमकी अधिकताको ही 'भक्ति' बताया है। श्रीस्कन्दपुराणमें भी—

"प्राणियोंका इन बीभत्स घृणास्पद विषयोंमें भी कभी जो राग होता है वही यदि भगवान् शङ्करमें हो जाय तो भला कौन भवसागरसे मुक्त न होगा ?"

इस प्रकार भक्तिका प्रसंग आरम्भ करके यही बात दिखलायी है। और श्रीलिङ्गादिपुराणोंमें भी—'स्वरनेत्राङ्गविक्रिया'*

---

* स्वरविकार (गद्गदवाणी), नेत्रविकार (अश्रु) और अङ्गविकार (रोमाञ्च) है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेत्राङ्गविक्रिया' इत्यत्रानुभावानामनुक्रान्तत्वात्तेषां च भावाङ्गभावादङ्गीभाव एव भक्तिरिति गम्यते ।

भक्ते रसरूपत्वम्

स चायमाद्यो भावो वृत्त्यन्तरैरन्तरा निविशमानैरप्यनेकजन्मवासनावासिते चेतसि न व्यवच्छिद्यमानो विभावादिभी रसरूपतामापाद्यमानो निजस्वसंविदा निर्भरमालिङ्गितः स्वयमेवानन्दसंविदभिधानमुपचारासहं दधानो भक्तिरित्यभिधीयते ।

इस वाक्यमें [भक्तिरसके] अनुभावोंकी गणना की गयी है तथा अनुभाव भावके ही अङ्ग होते हैं; अतः यही ज्ञात होता है कि अनुभावोंका अंगी (प्रधान अवयवी) भाव (प्रीति) ही 'भक्ति' है ।

अनुभावोंकी अपेक्षा प्रधानभूत यह [अनन्य प्रीतिरूप] भाव जिस समय अनेक जन्मोंकी वासनासे वासित अन्तःकरणके भीतर प्रवेश करनेवाली अन्य (विषयोन्मुख) वृत्तियोंसे व्यवधान (अन्तर) को न प्राप्त होकर विभाव, अनुभाव और सात्त्विक एवं सञ्चारी भावोंके द्वारा रसरूपमें परिणत हो सुख-बुद्धिसे भलीभाँति अनुभूत होता है उस समय यह आप-ही-आप 'आनन्द-संवित्' इस यथार्थ नामको धारण करके 'भक्ति' कहलाने लगता है *।

---

* यहाँ रसानुभवका प्रकार बतलाया गया है—शृङ्गार, वीर आदि प्रत्येक रसका एक स्थायी भाव होता है, जैसे शृङ्गारका स्थायी भाव रति और वीरका उत्साह है। यह स्थायी भाव ही अत्यन्त अनुभवका विषय होनेपर 'रस' नाम धारण करता है। स्थायी भावकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव तथा सात्त्विक एवं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिरसस्यालम्बनविभावः

तस्य चालम्बनविभावोऽवज्ञाकृष्टकुसुमायुधसौन्दर्यसर्वस्वः कमलाकुचतटीपत्रभृङ्गो भगवाननन्तो वा मनागवलोकनखर्वीकृतमदन-

---

जिन्होंने कामदेवके सर्वस्वभूत सौन्दर्यको अवहेलनापूर्वक आकृष्ट कर लिया है [अर्थात् जिनके सौन्दर्यके सामने कामदेवकी कान्ति फीकी पड़ जाती है] वे लक्ष्मीजीके वक्षःस्थलपर वनायी हुई पत्रभङ्गीके भ्रमररूप भगवान् अनन्त (विष्णु) अथवा तनिक दृष्टि फेरते ही मदनके अभिमानको चूर्ण कर देनेवाले एवं चारु चन्द्रमाका मुकुट पहननेवाले

सञ्चारी भावोंसे होती है। विभावके दो भेद हैं, आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन नायक आदि हैं; क्योंकि उन्हींका आलम्बन करके रसका उद्गम होता है। रसको उद्दीप्त करनेवाले देश-काल और अन्य साधन उद्दीपन कहलाते हैं। मनके भावको व्यक्त करनेवाली आलम्बनकी चेष्टाओंको अनुभाव कहते हैं। इन सबका प्रभाव पड़नेसे सहृदय मनुष्यमें होनेवाले स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग और कम्प आदि विकार सात्त्विक भाव हैं और निर्वेद, चिन्ता, हर्ष, आवेग आदि सञ्चारी भाव हैं। सात्त्विक भावोंकी अनुभावोंमें भी गणना होती है। भक्तिरसका स्थायी भाव रति (परा प्रीति) है। आलम्बनविभाव भगवान् लक्ष्मीपति तथा श्रीमहादेवजी आदि हैं, उनके दिव्य धाम, आभूषण, सौन्दर्य और जन्माष्टमी-शिवरात्रि आदि पर्व उद्दीपनविभाव हैं। भगवान्के मन्द-मन्द हास्य और करुणा तथा स्नेहसे पूर्ण चितवन आदि ही अनुभाव हैं। इनका प्रभाव पड़नेसे भक्त पुरुषमें होनेवाले आँसू, रोमाञ्च, स्वर-भङ्ग आदि विकार सात्त्विक भाव हैं और अत्यन्त हर्ष तथा आवेग आदि सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा व्यक्त हुआ रति (परा प्रीति) रूप स्थायी भाव ही भक्तिरस कहलाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गर्वो मुग्धमृगलाञ्छनशेखरः शङ्करो वा, तावपि श्रुतिपुराणवाक्यैः कर्णाभ्यर्णमवतीर्णौ वा, अभिनयैरभिनेयप्रतिभानमार्गमनुसरन्तौ वा; 'मज्जन्मकर्माभिनयः' इत्येतदर्थमेवाभिनयनस्य विहितत्वात् ।

उद्दीपनविभावाः

उद्दीपनविभावास्तु विलसदमलमरकतमणिमरीचिमञ्जरीपिञ्जरालिभ्रान्तिभूमयो निर्यन्मकरन्दबिन्दुजालजम्बालितगगनाङ्गनाः परिमलतर्पितपवनातिथयस्तरुणतुलसीवनवीथयः, मुरमथनरथाङ्गलाञ्छनच्छटापरिष्वङ्गसुव्यङ्ग्यसौभाग्यश्रेणिश्रीमद्गोपीचन्दनविदलानि, प्रसि-

---

भगवान् शङ्कर ही उस भक्तिरसके आलम्बन विभाव हैं। ये दोनों भी श्रुति और पुराणोंके वचनोंद्वारा कानोंके विषय होकर अथवा अभिनय (नाटक आदि) के द्वारा दिखायी जानेवाली ईश्वरीय लीलाओंकी स्फुरणाके विषय होकर भक्तिरसके आलम्बन होते हैं; क्योंकि 'मज्जन्मकर्माभिनयः (मेरे अवतारोंमें किये हुए चरित्रोंका अभिनय आदि मेरी भक्तिके साधन हैं)' इत्यादि वचनोंके अनुसार भक्तिके ही लिये अभिनयका विधान किया गया है।

इसी प्रकार जो परम सुहावनी निर्मल मरकतमणिके किरणजालके समान काले-काले भ्रमरोंके भ्रमणका स्थान हो रही हैं, जिन्होंने तुलसीसे निकलते हुए मकरन्दकी बूँदोंसे आकाशरूपी प्राङ्गणको चितकबरा बना दिया है और जो अपनी मनोहर गन्धसे वायुरूपी अतिथिको तृप्त कर रही हैं वे नूतन तुलसीवनकी वीथियाँ (गलियाँ), तथा भगवान् विष्णुके सुदर्शनचक्रके चिह्नोंकी शोभा धारण करनेसे जिनका सौभाग्यसमूह भलीभाँति व्यक्त हो रहा है ऐसे गोपी-चन्दनोंके खण्ड और जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्धसकलाभरणसौन्दर्यसर्वस्ववञ्चनचणा नयनाह्लादिन्यो नलिनाक्ष-मालाश्च, हरनयनदहनदग्धसहचरस्मरविरहशुष्कावशिष्टकतिपय-कलस्य कलावतः कलाभरचूर्णचय इव धवलिम्ना बहिरन्तस्तमसां तिरोदधानं मनोमुकुरमण्डलीमुज्ज्वलां विदधद्भासुरं भसितम्, सकलपुरुषार्थसंपत्सुरलताबीजश्रेणीश्रियो रुद्राक्षमालाश्च, हरिदिन-हरयामिनीमहोत्सवादयश्च ।

सम्पूर्ण प्रसिद्ध आभूषणोंके सौन्दर्यरूपी सर्वस्वका अपहरण करनेमें निपुण एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाली हैं ऐसी पद्माक्षकी मालाएँ उद्दीपनविभाव हैं। इसी प्रकार भगवान् शिवकी नेत्राग्निसे दग्ध हुए अपने मित्र कामदेवके विरहसे सूख जानेके कारण जिसकी कुछ ही कलाएँ बच गयी हैं उस कलाधर (चन्द्रमा) की दग्ध कलाओंके भस्म-समूहकी भाँति जिसका रंग श्वेत है* तथा जो बाहर-भीतरके अन्धकारको नष्ट करनेवाला और हृदय-दर्पणको उज्ज्वल बनानेवाला है वह प्रकाशमान भस्म और समस्त पुरुषार्थरूप सम्पत्तियोंको [फलके रूपमें] देनेवाली दिव्य कल्पलताके बीजोंकी मालाके समान शोभा पानेवाली रुद्राक्षकी मालाएँ तथा हरिदिवस (एकादशी आदि) एवं शिवरात्रि (प्रदोष इत्यादि) के महान् उत्सव आदि भी उद्दीपनविभाव हैं।

---

* शिवके मस्तकवर्ती चन्द्रमा पहले पूर्ण कलाओंसे युक्त थे, जब उनके मित्र मदन शिवजीकी नेत्राग्निसे दग्ध हो गये तब मित्रके विरहसे उनकी कुछ कलाएँ दग्ध हो गयीं, उन्हींका जो भस्म हुआ उसीके समान शिवजीका भस्म श्वेत है—ऐसी यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभावा व्यभिचारिभावाश्च

अनुभावा व्यभिचारिणश्च भरतादिमुनिमनीषिता एव न पुनरिहाभिनवाः । सर्वेषां चैतेषामुदाहरणानि श्रीमद्भागवते स्फुटतरमुपलभ्यन्ते; पुराणान्तरेषु च केषाञ्चित् ।

आलम्बनविभावादीनामुदाहरणानि

तत्रालम्बनविभावस्य च—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।

अनुभाव और सञ्चारी भाव तो यहाँ भी वे ही हैं जिन्हें भरत आदि मुनियोंने माना है, उनसे नवीन कोई नहीं हैं* । इन सभीके उदाहरण श्रीमद्भागवतपुराणमें स्पष्ट रीतिसे उपलब्ध होते हैं और किन्हीं-किन्हींके उदाहरण अन्य पुराणोंमें भी मिलते हैं ।

इनमेंसे आलम्बनविभावका—

"भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं त्रिलोकीनाथ हैं, उनसे अधिक या उनकी बराबरी करनेवाला कोई है ही नहीं, वे अपनी स्वतःसिद्ध परमानन्दस्वरूप सम्पत्तिसे पूर्णकाम हैं, चिरकालीन

---

* मनके भावको प्रकाशित करनेवाली आलम्बनकी कटाक्ष-रोमाञ्च आदि चेष्टाएँ अनुभाव हैं । तथा निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विरोध, अमर्ष, उग्रता, व्याधि, उन्माद, मरण, और वितर्क आदि सञ्चारी भाव हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥

इत्यादि । उद्दीपनविभावस्य च—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

इत्यादि ।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

लोकपालगण उन्हें नाना प्रकारकी भेंट अर्पण करते हुए अपने किरीटोंके अग्रभागसे उनकी चरण-पादुकाकी वन्दनारूप पूजा करते हैं ।"

इत्यादि उदाहरण है । और उद्दीपन विभावके—

"कमललोचन भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंपर चढ़ी हुई मञ्जरीसहित तुलसीके मकरन्दसे मिली हुई वायुने नासिकाके छिद्रसे उन अव्यक्त ब्रह्मके उपासक सनकादि मुनियोंके भीतर प्रवेशकर उनके भी तन-मनको क्षुब्ध (वेसुध) कर दिया ।"

इत्यादि उदाहरण हैं । इसी प्रकार—

"ऐसा व्रत रखनेवाला प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्का नाम-कीर्तन करते-करते अत्यन्त अनुरागके वशीभूत हो जाता है, उस समय उसका चित्त द्रवीभूत होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

इत्यादि । स्वरनेत्रगात्रविकाररूपाणामनुभावानां तत्रापि सात्त्विकानाम्—

क्वचिदुत्पुलकः तूष्णीं प्रेमप्रसरसम्प्लुतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥

इत्यादि । निर्वेदादीनां च व्यभिचारिणाम्—

लगता है, कभी तो वह जोरोंके साथ हँस पड़ता है, कभी रोता है, कभी दहाड़े मारता है, कभी गाने लगता है और कभी अलौकिक अवस्थामें पहुँचकर उन्मत्तकी भाँति नाचने लगता है।"

इत्यादि [सामान्य अनुभावोंका उदाहरण है] तथा स्वर, नेत्र और गात्रोंके विकाररूप अनुभावों और उनमें भी सात्त्विक भावोंका—

"कभी उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, प्रेमके प्रवाहमें डूब जानेके कारण उसकी वाणी रुक जाती है [वह मौन हो जाता है] और प्रेमानन्दके आँसुओंसे कुछ-कुछ मुँदी हुई उसकी आँखें एकटक देखती रहती हैं [पलकें नहीं गिरातीं]"

इत्यादि उदाहरण है। और निर्वेद आदि सञ्चारी भावोंका उदाहरण—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।
क्व च नारायणेत्येतद् भगवन्नाम मङ्गलम् ॥

इत्यादि । एवं शैवेऽपि—

अस्ति कश्चिदपर्य्यन्तरमणीयगुणार्णवः ।
षड्विधाघमयस्यास्य सर्वस्य जगतः पतिः ॥
आत्मशक्त्यमृतास्वादप्रमोदरसिको युवा ।
अखण्डजगदण्डानां पिण्डीकरणपण्डितः ॥
अनन्तानन्दसंदोहमकरन्दमधुव्रतः ।
औदार्यधैर्य्यगाम्भीर्य्यमाधुर्य्यमकरालयः ॥

इत्यादीन्यालम्बनादीनामुदाहार्याणि ।

"कहाँ तो मुझ-जैसा धूर्त, ब्रह्महत्यारा, पापी एवं निर्लज्ज और कहाँ भगवान्का मङ्गलमय 'नारायण' नाम ?"—

इत्यादि है । इसी प्रकार शिवपुराणमें भी—

"काम-क्रोधादि छः प्रकारके पापोंसे भरे हुए इस सम्पूर्ण संसारका स्वामी और अनन्त रमणीय गुणोंका महासागर कोई ऐसा परमेश्वर है, जो अपने गुणरूपी अमृतका आस्वादन करके आनन्दित होनेवाले भक्तोंका रसिक (प्रेमी) है, जरा-रहित है, समस्त ब्रह्माण्डका संहार करनेकी विद्यामें प्रवीण है, अनन्त आनन्दराशिका रसास्वादन करनेमें भ्रमरके समान है और उदारता, धीरता, गम्भीरता एवं मधुरताका समुद्र है ।"

इत्यादि वाक्य आलम्बनविभावादिके उदाहरण देने योग्य हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवद्भक्तेरुत्साहाङ्गत्वनिरासः

एवं स्थिते यत्कैश्चिदुक्तं भक्तिरुत्साहेऽन्तर्भवतीति तल्लौकिकभक्त्यभिप्रायम्, तस्य समरार्थमेव स्वामिना स्वीकृतत्वात् । इह तु न तथा; यथोक्तं श्रीमता प्रह्लादेन—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं तु स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥

इति । तस्माद्रत्याख्यो भावो भक्तिरिति ।

ऐसी स्थितिमें, कुछ लोगोंने जो ऐसा कहा है कि भक्तिका उत्साहमें अन्तर्भाव होता है, वह लौकिक भक्तिके अभिप्रायसे कहा है; क्योंकि [सेवकके] उस उत्साहको स्वामीने संग्रामके ही लिये स्वीकार किया है । परन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है; जैसा कि श्रीमान् भक्तप्रवर प्रह्लादजीने कहा है—

"मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप भी मेरे स्वार्थरहित स्वामी हैं, इसके विपरीत यहाँ राजा और सेवककी भाँति हम दोनोंका स्वार्थयुक्त सम्बन्ध नहीं है ।"

इससे यह सिद्ध हुआ कि रति (परा प्रीति) नामक भाव ही भक्ति है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विहिताचरणं निषिद्धवर्जनं च भक्तिरिति मतस्य प्रत्याख्यानम्

ननु श्रीविष्णुपुराणे विहिताचरणं प्रतिषिद्धवर्जनं च भक्तिरित्युक्तम्—

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
समनतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः
सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥

इत्यादौ ।

सत्यमुक्तम्, उपलक्षणं तु तच्छाखाग्रमिव चन्द्रस्य, न

शङ्का—श्रीविष्णुपुराणमें तो—

"जो अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने मित्र या शत्रुपक्षमें समानभाव रखता है तथा न तो किसी वस्तुका अपहरण करता है और न किसीकी हिंसा ही करता है, उस अत्यन्त विशुद्ध चित्तवाले पुरुषको विष्णु-भक्त जानो।"

इत्यादि वचनोंमें विहित कर्मोंका आचरण और निषिद्धका त्याग ही 'भक्ति' है—ऐसा कहा गया है।

समाधान—हाँ सचमुच ही कहा गया है, परन्तु वह भक्तिका उपलक्षण है, जैसे शाखाका अग्रभाग चन्द्रमाका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूपं भक्तेः प्रकृष्टः प्रकाश इव; भावलक्षणाया भक्तेः पृथगुपादानात्।

मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीव भक्तम्।

इत्यत्र हि सततं मनसि कृतजनार्दनमिति सम्बन्धः, सातत्यं च न भावमन्तरेणावकल्पते। 'अतीव भक्तम्' इति च स एव मुख्यो भक्त इति दर्शयति। 'सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे' इति च सर्वात्मनि

उपलक्षक होता है* जिस प्रकार उत्तम प्रकाश चन्द्रमाका स्वरूप है उस प्रकार वह भक्तिका स्वरूप नहीं है; क्योंकि [विष्णुपुराणके निम्नाङ्कित वचनमें] भावरूपा भक्तिका पृथक् ग्रहण किया गया है।

"जिसने सदा ही मनमें भगवान् विष्णुको स्थापित कर रखा है उसे भगवान्का अत्यन्त भक्त समझो।"

यहाँ 'जिसने सदा ही मनमें भगवान् विष्णुको स्थापित कर रखा है' इस प्रकार अन्वय है और सदा मनमें रखना भाव (अनुराग) के बिना सम्भव नहीं है। 'अतीव भक्तम्' इस कथनके द्वारा यह दिखलाते हैं कि वही मुख्य भक्त है। मित्र और शत्रु-पक्षमें समानभाव रखता है—यह कथन

---

* जैसे कोई किसी पुरुषको चन्द्रमाका दर्शन करानेके लिये कहता है कि 'उस शाखाके ऊपर देखो वहीं चन्द्रमा दीखते हैं।' यद्यपि चन्द्रमा आकाशमें है, तथापि उस शाखाके सामने होनेसे ऐसा कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेवे भावमन्तरेण नोपपद्यते। उपपद्यते चोपलक्षणत्वम्, विधिप्रतिषेधातिक्रमो हि रागादिनिबन्धनः, न च पुरुषोत्तमप्रवणे चेतसि रागादयोऽवकाशं लभन्ते। अत एवाभाणि भगवता श्रीशुकेन—

विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

इति। लोकेऽपि भक्तसेवकयोर्भेदो दृश्यते, समानेऽपि राजसेवाकर्मणि भक्तोऽयमभक्तोऽयमिति व्यपदेशदर्शनात्, तस्माद् भाव एव भक्तिः।

सर्वात्मा वासुदेवमें अनुरागके विना सिद्ध नहीं हो सकता। [हाँ, उपर्युक्त वाक्यका भक्तिमें] उपलक्षण होना तो सम्भव है, क्योंकि विधि और निषेधका अतिक्रमण रागादिके कारण होता है और भगवत्परायण हृदयमें रागादि स्थान नहीं पा सकते। अतएव भगवान् श्रीशुकदेवजीने कहा है—

"यदि भक्तसे किसी प्रकार अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी बन गया तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् उसका पूर्णतया मार्जन कर देते हैं।"

लोकमें भी भक्त और सेवकमें भेद देखा जाता है; क्योंकि एक ही समान राज-सेवा कर्ममें [प्रवृत्त हुए पुरुषोंमें] भी 'यह [राजाका] भक्त है, यह अभक्त है'—ऐसा व्यवहार दृष्टिगोचर होता है; अतः भाव (हार्दिक अनुराग) ही भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वमधिकारिविशेषणत्वं च

सा च कीर्तनाङ्गम् "यन्नामकीर्तनं भक्त्या" इति श्रुतेः, न चासाविच्छया सम्पादयितुं शक्यते, अतोऽनुपादेयत्वादर्थादधिकारि-विशेषणं भविष्यति फलवत् । एतदेव स्पष्टीकृतम्—

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।

वह भक्ति कीर्तनकी अङ्गभूत है; क्योंकि "यन्नामकीर्तनं भक्त्या (भक्तिके साथ किया हुआ जिनका नाम-कीर्तन)" इत्यादि वाक्य सुना जाता है। केवल इच्छामात्रसे भक्ति सम्पन्न नहीं की जा सकती, अतः [भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन सबके लिये सुलभ न होनेके कारण] यहाँ भक्ति शब्द अर्थतः ग्रहण करने योग्य नहीं है; अतएव वह अधिकारीका विशेषण ही होगी, और विशेषणरूपमें ही उसकी सफलता है*। इसीका,

"कोई-कोई भगवत्परायण पुरुष केवल भक्तिसे [अपने समस्त पाप नष्ट कर लेते हैं]"

---

* इस प्रसंगका भाव यों समझना चाहिये—'भक्तिपूर्वक किया हुआ जिनका नाम-कीर्तन समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है' इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई भी कभी एक बार भक्तिपूर्वक नाम लेकर अपने पाप नष्ट कर सकता है। केवल पाप-नाशकी इच्छासे जीवनमें किसी समय एक बार नाम-कीर्तन करनेवाला पुरुष भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन कर ही नहीं सकता; क्योंकि भक्ति हार्दिक अनुरागको कहते हैं और वह बहुत दिनोंके अभ्याससे ही हो सकता है। हाँ, जिन्होंने भगवद्विषयक अनुराग प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन कर सकते हैं; अतः उन्हींका नाम-कीर्तनमें अधिकार है। इसलिये उपर्युक्त वाक्यमें भक्ति शब्द अधिकारीका ही विशेषण है और ऐसा माननेसे ही वहाँ 'भक्ति' शब्दका रखना सफल हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। अत्र 'वासुदेवपरायणाः' इति तदेकलक्षणस्य भावस्याधिकारविशेषणभावेनोद्देशः, भक्त्येति भजनक्रिया कीर्तनादिरादीयते, केचिदिति च दुःसम्पादत्वेनाधिकारिविशेषणमेव दर्शयति—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

इस कथनके द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। यहाँ 'वासुदेवपरायणाः' इस कथनके द्वारा, भगवत्परायण होना ही जिसका लक्षण है ऐसे भाव (प्रीति) का ही अधिकारीके विशेषणरूपसे प्रतिपादन किया गया है [अर्थात् यह कहा गया है कि पापक्षयके लिये प्रायश्चित्तरूपसे किये जानेवाले कीर्तनादिमें उसीका अधिकार है जो भगवान्में अनन्य अनुराग रखता हो]। 'भक्त्या' पदसे कीर्तनादिरूप भजन-क्रियाका ही ग्रहण होता है। 'केचित्' इस पदसे यह दिखलाते हैं कि [प्रेमलक्षणा] भक्तिका सम्पादन कठिन होनेके कारण [उसमें कोई-ही-कोई प्रवृत्त होते हैं; अतः] वह अधिकारीका विशेषण ही है। यथा—

"अन्य विषयोंसे चित्तकी अनुराग-वृत्तिको हटाकर केवल अपने (भगवान्के) चरण-कमलोंका ही भजन करनेवाले प्रिय भक्तसे यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु उसका पूर्णरूपसे मार्जन कर देते हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । तत्रापि 'त्यक्तान्यभावस्य' इति भावस्योद्देशः, 'भजतः' इति कीर्तनादेरुपादानम्, तस्माद् भक्तस्यैवाधिकारः ।

ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमुक्तव्यवस्थाया उपसंहारश्च

ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमवगम्यते, "यतस्तद्विषया मतिः" इति 'यतो नाम्नस्तद्विषया मतिर्भवति, तस्य नाम्नो व्याहरणं पापक्षयहेतुः' इत्यतो यस्य तज्ज्ञानमस्ति स एवाधिकारीत्यर्थादुक्तं भवति । "तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्" इति 'ज्ञान-

---

इसमें भी 'त्यक्तान्यभावस्य' इस पदमें भाव (अनुराग) का ही कथन है । 'भजतः' इस पदसे कीर्तन आदिका ग्रहण होता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कीर्तन आदिमें भक्तका ही अधिकार है ।

ज्ञान भी अधिकारमें हेतु है [अर्थात् ज्ञानीका भी कीर्तनादिमें अधिकार है]—यह बात भी [शास्त्रोंद्वारा] ज्ञात होती है; क्योंकि "यतस्तद्विषया मतिः" इसका अर्थ यह है कि 'जिस नामसे भगवद्विषयिणी बुद्धि (भगवत्तत्त्वकी जानकारी) होती है उस नामका उच्चारण करना पाप-क्षयका हेतु है; अतः जिसको उसका ज्ञान है वही कीर्तनादिमें अधिकारी है—ऐसा अर्थतः प्रतिपादित होता है । "तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् (भगवान्‌के नाम-सम्बन्धी पद भगवान् और उनके गुणोंको प्राप्त करानेवाले हैं)" इस वचनसे यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वतो हरेर्नामपदैस्तद्वाचकैः शब्दैरुत्तमश्लोकं तद्गुणांश्चोपलभते यः स एवात्राधिकारी' इति व्यक्तमवगम्यते, ज्ञानं चात्र परोक्षपदार्थमात्रविषयं न पुनरपरोक्षमौपनिषदम्, एवं च श्रद्धाभक्तिज्ञानसम्पन्नस्याधिकारिणः पौराणं प्रायश्चित्तमितरस्य तु स्मार्तमिति व्यवस्थितम्।

पुराणवचनेष्वावृत्त्यनावृत्तिविषयकं विरोधमुद्भाव्य व्यवस्थान्तरेण तत्परिहारः

ननु भवतु स्मृतिपुराणवचनानामन्योन्यविरोधे व्यवस्थेयम्, इह पुनः पुराणवचनानामेवान्योन्यविरोधो विलोक्यते—कानि-

---

स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्ञानवान् भगवान्के नाम-सम्बन्धी पदों अर्थात् उसके वाचक शब्दोंसे पुण्यकीर्ति भगवान् और उनके गुणोंको जो प्राप्त कर लेता है वही [पाप-क्षयके लिये नाम-कीर्तनका] अधिकारी है। ज्ञान शब्दसे यहाँ परोक्ष पदार्थको ही विषय करनेवाला ज्ञान विवक्षित है, उपनिषद्वेद्य अपरोक्ष आत्माको विषय करनेवाला नहीं। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और ज्ञानसे युक्त अधिकारीके लिये कीर्तन आदि पौराणिक प्रायश्चित्त विहित हैं और इतर लोगोंके लिये स्मृतिकथित द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त कर्तव्य हैं—यह व्यवस्था सिद्ध हुई।

शङ्का—स्मृति और पुराणोंके वचनोंमें परस्पर विरोध होनेपर यह व्यवस्था रहे, परन्तु यहाँ तो पुराण-वचनोंमें ही परस्पर विरोध देखा जाता है—कुछ वचन तो एक वारके ही नाम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्सकृत्कीर्तनादेव पापक्षयमभिदधति, कानिचिदावर्त्यमानाद्विति । तथा हि श्रीलैङ्गे—

ॐ नमो नीलकण्ठाय इति पुण्याक्षराष्टकम् ।
मन्त्रमाह सकृद्यस्तु पातकैः स विमुच्यते ॥

इति । श्रीमद्भागवते तु—

हरेर्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ।

इति ।

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।

कीर्तनसे पापोंका नाश होना बतलाते हैं और कुछ अनेकों बार नामकी आवृत्ति करनेसे । जैसे श्रीलिङ्गपुराणमें तो—

"जो 'ॐ नमो नीलकण्ठाय' इस आठ अक्षरवाले पवित्र मन्त्रका एक बार भी उच्चारण करता है वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ।"

इस प्रकार [एक ही बारके नामोच्चारणसे पापोंका नाश होना] कहा है । परन्तु श्रीमद्भागवतमें—

"भगवान्‌के गुणोंका बार-बार उच्चारण अवश्य ही चित्तको शुद्ध करनेवाला है ।" "मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीर्थपाद भगवान्‌के नामोंका बार-बार कीर्तन करनेसे बढ़कर दूसरा कोई साधन कर्म-बन्धनका उच्छेद करनेवाला नहीं है ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति च । कस्तत्र विरोधपरिहार इति ?

उच्यते—तत्राप्यनुतप्तानन्नुतप्तविषयत्वेन व्यवस्था, तथा हि श्रीवैष्णवे "कृष्णानुस्मरणं परम्" इत्यविशेषेण प्राप्तामावृत्तिमनुतप्तविषयेऽपवदति—

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥

इस प्रकार [बार-बार कीर्तनका] प्रतिपादन किया गया है । इन वचनोंमें विरोध-परिहारका क्या उपाय है ?

समाधान—बतलाते हैं, वैसे स्थलोंपर भी [एक बार और अनेक बारके कीर्तनकी क्रमशः] अनुतप्त और अननुतप्त*पुरुषके विषयमें व्यवस्था है, उसे दिखलाते हैं; श्रीविष्णुपुराणमें "कृष्णानुस्मरणं परम् (समस्त प्रायश्चित्तोंमें कृष्णका बार-बार स्मरणरूप प्रायश्चित्त ही सर्वश्रेष्ठ है)" इस प्रकार सबके लिये समानरूपसे प्राप्त हुई कीर्तनकी आवृत्तिका अनुतप्त पुरुषके विषयमें अपवाद करते हैं—

"पाप करनेपर जिस पुरुषको पश्चात्ताप होता है उसके लिये एक बार भगवान्‌का स्मरण कर लेना ही उत्तम प्रायश्चित्त है ।"

---

* पाप करनेके बाद जिसको 'मेरेद्वारा बहुत बड़ा अनर्थ हुआ, इससे मेरा कैसे उद्धार होगा' ऐसी चिन्ता हो वह पुरुष अनुतप्त कहलाता है और पाप करनेपर जिसको पश्चात्ताप न हो वह अननुतप्त है । 'अनुतप्त पुरुष एक ही बारके कीर्तनसे अपने पाप दूर कर सकता है । परन्तु अननुतप्त पुरुषका पाप अनेकों बारके कीर्तनसे दूर होता है' ऐसी यहाँ व्यवस्था करते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । अतोऽननुतप्तविषयैव सा व्यवतिष्ठते ।

ननु नेह निर्द्धारणमावृत्तेः, इयतो वारानितीयन्तं कालमिति वा, ततश्च कथमनिर्द्धारिता सा विधीयते ? नापि यावत्फलमावृत्तिरवघातादाविव, पापवत्तन्निवृत्तेरपि शास्त्रैकगम्यत्वात् ।

अतः जो अनुतप्त नहीं है, उसीके विषयमें आवृत्तिकी व्यवस्था की गयी है ।

शङ्का—परन्तु 'इतने वार या इतने समयतक आवृत्ति करे' इस प्रकार यहाँ आवृत्तिके परिमाण और कालका निश्चय तो किया नहीं गया है, फिर इस निश्चयके बिना ही कैसे आवृत्ति की जा सकती है ? यदि कहें, जबतक धानसे भूसी अलग होकर चावल नहीं निकल आता तबतक उसपर जैसे वार-वार मूसलकी चोट करते रहते हैं, वैसे ही जबतक पापक्षयरूपी फलकी सिद्धि न हो तबतक कीर्तनकी आवृत्ति करनी चाहिये, तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि [धानकी भूसी और उसका अलग होना—ये दोनों ही प्रत्यक्ष हैं; अतः चावल तैयार होनेतक उसपर मूसलकी चोट करते हैं; परन्तु पाप और पापकी निवृत्ति—ये दोनों प्रत्यक्ष नहीं हैं ।] जैसे पाप शास्त्रगम्य है वैसे ही उसकी निवृत्ति भी एकमात्र शास्त्रसे ही जानी जाती है *।

---

* भूसीके साथ रहनेपर धानका जो आकार रहता है, वह भूसी दूर होनेपर नहीं रहता, उस समय वह साफ चावलके रूपमें परिणत हो जाता है, परन्तु पुरुषके आकारमें पाप तो भूसीकी भाँति प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता तथा पापकी निवृत्ति हो जानेपर भी चावलके समान उसके आकारमें कोई स्थूल परिवर्तन नहीं होता । उसके कर्म देखकर शास्त्रोंके कथनानुसार ही उसमें पापका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—आवृत्तिश्रवणादेव पापतारतम्यादावृत्तितारतम्यं कल्प्यते, श्रूयते च तदष्टाक्षरब्रह्मविद्यायाम्—

गोमूत्रयावकाहारो ब्रह्महा मासिकैर्जपैः।
पूयते तत एवार्वाङ् महापातकिनोऽपरे ॥

इत्यादि। तस्माद्यस्य पापं कृतवतो भाराक्रान्तस्येव 'न कदाचिदितः परं पापे प्रवर्ते' इति पश्चात्तापो जायते तस्य सकृत्कीर्तनं शोधनम्, इतरस्य पुनरावर्त्यमानमिति।

समाधान—इसका उत्तर देते हैं; आवृत्तिके श्रवणसे ही यह कल्पना की जाती है कि न्यूनाधिक पापके अनुसार ही न्यून या अधिक मात्रामें आवृत्ति करनी चाहिये। पापकी यह न्यूनता-अधिकता अष्टाक्षर ब्रह्मविद्यामें सुनी जाती है—

"ब्रह्महत्यारा गोमूत्र और यावक (जौके आटेका हलवा) भोजन करके एक महीनेतक जप करनेसे पवित्र होता है तथा दूसरे महापातकी इससे पहले ही पवित्र हो जाते हैं।"

इत्यादि। [इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्महत्याकी अपेक्षा अन्य महापातक कुछ न्यून हैं] इसलिये जिस पाप करनेवाले पुरुषको भारसे दबे हुएकी भाँति इस प्रकार पश्चात्ताप होता है कि 'आजसे मैं पापमें प्रवृत्त नहीं होऊँगा', उसके लिये तो एक बारका ही कीर्तन पापनाशक हो सकता है और दूसरोंके लिये बार-बार किया हुआ कीर्तन पाप-निवारक होता है।

निश्चय होता है तथा शास्त्रीय विधिसे प्रायश्चित्त करनेपर उसकी निवृत्ति भी शास्त्रोंद्वारा ही जानी जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धादिमतः कीर्तनेऽधिकार इत्यत्र विरोधोद्भावनम्, प्रसंगादभ्यासगतिसामान्ययोर्निरूपणं च ।

नन्वेवमपि—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥

इत्येवमादीनां का गतिः ? परिहासानादरयोर्हि न भक्ति-

शङ्का—ऐसा माननेपर भी—

"सङ्केत, परिहास, स्तोभ* या अनादरपूर्वक भी किया हुआ भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन सम्पूर्ण पापोंका नाशक है—ऐसा महात्मा लोग जानते हैं।"

इस प्रकारके वचनोंकी क्या गति होगी ? परिहास और अनादरमें तो भक्ति, श्रद्धा और अनुतापोंकी सम्भावनातक

---

* पुत्र आदिका गोविन्द, केशव या नारायण आदि सङ्केत (नाम) रखकर उसका उच्चारण करना 'साङ्केत्य' है। उपहास करते हुए नाम लेना 'पारिहास्य' कहलाता है; जैसे कोई कहे, 'राम-राम'कहनेसे क्या होगा ?' इत्यादि। गीत आदिके स्वरको पूरा करनेके लिये किसी शब्दका [जिसका वहाँ कुछ अर्थ न हो] उच्चारण 'स्तोभ' है, जैसे सामवेदमें 'इडा' ' होई' इत्यादि शब्द। ऐसे ही अवसरपर भगवान्‌का नाम लेना 'स्तोभ' उच्चारण है। अथवा शीत आदिसे पीड़ित होनेपर बैठे-बैठे मुँहसे 'राम-राम' निकल गया—इस तरहका उच्चारण 'स्तोभ' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धानुतापाः सम्भवन्ति, स्तोभसाङ्केत्ययोस्तु न ज्ञानमपि । आवृत्तिरपि नापेक्ष्यते—

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्त्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥

इति सकृच्छब्दप्रयोगादाशुशब्दाच्च श्रद्धादयोऽप्युपेक्षिताः । अस्य ह्ययमर्थः—यदिति व्यस्तमव्ययम्, यस्य नाम द्व्यक्षरं सुखोच्चार्यम्, तदपि गिरेरितं न तु हृदयेन तदर्थमवधार्य; तच्च सकृन्न

नहीं है। स्तोभ और संकेतमें किये हुए उच्चारणमें तो ज्ञान भी नहीं है। आवृत्तिकी भी यहाँ अपेक्षा नहीं है; क्योंकि—

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसंगादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥

इस वचनमें सकृत् शब्द और आशु शब्दका प्रयोग किया गया है, इसीलिये यहाँ श्रद्धा आदिकी भी उपेक्षा की गयी है, इसका अर्थ यों है—'यत्' शब्द पृथक् अव्ययपद है, 'जिस भगवान् शिवका दो अक्षरोंवाला अर्थात् सुखपूर्वक उच्चारण किये जाने योग्य 'शिव' नाम,—सो भी केवल वाणीद्वारा ही उच्चारण किया हुआ, न कि हृदयसे उसके अर्थका चिन्तन करते हुए; वह भी केवल एक ही बार, अनेकों बार नहीं; सो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहुवारम्; तदपि प्रसङ्गान्न तु श्रद्धादेः; अघम् अवधीरितमहदल्पभेदम् आशु शीघ्रमेव न तु कालान्तरव्यवधानेन हन्ति हिनस्ति, तत्रापि न नामिनश्चित्तमावर्ज्य किन्तु तत्स्वयमेव, तच्च सर्वेषां नृणां न द्विजानामेव, किं च कियदेतद् यदुत पापक्षयहेतुरस्य नामेति, अयं हि पवित्रकीर्तिः—पराग्भावेन प्रतिपन्नः परमेश्वर एव पविर्वज्रम्, "महद् भयं वज्रमुद्यतम्" इति श्रुतेः,

भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ।

भी प्रसंगवश ही कहा हुआ श्रद्धा आदिके साथ नहीं,—पापमात्रको उसके छोटे-बड़े भेदके विचारकी अवहेलना करके तुरन्त ही नष्ट कर देता है, कुछ दिनोंके बाद कालान्तरमें नहीं। उसमें भी वह नाम नामी (भगवान्) का चित्त (ध्यान) आकृष्ट करके उसके द्वारा नहीं, अपितु, स्वयं ही [पाप दूर करता है]। तथा वह नाम द्विजातियोंका ही नहीं, सभी मनुष्योंका [पापनाशक है]। इसके अतिरिक्त इन भगवान् शिवका नाम पापक्षयका कारण है—यह ऐसी क्या बड़ी बात है? क्योंकि ये पवित्रकीर्ति हैं—बाह्यरूपसे प्रकट हुए परमेश्वर ही पवि—वज्र हैं, श्रुति भी कहती है "[परमेश्वर] प्रहार करनेके लिये उठे हुए महान् भयङ्कर वज्रके समान हैं।" स्मृति भी कहती है—

"महत्तत्त्व आदि सभी भिन्नदर्शी भूतोंको जिस (भगवान्) से भय होता है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति स्मृतेश्च; तस्मात् त्रायते भक्तं भेदभ्रान्तिमुन्मूल्य निरातङ्के निजमहिमन्यवस्थापयन्ती कीर्त्तिर्यस्य स पवित्रकीर्त्तिस्तं पवित्रकीर्त्तिं ब्रह्मादीनामप्यनतिक्रमणीयशासनं शिवं परममङ्गलं भवान् द्वेष्टीति । 'अहो शिवेतरः' इति वाक्यान्तरम् । शिवेतरः पर्य्युदस्तमङ्गलः, अमङ्गल इति यावत् । अन्येऽप्यमङ्गलाः सन्ति, अयं पुनरपूर्वोऽमङ्गल इति दक्षं देवी निन्दति ।

न चैषामतत्परत्वम्, अभ्यासाद्गतिसामान्याच्च ।

उस पविरूप भयसे जो भक्तोंको उनके भेद-भ्रमका उन्मूलन करके अपनी भयरहित महिमामें स्थापित करती हुई उनकी रक्षा करती है—ऐसी जिनकी कीर्ति है वे भगवान् पवित्रकीर्ति हैं, उन पवित्रकीर्ति भगवान्से अर्थात् जिनके शासनको ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं लाँघ सकते, उन परम मङ्गलमय भगवान् शिवसे आप द्वेष करते हैं, इसलिये आश्चर्य और खेदके साथ कहना पड़ता है कि आप शिवसे भिन्न—मङ्गलरहित अर्थात् अमङ्गलरूप हैं। यहाँ 'अहो शिवेतरः' यह दूसरा वाक्य है, ['भवान् द्वेष्टि' तक पहला वाक्य समाप्त हो जाता है]। अमङ्गलरूप तो अन्य लोग भी होते हैं, पर यह (शिवका द्वेषी) अपूर्व (अद्भुत) अमङ्गल है—इस प्रकार [अपने पिता] दक्षकी सती देवी निन्दा करती हैं।

यदि कहें, इन 'साङ्केत्यम्…' आदि वचनोंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है [अर्थात् इनसे श्रद्धा आदिकी अपेक्षाका अभाव नहीं सूचित होता], तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे वचनोंका [एक ही ग्रन्थमें] अभ्यास (बार-बार उल्लेख) देखा गया है और [अन्य ग्रन्थोंमें भी] इनका गति-सामान्य है [अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यासस्तावदजामिलोपाख्याने—

> अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
> यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥

इति निर्वेशो भोगः, "निर्वेशो भृतिभोगयोः" इति नैघण्टुकाः, स च प्रायश्चित्त उपचर्य्यते, भोगप्रायश्चित्तयोः कर्मनाशहेतुत्वाविशेषात् । अत्र विवश इति विवक्षितम्, अविवशस्य तु न श्रद्धादयः सम्भवन्ति ।

उनमें इन्हींके समान वचनोंकी उपलब्धि होती है] । अभ्यासकी उपलब्धि अजामिलकी कथामें होती है—

"इस (अजामिल) ने जो विवश होकर भगवान्‌के मङ्गलमय नामका उच्चारण किया है उसीसे अपने करोड़ों जन्मोंके भी पापोंका उपभोग (प्रायश्चित्त) समाप्त कर लिया है ।"

'निर्वेश' भोगको कहते हैं, निघण्टु (कोष)-वेत्ताओंका मत है कि "निर्वेश शब्द भरण और भोग अर्थमें है" उसका प्रायश्चित्त अर्थमें उपचारतः प्रयोग होता है; क्योंकि भोग और प्रायश्चित्त समानरूपसे ही पापादि कर्मोंके नाशका कारण होते हैं । यहाँ [विशेष अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिये] 'विवश' शब्दका प्रयोग अभीष्ट है; क्योंकि विवश पुरुषमें श्रद्धा आदि होनेकी सम्भावना नहीं रहती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम् ॥

इति; अघोनः—अघवतः, एतेनैवेति श्रद्धाविरहः, यदा जगाद तदैवेत्यनावृत्तिः, चतुरक्षरमिति च श्रद्धानपेक्षा, अक्षरसमाहारस्यैव विवक्षितत्वात्, संख्याकथनस्य चाधिकमिदमित्यभिप्रायः। एवमस्मिन् प्रकरणे भूयानभ्यासः।

नन्वेकस्माद्वाक्याद्यावानर्थोऽवगम्यते किं तावानेवान्यस्मादपि;

"जिस समय इस (अजामिल) ने 'नारायण' इन चार अक्षरोंका उच्चारण किया है उसी समय इतने ही मात्रसे इस पापीके पापका प्रायश्चित्त हो गया।"

'अघोनः' का अर्थ है अघवान् (पापी) का; 'एतेनैव (इतनेहीसे)' इस पदके द्वारा श्रद्धाका अभाव व्यक्त किया गया है। 'यदा जगाद तदा (जिस समय उच्चारण किया उसी समय)' इस कथनसे नामकीर्तनकी आवृत्तिका अभाव सूचित होता है। 'चतुरक्षरम् (चार अक्षर)' कहनेसे श्रद्धाकी अपेक्षा न होना सिद्ध होता है; क्योंकि उससे अक्षर-समुदायका कथन ही इष्ट है। संख्या कहनेका यह भी अभिप्राय है कि यह चार अक्षर तो बहुत अधिक है, एक या दो अक्षरोंसे भी पापका नाश हो सकता है। इस प्रकार इस प्रकरणमें बहुत अधिक अभ्यास (समानार्थक वचनोंकी आवृत्ति) है।

आक्षेप—[तुम जिन-जिन वचनोंको समानार्थक मानते हो उनमेंसे] एक वचनसे जितना अर्थ जाना जाता है क्या दूसरे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उताधिकः ? यदि तावदधिकस्तर्हि नाभ्यासस्तस्यैव तत्र विधेयत्वात्, उक्तस्यैव पुनरुक्तिरभ्यासः। अथ तावानेव, तथापि नतरामभ्यासः, भिद्यते हि तदा वाक्यार्थः; "एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्" इति न्यायेन, "आनन्दमयोऽभ्यासात्"

वचनसे भी उतना ही अर्थ ज्ञात होता है ? या उससे अधिक भी ? यदि अधिक अर्थ ज्ञात होता है तो उसे अभ्यास नहीं कह सकते; क्योंकि अधिक प्रतीत होनेवाला अर्थ ही उस वाक्यका विधेय (प्रतिपाद्य) है, अभ्यास तो कहे हुएका ही पुनः कथन करना कहलाता है। तथा यदि उतना ही अर्थ है तो भी अभ्यास नहीं हो सकता; क्योंकि उस समय "किसी विशेष अर्थका प्रतिपादन न होनेके कारण एकका ही पुनः श्रवण वाक्यार्थमें भेद करनेवाला होता है; यदि ऐसा न हो तो वह व्यर्थ हो जायगा" इस न्यायके अनुसार वाक्यार्थमें भेद हो जाता है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* इत्यादि स्थलोंमें

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्‌में एक मन्त्र है—'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'। इसका अर्थ है—'इस पूर्वोक्त विज्ञानमयसे भिन्न उसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है।' यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त मन्त्रमें 'आनन्दमय' शब्द शुद्ध परब्रह्मका वाचक है ? या मनोमय, विज्ञानमय आदिकी भाँति परब्रह्मसे भिन्न [संसारी आत्मा] का वाचक है ? वहाँ 'तस्य प्रियमेव शिरः' (उसका 'प्रिय' ही शिर है) इत्यादि रूपसे शिर आदिकी कल्पना देखकर तो 'संसारी आत्मा' का ही वर्णन होनेका सन्देह होता है। इसी सन्देहका निवारण करनेके लिये व्यासजी सूत्ररूपमें कहते हैं—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' अर्थात् 'आनन्द शब्दका 'परब्रह्म' अर्थमें अनेकों बार उल्लेख होनेके कारण यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्र तु ब्रह्मणो दुर्भेदत्वाद् दुर्बोधत्वाच्च व्यतिरेकेणान्वयेन च पुनः पुनरुपादानं न विरुध्यते ।

तो ब्रह्मका भेद असंभव और बोध कठिन है इसलिये व्यतिरेक और अन्वयसे ब्रह्मका ही पुनः-पुनः ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। [जैसा कि निम्नलिखित श्रुतिमें व्यतिरेक और अन्वयसे ब्रह्मका ही बार-बार ग्रहण हुआ है—]*

आनन्दमय शब्द 'परमात्मा' का ही वाचक है।' अब यह प्रश्न उठता है कि यदि 'एकस्यैवं पुनः श्रुतिः' इस न्यायके अनुसार पुनरुक्त शब्दके अर्थमें भेद हो जाया करता है तो उक्त सूत्रद्वारा यह क्यों कहा गया कि 'आनन्द शब्दका परब्रह्म-अर्थमें अनेकों बार प्रयोग हुआ है।' यहाँ भी दूसरा अर्थ क्यों नहीं हुआ ? इसीका उत्तर देते हुए मूलमें कहते हैं कि ब्रह्ममें भेद नहीं है तथा ब्रह्मका स्वरूप भी बुद्धिका विषय नहीं है, इसलिये परब्रह्म-वाचक 'आनन्द' शब्द किसी भिन्न ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता। अतएव वहाँ एक ही अर्थमें 'आनन्द' शब्दका अभ्यास (पुनरुक्ति) होनेपर भी कोई विरोध नहीं है।

* 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' (कारण या अधिष्ठानकी सत्ता होनेपर ही कार्य या आधेयकी सत्ता रहती है)—यह अन्वय-व्याप्ति है। तथा 'तदभावे तदभावः' (कारण या अधिष्ठानके न होनेपर कार्य या आधेयकी सत्ता नहीं रहती)—यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। 'असन्नेव स भवति…' इस मन्त्रमें जो यह कहा गया है कि 'जो ब्रह्मकी सत्ता नहीं स्वीकार करता वह स्वयं भी नहीं है' यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। ब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है, अतः कोई भी सत्ताधारी अपने अधिष्ठान ब्रह्मकी सत्ता कैसे अस्वीकार कर सकता है, यदि करता है तो वह अपनी भी असत्ता प्रमाणित करता है। इसी प्रकार 'जो ब्रह्मको सत् मानता है वह सत् है'—यह अन्वय-व्याप्ति है; क्योंकि अधिष्ठानकी सत्ता होनेसे ही उसकी सत्ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

इति । इह तु न तथेति ।

तदयुक्तम्, इहापि विधेयस्यैकत्वेऽपि सुकरत्वेनाश्रद्धातिरस्कृतत्वात्, "नीहारमिव भास्करः" "दहत्येधो यथानलः" "यथा गदं वीर्यतमम्" इत्यादिभिरुदाहरणैरुपपत्तिभिश्च पुनः पुनः प्रति-

---

"जो ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म 'असत्' अर्थात् नहीं है' वह स्वयं ही असत् (असद्ग्राही होनेके कारण असाधु अथवा नष्ट) है। और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म सत् है [यानी ब्रह्म है]' तो उसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष सत् (श्रेष्ठ या सत्तायुक्त) समझते हैं।"

परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है।

उत्तर—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि यहाँ (कीर्तनके प्रकरणमें) भी विधेय (प्रतिपाद्य) एक होनेपर भी सुकर होनेके कारण अश्रद्धासे तिरस्कृत (छिपा हुआ) है [अर्थात् अत्यन्त सरल साधन होनेके कारण उसके इतने बड़े महत्त्वपर सबका विश्वास नहीं होता]; इसलिये "सूर्य जैसे तुषारको नष्ट करता है" "आग जिस प्रकार ईंधनको जला देती है" "प्रबल रोगको जिस प्रकार [ओषधि नष्ट करती है]" इत्यादि उदाहरणों और युक्तियोंके द्वारा [उसपर श्रद्धा कराने-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पादनं न विरुध्यते, एवमभ्यासो निरवद्यः ।

गतिसामान्यं च स्कान्दोक्तेः—

अवशेनापि संकीर्त्य सकृद्यन्नाम मुच्यते ।
भयेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम् ॥
अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

इति । श्रीनारदीये च—

के लिये] पुनः-पुनः प्रतिपादन भी विरुद्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार यहाँ अभ्यास (पुनरुक्ति) निर्दोष है ।

स्कन्दपुराणके वचनसे गति-सामान्य (ग्रन्थान्तरके वचनोंसे समानता) का ज्ञान होता है—

"जिनके नामका विवश होकर एक बार भी कीर्तन करनेसे मनुष्य भय और समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है, उस अच्युत भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ।"

[इसी प्रकार विष्णुपुराणमें भी कहा है—]

"मनुष्य भगवान्के नामका यदि विवश होकर भी उच्चारण कर ले तो जैसे सिंहसे डरे हुए भेड़िये आदि हिंसक जीव अपने शिकारको छोड़कर भाग जाते हैं, उसी प्रकार [नामोच्चारणसे भयभीत हुए] सम्पूर्ण पाप उसे तत्काल त्याग देते हैं ।"

श्रीनारदीयपुराणमें भी [ऐसा ही कहा है—]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिरिति सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः ।
जननीमार्गं मुक्त्वा मम पदवीं निविशते मर्त्यः ॥

एवं सर्वत्र । अत एतेषु कोऽधिकारी तत्रेति ?

उक्तविरोधपरिहारः

अत्रोच्यते—आसन्नमरणोऽधिकारी,

विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण उपैति मुक्तिम् ॥

"जिन मनुष्योंने किसीको धोखा देनेके लिये कपटसे भी एक बार हरिनामका उच्चारण किया है वे माताके गर्भमें आनेका मार्ग त्यागकर मेरे पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।"

इस प्रकार सर्वत्र [समझना चाहिये] । अतः [संकेत और परिहास आदिमें नामोच्चारण करते समय श्रद्धा आदिकी अपेक्षा असम्भव है, ऐसी दशामें] संकेत और परिहासपूर्वक किये जानेवाले श्रद्धाशून्य नामोच्चारणोंमें किसका अधिकार है ?

समाधान—इस विषयमें कहते हैं—जिसकी मृत्यु निकट है, उसीका इनमें अधिकार है; क्योंकि—

"पापी अजामिल भी मरते समय नारायण नामसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्ति पा रहा है ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति दर्शनात्;

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

इति च । श्रीनारदीये—

ब्राह्मणः श्वपचीं भुञ्जन् विशेषेण रजस्वलाम् ।
अश्नाति सुरया पक्वं मरणे हरिमुच्चरन् ॥
मुच्यते पातकात्तस्मान्नात्र कार्य्या विचारणा ॥

यह प्रमाण देखा जाता है। इसके अतिरिक्त—

"जो लोग प्राण-प्रयाणके समय विवश होकर भी जिन श्रीहरिके अवतार, गुण और कर्म-बोधक नामोंका उच्चारण करके सैकड़ों जन्मोंके भी पापोंको सहसा त्यागकर आवरणरहित ऋत (सत्य) धामको प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं अजन्मा ईश्वरकी मैं शरण हूँ।"

यह वचन भी प्रमाण है । श्रीनारदीयपुराणमें—

"यदि ब्राह्मण होकर चाण्डालकन्याका—विशेषतः रजस्वलाका भी संसर्ग करनेवाला हो और मदिराके साथ पका हुआ भोजन करता हो तो भी वह मरण-कालमें हरिनाम-का उच्चारणकर उस पापसे मुक्त हो जाता है, इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति निर्धारणाच्च। युक्तं च तस्मिन्नवसरे श्रद्धादिनैरपेक्ष्यं नाम्न एव सुदुर्लभत्वात्। तस्मान्न केनचित् किञ्चिद्विरुध्यत इति सर्वं सुस्थम्।

सिद्धान्तपक्षः—प्रागुक्तपूर्वपक्षखण्डनम्

एवं मध्यमश्रद्धानामधिकारिणां मनांसि समाधातुमुत्प्रेक्षते पन्थानमविरोधस्य। अन्य एव पुनः पन्थाः पारमार्थिकः। तथा हि—स्मृतिपुराणविरोधे व्यवस्थादयो नैव निविशन्ते, विषमं हि प्रामाण्यमनयोः। वेदादवगतेऽर्थे पदान्तरैरुपनिबद्धानि

इत्यादिरूपसे निश्चय करनेके कारण भी [मरणासन्न पुरुष ही श्रद्धारहित कीर्तनका अधिकारी प्रतीत होता है]। उस समय श्रद्धा आदिकी अपेक्षा न होना उचित भी है; क्योंकि ऐसे अवसरपर तो नाम ही दुर्लभ रहता है। इसलिये हमारे मतमें किसी भी वचनसे कुछ भी विरोध नहीं है। सब ठीक ही है।

सिद्धान्तपक्ष—पूर्वपक्ष नं० १ का खण्डन

इस प्रकार मध्यम श्रद्धावाले अधिकारियोंके मनका समाधान करनेके लिये अविरोध (समन्वय) के मार्गकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) करते हैं; किन्तु यथार्थ मार्ग दूसरा ही है। वह इस प्रकार है—स्मृति और पुराणोंके विरोधमें व्यवस्था आदिका समावेश नहीं है; क्योंकि इन दोनोंकी प्रामाणिकता एक-सी नहीं है। वेदसे ज्ञात हुए अर्थको ही व्यक्त करनेके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षिवाक्यानि खलु स्मृतयः; पुराणानि पुनर्वेदा एव; श्रीमहाभारते मानवीये च—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

इति वचनात्, पूरणात्पुराणमिति व्युत्पत्तेश्च । न चात्रावेदेन वेदस्य बृंहणं संभवति, न ह्यपरिपूर्णस्य कनककवलयस्य त्रपुणा पूरणं संभवति ।

ननु यदि वेदशब्दः पुराणमितिहासं चोपादत्ते तर्हि पुराण-

लिये अन्य पदोंद्वारा लिखित महर्षि-वाक्य 'स्मृति' कहलाते हैं; किन्तु पुराण तो साक्षात् वेद ही हैं । महाभारत और मनुस्मृतिमें भी—

"इतिहास और पुराणोंके द्वारा वेदकी वृद्धि करे ।"

इत्यादि वचनसे यही बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त '[वेदको] पूर्ण (विस्तृत) करनेके कारण पुराण कहलाते हैं' इस 'पुराण' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी इसी बातका समर्थन होता है । जो वेद नहीं है, उससे वेदकी वृद्धि नहीं हो सकती; सोनेके अपरिपूर्ण कड़ेकी पूर्ति शीशेके टुकड़ेसे नहीं की जा सकती ।

पूर्वपक्षी—यदि 'वेद' शब्द पुराण और इतिहासको भी ग्रहण करता है, तो इन प्रसिद्ध पुराणोंसे भिन्न किन्हीं और ही पुराणोंका अन्वेषण करना चाहिये । यदि कोई अन्य पुराण नहीं मिलते तो इन इतिहास-पुराणोंकी तो वेदसे अभिन्नता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन्यदेवान्वेषणीयम्; यदि तु न, न तर्हीतिहासपुराणयोरभेदो वेदेन।

उच्यते—विशिष्टैकार्थप्रतिपादकस्य पदकदम्बकस्यापौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रमभेदाद् भेदनिर्देशोऽप्युपपद्यते। अपि च साक्षादेव वेदशब्दः प्रयुक्तः पुराणेषु—

नहीं सिद्ध होती [क्योंकि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस वचनमें भेदका-सा निर्देश होनेसे सिद्ध होता है कि वेद इतिहास-पुराणोंसे भिन्न हैं] *

सिद्धान्ती—इसका उत्तर देते हैं—वेद और पुराण—दोनों एक ही विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाले पदोंके समूह हैं तथा दोनों ही अपौरुषेय हैं [अर्थात् दोनों ही किसी पुरुषके रचे हुए नहीं हैं] इस प्रकार इनमें परस्पर अभेद होनेपर भी स्वरभेद और क्रमभेद † होनेके कारण भेदनिर्देश भी ठीक ही है। इसके सिवा पुराण-अर्थमें साक्षात् वेद शब्दका भी प्रयोग हुआ है। यथा—

---

* पूर्वपक्षीका अभिप्राय यह है कि जैसे 'पानीसे दूध बढ़ाओ' इस कथनसे यह सिद्ध है कि पानी और दूध दोनों विभिन्न पदार्थ हैं, एक ही नहीं हैं; उसी प्रकार इतिहास-पुराणोंसे वेदकी वृद्धिका उल्लेख होनेके कारण यह जान पड़ता है कि दोनों दो वस्तु हैं। उक्त वचनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वेद शब्द पुराणोंका भी वाचक है।

† वैदिक मन्त्रोंमें उदात्तादि स्वरका नियम होता है, पुराणोंमें ऐसा नहीं है—यही स्वरभेद है। तथा वैदिक मन्त्रोंकी जैसी आनुपूर्वी है, वैसी पौराणिक वचनोंकी नहीं है—यही क्रमभेद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणं पञ्चमो वेदः·····················।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।

इत्यादौ; अन्यथा पञ्चमत्वं च नावकल्पेत, समानजातीयनिवेशित्वात् संख्यायाः। ब्रह्मयज्ञाध्ययने च विनियोगो दृश्यतेऽमीषां यद् "ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानीति, सोऽपि नावेदत्वे संभवति, अत एवाह भगवान्—

"पुराण पञ्चम वेद है" "इतिहास और पुराण पाँचवाँ वेद कहलाते हैं" "जिनमें महाभारत पाँचवाँ है उन वेदोंको पढ़ाया।"

इत्यादि। यदि यह बात न होती तो इतिहास-पुराणोंके पञ्चम वेद होनेकी कल्पना न की जाती; क्योंकि एक जाति (श्रेणी) के पदार्थोंमें ही संख्या-क्रमका समावेश होता है *। ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायमें भी जो इन पुराणादिकोंका विशेषरूपसे नियोग देखा जाता है; यथा—ब्राह्मणों (वेदके ब्राह्मण-भागों), इतिहासों और पुराणोंका स्वाध्याय करे इत्यादि, वह भी इतिहास-पुराणोंको वेद न माननेपर सम्भव नहीं है [क्योंकि ब्रह्मयज्ञमें केवल वेदका ही स्वाध्याय होता है]। इसीसे भगवान्ने स्वयं कहा है—

---

* यदि इतिहास-पुराण वेद न होते तो चार वेदोंके साथ इतिहास-पुराणको गिनकर 'पाँच वेद' नहीं कहा जा सकता था। जैसे पाँच अनारमें एक नारंगी डाल देनेसे 'छः अनार' नहीं कहा जा सकता। पानीसे दूध बढ़ानेका दृष्टान्त असंगत है; क्योंकि पानीसे दूध क्षीण होता है, बढ़ता तो पानी ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः ।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥

इति । पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय संकलयामीति हि तस्यार्थः । मात्स्यं कौर्ममित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिबन्धनाः, न तन्निर्माणनिबन्धनाः, काठकादिवत् । आनुपूर्वीनिर्माणनिबन्धना वा । अत एव श्रुतिपुराणविरोधे पुराणदौर्बल्यमानुपूर्वीभेदात्कदा-

---

"हे द्विजवरो ! मैं यह जानकर कि 'कालवशात् पुराणोंका ग्रहण नहीं हो रहा है [वे लुप्त-से हो गये हैं]' व्यासरूप धारण करके प्रत्येक युगमें उनका संग्रह करता हूँ ।"

इसका तात्पर्य यह है कि 'पूर्वसिद्ध पुराणोंका ही, उन्हें सुखपूर्वक जान लेनेके लिये, मैं सङ्कलन करता हूँ ।' मात्स्य और कौर्म आदि नाम तो [भगवान्के अवतार-भूत मत्स्य और कूर्म आदिके द्वारा उनका] प्रवचन होनेके कारण पड़े हैं, मत्स्य-कूर्म आदिकी रचना होनेके कारण नहीं । जैसे कठ-शाखाकी श्रुतियाँ कठके द्वारा संगृहीत होनेसे काठक कहलाती हैं । अथवा [मत्स्य आदिके द्वारा उन-उन पुराणोंकी] आनुपूर्वीका निर्माण होनेके कारण ही उनके मत्स्य आदि नाम हुए हैं । अतएव श्रुति और पुराणोंमें विरोध होनेपर पुराणोंको दुर्बल माना जाता है; क्योंकि आनुपूर्वीमें भेद होनेसे कदाचित् अर्थमें भी भेद हो सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिदर्थोऽप्यन्यथा स्यादिति, स्मृतिपुराणविरोधे पुनः पुराणान्येव बलीयांसि ।

एवं समुल्लङ्घितसकलशृङ्खलेषु यथास्वमेव स्वं स्वमर्थमभिदधानेषु पुराणवचनेषु मनागपि क्वचिदेकमवकाशमलभमानानां स्मृतीनां यदि नाम विषयसर्वस्वापहारः प्रसज्ज्येत, प्रसज्ज्यतां नाम; कथन्नु पुराणानामाञ्जस्यमुपमृद्य व्यवस्थापनप्रस्तावः । उक्तं हि नारदीये—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदः प्रतिष्ठितो देवि पुराणे नात्र संशयः ॥

है। परन्तु स्मृति और पुराणोंमें भेद होनेपर तो पुराण ही प्रबल हैं।

यदि कहें ऐसा माननेपर तो, जिन्होंने प्रेम-भक्तिके प्रतिबन्धक समस्त दोषोंको दूर कर दिया है और जो यथार्थरूपसे ही अपने-अपने अर्थका प्रतिपादन करते हैं उन पौराणिक वचनोंके रहते हुए एक वार भी कहीं अवकाश न पानेवाली स्मृतियोंके समस्त विषयोंके बाधका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि भले ही उनके बाधका प्रसङ्ग उपस्थित हो, किन्तु पुराणोंका स्वारस्य-भङ्ग करके व्यवस्थाका प्रस्ताव कैसे किया जा सकता है? नारदीय पुराणमें कहा है—

"हे सुमुखि! मैं पुराणार्थको वेदार्थसे भी अधिक मानता हूँ, हे देवि! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पुराणोंमें ही वेद प्रतिष्ठित है। पुराणको अन्यथा करनेवाला पशु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं प्राप्नुयात्कचित् ॥

इति । स्कान्दे च—

श्रुतिस्मृती हि नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना ॥
पुराणहीनाद्धृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ ।

पुराणेषु व्यवस्थापकवचनानां मुमुक्षुविषयत्वम्

ननु न वयं व्यवस्थापयामः; अपि तु पुराणवचनान्येव व्यवस्थापयन्ति 'तावत्कर्म्माणि कुर्वीत' इत्येवमादीनि ।

पक्षी आदि योनियोंमें जाता है, [पुराणोंको मिथ्या माननेवाला मनुष्य] यदि अत्यन्त दमनशील और शान्त भी हो तो भी उसे कहीं भी गति नहीं मिलती।"

इसी प्रकार स्कान्द पुराणमें भी कहा है—

"श्रुति और स्मृति दो नेत्र हैं और पुराण हृदय है। जो श्रुति और स्मृति दोनोंसे ही हीन है वह अन्धा है; तथा जो इनमेंसे एकसे रहित है वह काना है; परन्तु जो पुराणसे हीन होकर हृदयशून्य है उससे तो वे अन्धे और काने ही अच्छे हैं।"

न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्थाकी समीक्षा ।

पूर्वपक्षी—हम स्वयं व्यवस्था नहीं करते, अपि तु "तबतक कर्म करे" इत्यादि पुराणोंके वचन ही व्यवस्था करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवम्, तेषां मुमुक्षुविषयत्वात्, मुमुक्षौ च दशाभेदेन क्रियाभक्तिज्ञानानां समावेशो न विरुध्यत एव। यत्पुनर्नारदीयं वचनम्—"यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती" इति, तस्यापि न विश्वासपरिमाणप्रभाव इत्यभिप्रायः; "एतावानिति नैतस्य प्रभावः परिमीयते" इत्युत्तरार्धविरोधात्।

अथ परिमाणान्तरनिराकरणार्थं तत्, एवमप्यनर्थकं प्रसज्ज्येत;

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वे वचन मुमुक्षुविषयक हैं। और मुमुक्षुमें तो दशाभेदसे क्रिया, भक्ति तथा ज्ञानका समावेश होना विरुद्ध नहीं ही है। तथा जो "यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती"* यह नारद-पुराणका वचन है उसका भी यह अभिप्राय नहीं है कि 'कीर्तनके प्रभावकी मात्रा कीर्तनमें होनेवाले विश्वासकी मात्राके अनुसार ही है;' क्योंकि ऐसा माननेपर "एतावानिति नैतस्य प्रभावः परिमीयते"† इस उत्तरार्धसे विरोध होता है।

यदि कहें वह उत्तरार्ध [श्रद्धा और विश्वासकी मात्राके अनुसार ही कीर्तनके प्रभावकी भी मात्राका निश्चय करने तथा इस निश्चित मात्रासे भिन्न] और किसी परिमाण (मात्रा) का निराकरण करनेके लिये है, तो भी उसको व्यर्थ माननेका

---

* जिसको जितना विश्वास है उसको उतनी सिद्धि प्राप्त होती है।

† 'उसका इतना ही प्रभाव है', ऐसा कहकर उसके प्रभावको मापा नहीं जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतरपदार्थमहिम्नामपि स्वस्वपरिमाणातिरेकेण परिमाणान्तराभावात् । तस्मादयमर्थः—निरङ्कुश एव मन्त्रस्य प्रभावः, तथापि यस्य यावान् विश्वासः स तावत्येव मन्त्रं विनियुङ्क्त इति तस्य तावदेव फलमिति ।

ही प्रसंग उपस्थित होता है; क्योंकि [यहाँ प्रभावके निश्चित परिमाणसे भिन्न किसी अन्य परिमाणकी आपत्ति ही नहीं होती है] कीर्तनके अतिरिक्त भी जितने महत्त्वशाली पदार्थ हैं उनके महत्त्वकी भी जो निश्चित मात्रा है उसके सिवा दूसरी मात्राकी आपत्ति उनमें नहीं होती । [अतः प्रभावके निश्चित परिमाणसे इतर परिमाण (मात्रा) का निराकरण करनेके लिये कोई 'वचन' होना आवश्यक नहीं है] । इसलिये उक्त नारदीय पुराणके वचनका भाव यह है—मन्त्रका प्रभाव तो निरंकुश (निर्बाध) ही है, तथापि जिसको जितना विश्वास है वह उतनेहीमें मन्त्रका उपयोग करता है, अतः उसको उतना ही फल मिलता है ।*

---

* तात्पर्य यह है कि 'यस्य यावांश्च विश्वासः' इत्यादि वचनका अभिप्राय यह नहीं है कि 'श्रद्धा और विश्वासकी मात्राके अनुसार ही कीर्तनके प्रभावकी भी मात्रा है, इसलिये जिस पुरुषमें श्रद्धा नहीं है उसके किये हुए कीर्तनका कुछ फल ही नहीं है ।' उसका तात्पर्य तो यह है कि 'कीर्तन स्वतः अपरिमित फल देनेवाला है, तथापि जिसको जितनी श्रद्धा या जितना विश्वास है, अर्थात् जो यह समझता है कि कीर्तन या मन्त्र इतना-सा ही फल दे सकता है, वह उतनेके ही लिये मन्त्र या कीर्तनका उपयोग करता है; अतः उसके संकल्पानुसार उसे उतना ही फल मिलता है ।' जो उसके प्रभावको सीमित न करके श्रद्धा या अश्रद्धासे कीर्तन कर लेता है, उसे उसका पूरा फल अवश्य ही मिलता है; श्रद्धा न होनेसे फलमें बाधा नहीं आती ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धानिबन्धनव्यवस्थाया निराकरणम्

अपि च किं कीर्तनादौ प्रवृत्तिमात्रहेतुः श्रद्धा; किं वा कीर्त्तनादेः फलसाधनेऽन्तर्भवति ? तत्र यदि तावत्प्रवृत्तिमात्रहेतुस्तदान्तरेणापि श्रद्धां कीर्त्तनादौ प्रवृत्तस्य पापक्षयो भवेदेव, तस्यैव निरपेक्षसाधनत्वात्, अथ फलसाधनेऽन्तर्भवति, तर्हि तस्याः शास्त्रेण वा साधनत्वं प्रमीयते प्रमाणान्तरेण वा ? तत्र यदा शास्त्रेण तदा श्रद्धासहकृतं कीर्त्तनं पावनमित्युच्यते, तत्र पृच्छामः, सा सहकारिणी

इसके अतिरिक्त इस बातपर विचार करना चाहिये कि श्रद्धा कीर्तन आदिमें मनुष्यकी प्रवृत्तिमात्र करानेमें हेतु है अथवा उसका कीर्तन आदिके फलसाधनमें अन्तर्भाव है ?* यदि वह प्रवृत्तिमें ही कारण हो तब तो विना श्रद्धाके भी जो कीर्तन आदिमें प्रवृत्त हो चुका है उसका पापक्षय हो ही सकता है; क्योंकि [पापनाशमें] कीर्तन आदि ही निरपेक्ष (स्वतन्त्र) साधन है। और यदि उसका फलसाधनमें अन्तर्भाव है [यानी श्रद्धा होनेपर ही फल हो सकता है] तो यह प्रश्न उठता है कि उसका फलमें साधन होना शास्त्रसे प्रमाणित होता है या किसी अन्य प्रमाणसे ? यदि उसे शास्त्रसे प्रमाणित मानें तो यह कहा जायगा कि श्रद्धासहित किया हुआ क़ीर्तन ही पवित्र करनेवाला है। ऐसी दशामें हम

---

* फल-साधनमें अन्तर्भाव होनेका अर्थ यह है कि श्रद्धाके विना पापक्षयरूप फल हो ही नहीं सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धा कीर्त्तनमात्रमवलम्बते श्रद्धासहकृतं वेति ? न तावत् कीर्त्तनमात्रम्, तस्यासाधनत्वात् साधनविषयत्वाच्च श्रद्धायाः; साधनत्वे वा श्रद्धासहकारव्याघातः, अथ श्रद्धासहकृतं वेति, तत् किमात्मना सहकृतं श्रद्धान्तरेण वा ? न तावदात्मना तस्यैव विषयत्वं विषयित्वं चेति व्याघातात्, नापि श्रद्धान्तरेण तत्रापि विकल्पापातात्,

---

पूछते हैं कि वह सहकारिणी (साधनमें सहायता देनेवाली) श्रद्धा केवल कीर्तनका आश्रय लेती है या श्रद्धा-विशिष्ट कीर्तनका ? केवल कीर्तनका आश्रय लेती है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि केवल कीर्तन साधन नहीं है और श्रद्धा साधनको ही विषय करनेवाली है, यदि केवल कीर्तनको साधन कहें तो [जो विना श्रद्धाके भी कीर्तनमें प्रवृत्त हो चुका है उसके भी पापोंका क्षय होगा ही, इसलिये] श्रद्धाका सहकार (साथ-साथ होना) स्वीकार करना व्याहत (असंगत) हो जायगा। यदि कहें कि श्रद्धा श्रद्धाविशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है; तो यह सन्देह होता है कि क्या वह स्वयं अपनेसे ही विशिष्ट कीर्तनका अवलम्वन करती है या किसी अन्य श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनका ? अपनेसे ही विशिष्ट कीर्तनको अपना विषय बनाती है—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'वही विषय है और वही विषय करनेवाली भी है' ऐसा कथन [आत्माश्रय दोषसे युक्त होनेके कारण] विरुद्ध है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनको विषय करती है, क्योंकि वहाँ भी इस प्रकारके विकल्पकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदपि किं केवलमवलम्बते स्वसहकृतं श्रद्धान्तरसहकृतं वेति, तत्राद्ययोरुक्तो दोषः, तृतीयेऽपि श्रद्धान्तरं नाम किं प्रथमा श्रद्धा तृतीया वा ? न तावत्प्रथमा; अन्योन्याश्रयापातात्, द्वितीयश्रद्धा-निरूपणे हि तत्सहकृतालम्बना प्रथमा निरूप्यते प्रथमश्रद्धा-निरूपणे च तत्सहकृतालम्बना द्वितीयेति, अथ तृतीया सापि यदि द्वितीयासहकृतमालम्बते; आयातमन्योन्याश्रयत्वम्, प्रथमासहकृतं चे-च्चक्रकमापद्यते, प्रथमासहकृतं तृतीयालम्बते; तृतीयासहकृतं

आपत्ति है कि वह अन्य श्रद्धा भी केवल कीर्तनका आश्रय लेती है या स्वविशिष्ट कीर्तनका अथवा श्रद्धान्तरविशिष्ट कीर्तनका ? उनमें प्रथम दो पक्षोंमें दोष बतला चुके हैं। तृतीय पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि श्रद्धान्तर क्या वस्तु है ?—पहली श्रद्धा या तीसरी ? पहली तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उससे अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है [जो इस प्रकार है–] द्वितीय श्रद्धाका निरूपण होनेपर ही उससे विशिष्ट आश्रयवाली पहली श्रद्धाका निरूपण होता है और पहली श्रद्धाके निरूपण होनेपर ही उससे विशिष्टका आश्रय लेनेवाली द्वितीयाका निरूपण हो सकता है। यदि तृतीया श्रद्धा ही [श्रद्धान्तर है]—ऐसा मानें तो वह भी यदि द्वितीया श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है तब तो अन्योन्याश्रय दोषकी आपत्ति होती है, यदि प्रथमा-विशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है तो चक्रक दोषकी आपत्ति होती है; यथा—प्रथमासहकृत कीर्तनका आश्रय तृतीया लेती है, तृतीयासहकृत कीर्तनका अवलम्बन द्वितीया करती है और द्वितीयासहकृत कीर्तनका अवलम्ब प्रथमा लेती है। चौथी-पाँचवीं आदि श्रद्धाका सहकार मानें तो अनवस्था दोष-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीया; द्वितीयासहकृतं प्रथमेति, चतुर्थादिसहकृतत्वेऽनवस्थापातः, तस्मान्न शास्त्रेण श्रद्धायाः सहकारित्वावगतिः संभवति ।

ननु कीर्त्तनस्य कारणत्वविषयिणी श्रद्धा; न पुष्कलकारणत्वविषयिणी, अतः कीर्त्तनमात्रविषयत्वेऽपि तस्या न सहकारित्वव्याघातः ।

तदयुक्तम्, श्रद्धा हि 'साधनमिदं साध्यं न कदाचिद् व्यभिचरति' इति प्रत्ययः, स च पुष्कलकारण एवावकल्पते न कारणमात्रे, तस्माद्दुर्वार एवायं दोषः ।

की प्राप्ति होती है, इसलिये शास्त्रसे श्रद्धाके सहकारका ज्ञान सम्भव नहीं है।*

पूर्वपक्षी—श्रद्धा तो कीर्तनकी कारणताको ही अपना विषय बनाती है, पुष्कल-कारणताको नहीं, 'अतः श्रद्धा केवल कीर्तनको विषय करनेवाली है' ऐसा माननेपर भी 'वह कीर्तनके फल-साधनमें सहायक होती है' यह स्वीकार कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'यह साधन कभी साध्यसे पृथक् नहीं होता' ऐसा विश्वास ही श्रद्धा है; और ऐसा विश्वास पुष्कल कारणमें ही किया जा सकता है, कारणमात्रमें नहीं, अतः उक्त [चक्रकापत्ति और अनवस्था आदि] दोषका वारण करना कठिन ही है।

---

* उपर्युक्त कथनका निचोड़ इतना ही है कि कीर्तन स्वतन्त्ररूपसे पापक्षयका साधक है, श्रद्धा हो तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु न हो तो कीर्तनके फलमें कमी नहीं आ सकती। इसलिये पूर्वपक्षीका यह मत, कि श्रद्धासहित किया हुआ कीर्तन ही पापक्षयका कारण है, ठीक नहीं। शास्त्र और युक्तिसे श्रद्धाकी अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु शास्त्रतः कीर्त्तनादेरेव पावनत्वं विश्वासस्य तु प्रमाणान्तरावसेयं सहकारित्वम्, सोऽपि शास्त्रावगतं कीर्त्तनमात्रादेरेव पावनत्वमवलम्बते, तत्र च नोक्तो दोषः।

एवं तर्हि यस्मिन्नारोग्यादावन्वयव्यतिरेकौ दृश्येते विश्वासस्य तत्र सहकारित्वमस्तु; पापक्षयः पुनरतीन्द्रियत्वान्न श्रद्धाकिञ्चित्कारमपेक्षते।

ननु यद्यवगम्यते सहकारित्वमेकत्र श्रद्धायाः तर्हि शक्यत

पूर्वपक्षी—परन्तु शास्त्रसे तो कीर्तन आदिकी ही पावनता सिद्ध होती है, विश्वासकी तो प्रमाणान्तरसे निश्चित की हुई सहकारिता है, और वह (विश्वास) भी शास्त्रसे ज्ञात हुई कीर्तनमात्रादिकी पावनताका ही आश्रय लेता है, अतः वहाँ पूर्वोक्त दोष नहीं है।

सिद्धान्ती—यदि ऐसा कहते हो तो जिस आरोग्य आदिमें विश्वासके अन्वय-व्यतिरेक [अर्थात् विश्वास होनेपर आरोग्य-लाभ होना और विश्वास न होनेपर आरोग्य-लाभ न होना आदि] देखे जाते हैं वहाँ उसकी सहकारिता रहे, परन्तु पापक्षय तो इन्द्रियोंसे गम्य नहीं है, अतः वह श्रद्धाकी कुछ भी सहायता नहीं चाहता।

पूर्वपक्षी—यदि एक जगह श्रद्धाकी सहकारिता ज्ञात होती है तो अन्यत्र भी उसका अनुमान किया ही जा सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवानुमातुमन्यत्रापि, तथा हि—पापक्षयः श्रद्धादिसहित-साधनवान्; कर्मफलत्वात्, आरोग्यादिवत्।

तदयुक्तम्, कालात्ययापदिष्टत्वाद्धेतोः, अवशेनेत्यादिशास्त्रविरोधात्, सोपाधिकत्वाच्च; मानान्तरयोग्यत्वं हि तत्रोपाधिः, तस्य च

है। वह अनुमान इस प्रकार होता है—पापक्षय श्रद्धा आदि-सहित साधनवाला है; क्योंकि वह कर्मका फल है, जैसे आरोग्य होना आदि।

सिद्धान्ती—यह अनुमान असंगत है; क्योंकि 'अवशेनापि०' इत्यादि शास्त्रसे विरुद्ध होनेके कारण यहाँ [कर्मफलरूप] हेतु कालात्ययापदिष्ट* अर्थात् बाधरूप हेत्वाभाससे युक्त

---

* अनुमान-वाक्यमें सामान्यतः पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त—ये चार बातें होती हैं, उक्त अनुमान-वचनमें 'पापक्षय' यह पक्ष है, 'श्रद्धादि साधनसे युक्त होना' यह साध्य है, 'कर्मफल' हेतु है और 'आरोग्यादि' दृष्टान्त है। हेतुके बाधित होनेपर पक्षमें साध्यकी सिद्धि नहीं होती है, हेतुके बाधक पाँच दोष हैं, जो हेत्वाभास कहलाते हैं, उनके नाम ये हैं—अनैकान्तिक, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट। यहाँ कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभास है, इसीको बाध भी कहते हैं; इसका लक्षण इस प्रकार है—'साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः। (जहाँ पक्ष साध्यसे रहित हो वह हेतु बाध या कालात्ययापदिष्ट कहा गया है)।' यहाँ कर्मफल होनेके कारण पापक्षयको श्रद्धादि साधनोंसे युक्त सिद्ध करना है, परन्तु 'अवशेनापि' इस वचनके अनुसार यदि मनुष्य विवश होकर भी श्रद्धादिके बिना ही भगवान्‌का नाम उच्चारण कर ले तो वह पापसे मुक्त हो जाता है। नामोच्चारणसे होनेवाला जो पापक्षय है उसमें श्रद्धादि साधनका अभाव है; अतः यहाँ पापक्षयरूप पक्ष श्रद्धादिरूप साध्यसे रहित है इसलिये कर्मफलरूप हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक उपाधिः' इत्यस्मिन्नुदयननये

है, इसके अतिरिक्त यह हेतु सोपाधिक* भी है [इसलिये साध्यका साधक नहीं हो सकता]; मानान्तरकी योग्यता ही यहाँ उपाधि है। 'साधनमें व्यापक न होकर जो साध्यमें व्याप्त

---

* पूर्वोक्त हेत्वाभासोंमेंसे जो असिद्ध नामक हेत्वाभास है, वह तीन तरहका होता है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। जहाँ हेतु सोपाधिक (उपाधिविशिष्ट) हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। यहाँ पूर्वोक्त अनुमान-वाक्यमें जो कर्मफलरूप हेतु है वह उपाधिविशिष्ट है। मूलमें उपाधिका यह लक्षण बतलाया है कि 'जो साधनमें व्यापक न होकर साध्यमें व्यापक हो वह उपाधि है।' इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक अन्य उदाहरण दिया जाता है—जैसे कोई कहे कि 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' (पर्वत धूमसे युक्त है; क्योंकि वहाँ अग्नि है) तो वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग (गीली लकड़ी और आगका संयोग) उपाधि है; क्योंकि यहाँ धूम साध्य है, और धूम जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ अवश्य ही गीली लकड़ी और आगका संयोग होता है, इस प्रकार साध्यभूत धूममें तो आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि व्यापक है; परन्तु साधनभूत अग्निमें यह उपाधि व्यापक नहीं है। जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही यदि आर्द्रेन्धनसंयोग होता तो यह साधनमें भी व्यापक होता, परन्तु देखा यह जाता है कि तपाये हुए लोहेमें अग्नि तो है, पर वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। इस तरह यह आर्द्रेन्धनसंयोग साध्यभूत धूममें व्यापक होकर साधनभूत अग्निमें व्यापक न होनेके कारण उपाधि है तथा इससे युक्त हेतु सोपाधिक है; अतः यह अनुमान प्रामाणिक नहीं रहा। इसी प्रकार पापक्षयरूप कार्य श्रद्धादिसे युक्त साधनोंद्वारा होनेवाला है; क्योंकि वह कर्मफल है। जैसे आरोग्यादि। [औषधसेवनरूप कर्म करनेसे मनुष्य नीरोग होता है; अतः आरोग्य आदि कार्य कर्मफल है तथा श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ही औषध सेवन करनेसे आरोग्य-लाभ होता है; अतः श्रद्धादिसे युक्त औषध ही आरोग्यका साधन कहा जा सकता है] उपर्युक्त अनुमानके अनुसार श्रद्धायुक्त नाम-कीर्तन करनेसे ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युज्यत एवोपाधित्वम्, 'साध्यसमव्याप्तिः' इति तु मतान्तरे, व्यापकानु-

रहता है वह उपाधि है' इस उदयनाचार्यके न्यायानुसार उसका उपाधि होना उचित ही है। साध्यसम व्याप्ति (साध्यके समान जिसकी व्याप्ति हो वह) उपाधि है—इस

पापक्षय हो सकता है बिना श्रद्धाके नहीं। यदि उक्त अनुमान प्रामाणिक होता तो सचमुच ऐसा ही माना जाता, पर यहाँ तो कर्मफलरूप हेतु ही सोपाधिक होनेके कारण व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभाससे बाधित हो जाता है। मूलके कथनानुसार मानान्तरकी योग्यता ही यहाँ उपाधि है। जो शब्दादि किसी एक प्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी ज्ञात हो उसे मानान्तरयोग्य कहते हैं। जिस प्रकार वैद्यकशास्त्रीय शब्दप्रमाणसे जाना जाता है कि औषध-सेवनसे आरोग्य-लाभ होता है, परन्तु यह आरोग्यलाभ प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी सिद्ध है, औषध-सेवनसे दूसरोंका लाभ होते देखा गया है, अतः अपने लिये अनुमानतः आरोग्य-लाभ होनेका विश्वास होता है, अतएव औषधसेवनमें श्रद्धा होती है। इसलिये औषध-सेवनमें होनेवाली श्रद्धा शब्दप्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाणकी भी योग्यता रखती है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी श्रद्धा होती है, वहाँ-वहाँ प्रमाणान्तरकी योग्यता होती है। उपर्युक्त अनुमान-वाक्यमें श्रद्धा ही साध्य है, उसमें मानान्तर-योग्यतारूप उपाधि व्यापक है—यह बात स्पष्ट हो गयी। अब देखना चाहिये हेतुमें भी मानान्तरयोग्यता व्यापक है या नहीं? यहाँ हेतु है कर्मफल। यद्यपि आरोग्यादि कर्मफलोंमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी पहुँच होनेसे कर्मफलमें भी मानान्तर-योग्यता देखी जाती है, तथापि वह उसमें पूर्णतया व्यापक नहीं है, क्योंकि पापक्षयरूप जो कर्मफल है वह प्रत्यक्ष या अनुमानसे नहीं जाना जा सकता। वह तो शब्दप्रमाणसे ही जाना जाता है। अतः मूलोक्त लक्षणके अनुसार साध्यमें व्यापक होकर साधनमें अव्यापक होनेके कारण यहाँ हेतु मानान्तर-योग्यतारूप उपाधिसे युक्त होकर बाधित हो जाता है, इसलिये उक्त अनुमान अप्रामाणिक रहा, अतएव नाम-कीर्तनमें श्रद्धाकी अनिवार्यता नहीं सिद्ध हुई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पलब्धिलिङ्गकानुमानबाध एवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

का तर्हि गतिः "श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादीनाम् ?

अन्य मतमें तो व्यापककी उपलब्धि न होनेके कारण अनुमानका बाध ही हो जायगा* । अब इस विषयमें अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

पूर्वपक्षी—[यदि ऐसी बात है] तो "श्रद्धारूपी धनसे सम्पन्न होकर आत्मामें ही आत्माको देखे" इत्यादि वाक्योंकी क्या दशा होगी ?

---

* अन्य मतमें जो उपाधिका लक्षण दिया गया है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जहाँ-जहाँ साध्य हो वहाँ-वहाँ जो साध्यके साथ ही व्याप्त हो वह उपाधि है । यहाँ श्रद्धा आदि साध्य हैं, और जहाँ-जहाँ श्रद्धादि हैं वहाँ-वहाँ यदि मानान्तरयोग्यत्व भी हो तो वह साध्यके साथ पूर्णतया व्यापक हो सकता है। यद्यपि अन्य आरोग्यादि कर्मफलोंमें श्रद्धादि साधनके साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरोंसे ज्ञात होनेकी योग्यता भी प्राप्त होती है परन्तु 'पापक्षय' में यह बात देखनेमें नहीं आती । 'पापक्षय' रूप कर्मफलमें श्रद्धादि साधन तो है परन्तु वहाँ शब्दातिरिक्त अन्य प्रमाणकी पहुँच नहीं है [अर्थात् शास्त्रीय वचनसे ही पापक्षय होना जाना जाता है, प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता।] इसलिये वहाँ मानान्तरयोग्यत्वरूप व्यापककी उपलब्धि न होनेके कारण पूर्वोक्त अनुमानका बाध हो जायगा। बाधक अनुमानका वाक्य इस प्रकार होगा—'पापक्षयो न श्रद्धादिसहितसाधनवान् तथार्थे मानान्तरायोग्यत्वात् ।' अर्थात् पापक्षय श्रद्धा आदिसे युक्त साधनवाला नहीं है; क्योंकि उसके वैसा होनेमें किसी अन्य प्रमाणकी योग्यता नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—न तत्र श्रवणादिविधिवाक्यार्थविषयिणी श्रद्धा श्रवणादेः सहकारित्वेन विधीयते, किन्तर्हि ? तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविषयिणी, सा च न प्रतीचः परत्वे वाक्यार्थेऽन्त-

---

सिद्धान्ती—बतलाते हैं—[श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् (अभयपदके इच्छुकोंको भगवान्के नामोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये)] इत्यादि श्रवण तथा कीर्तनादिसे सम्बन्ध रखनेवाले जो विधिवाक्य हैं, उनके अर्थको विषय करनेवाली श्रद्धाका यहाँ श्रवणादिकी सहकारिणीरूपसे [अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदिमें साथ-साथ श्रद्धाका रहना आवश्यक है—इत्यादिरूपसे] विधान नहीं किया जाता तो किसका विधान किया जाता है ? 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू ही है) इत्यादि वाक्योंके अर्थको विषय करनेवाली श्रद्धाका ही यहाँ विधान किया जाता है* वह (तत्त्वमसि आदि वचनोंके अर्थको विषय करनेवाली) श्रद्धा भी 'जीवात्मा ही परब्रह्म है' इस अभिप्रायवाले [तत्त्वमसि आदिके] वाक्यार्थमें अन्तर्भूत (अन्वित) नहीं होती अपि तु ब्रह्म और आत्माके एकत्वका निश्चयात्मक ज्ञान करानेके लिये

---

* अर्थात् 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' आदि वाक्यका यह अभिप्राय है कि 'जीव और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंपर विश्वास करके अपनेमें ही ब्रह्मभावकी अनुभूतिका प्रयत्न करना चाहिये।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवति; अपि तु प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन बहिरेवावतिष्ठते, न च तत्रोक्तदोषप्रसङ्गः, "श्रद्धयाग्निः समिध्यते" इत्यादि तु प्रवृत्तिहेतोः श्रद्धायाः स्तावकप्रवृत्तिं विना पुरुषार्थस्यैवासिद्धेः।

ननु यदि प्रवृत्तिहेतुः श्रद्धा, आयातमधिकारिविशेषणत्वं श्रद्धायाः ?

एक सहकारी साधनके रूपमें वाक्यार्थसे बाहर ही रहती है* इसलिये वहाँ [कीर्तनादिमें श्रद्धाका होना स्वीकार किये विना 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' आदि वाक्य व्यर्थ होते हैं इत्यादि] पूर्वोक्त दोषकी आपत्ति नहीं है। "श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित होती है" इत्यादि वचन तो इसलिये कहे गये हैं कि श्रद्धा उस (यागादि) में प्रवृत्ति करानेका हेतु है; अतः उसके प्रशंसक वाक्योंका उपयोग किये विना पुरुषार्थमें किसीकी स्वतः प्रवृत्ति न होनेके कारण पुरुषार्थ ही असिद्ध हो जायगा।

पूर्वपक्षी—यदि श्रद्धा प्रवृत्ति करानेमें हेतु है, तब तो 'वह (श्रद्धा) अधिकारीका विशेषण है [अर्थात् किसी भी कर्ममें श्रद्धावान्‌का ही अधिकार है]' यह बात स्वतः सिद्ध हो गयी।

---

* 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यः' इत्यादि वाक्यमें तो श्रद्धाका वाक्यार्थमें अन्तर्भाव (अन्वय) हो सकता है, जैसे श्रद्धया श्रोतव्यः (श्रद्धापूर्वक श्रवण करे) आदि। परन्तु 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके 'वह ब्रह्म तू ही है' आदि अर्थमें श्रद्धाका अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि 'श्रद्धापूर्वक या श्रद्धासे वह ब्रह्म तू है' इत्यादि कथन नहीं बनता। इसलिये यहाँ श्रद्धाके विधानका इतना ही तात्पर्य है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यपर श्रद्धा करनेसे धीरे-धीरे ब्रह्मात्मैक्यका निश्चय होता है, इस प्रकार श्रद्धा उक्त निश्चयमें सहायक होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवम्, अशाब्दत्वात् ।

नन्वशाब्दमपि सामर्थ्यवद् विद्वत्तावच्चाधिकारिविशेषणं भवत्येव शब्दापेक्षितत्वात्, श्रद्धा च शब्दापेक्षिता भवति, असमर्थस्याविदुषोऽश्रद्दधानस्यानुष्ठानायोगात् । अतोऽधिकारिविशेषणमेव श्रद्धेति ।

सिद्धान्ती—ऐसा न कहो, क्योंकि यह बात [स्मृति या पुराणोंके] शब्दसे नहीं निकलती ।

पूर्वपक्षी—शब्दतः प्रतिपादित न होनेपर भी सामर्थ्य और विद्वत्ताकी भाँति शब्दसे अपेक्षित होनेके कारण श्रद्धा भी अधिकारीका विशेषण हो ही सकती है। शब्दसे श्रद्धाकी भी अपेक्षा प्रतीत होती है; क्योंकि असमर्थ, अविद्वान् और अश्रद्धालु पुरुष विधिके अनुष्ठानमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा अधिकारीका विशेषण ही है।*

---

* पूर्वपक्षीका अभिप्राय यह है कि यद्यपि किसी वचनमें प्रायः यह स्पष्टरूपसे नहीं कहा गया रहता है कि, वही पुरुष कर्म करे जो उसे करनेमें समर्थ हो और उसे जानता हो, तथापि असमर्थ और अनजान पुरुष उस कर्मको कर ही नहीं सकता, इसलिये उस वचनसे अपेक्षित होनेके कारण यह नियम स्वीकार किया जाता है कि समर्थ और जानकार पुरुष ही कर्म करे। इसी प्रकार 'कीर्तनादिमें श्रद्धालुका ही अधिकार है' ऐसा स्पष्ट वचन न होनेपर भी श्रद्धाहीन पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये उक्त नियम स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि सामर्थ्य और जानकारीकी भाँति श्रद्धाकी भी अपेक्षा शब्दसे प्रतीत होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असार्वत्रिकमेतत्; यद्धि बहुलाङ्गं—बहुधनसाध्यं वा बहुकालव्यापि वा स्वरूपेण वा दुष्करं कर्म तत्र न कश्चिदपि श्रद्धां विना प्रवर्तत इति भवत्यधिकारहेतुः श्रद्धा, यत्र पुनः सुकरे कीर्तनादौ प्रकारान्तरेणापि प्रवृत्तिः संभवति तत्रानुपपत्तेरभावादश्रुतत्वाच्च नियमपरिकल्पनायोगान्नैवाधिकारहेतुः श्रद्धेति।

भक्तिनिमित्तकव्यवस्थायाः प्रत्याख्यानम्

भक्तेरप्यधिकारिविशेषणत्वं न संभवति, सा हि श्रवणादिनव-

सिद्धान्ती—यह नियम सर्वत्रके लिये नहीं है, जो कर्म बहुत-से अङ्गोंवाला, अधिक धनसे सिद्ध होनेयोग्य, अधिक समयतक चालू रहनेवाला अथवा स्वरूपसे ही दुष्कर है, उसमें श्रद्धाके विना कोई प्रवृत्त नहीं होता, इसलिये वहाँ श्रद्धा अधिकारमें हेतु होती है। परन्तु जिस कीर्तन आदि सुकर कार्यमें श्रद्धाके विना ही दूसरे प्रकारसे भी प्रवृत्ति होनी सम्भव है वहाँ श्रद्धाके अनिवार्य होनेका नियम करना उचित नहीं है; क्योंकि वैसा नियम न करनेपर भी कोई अनुपपत्ति नहीं दीख पड़ती और किसी वचनद्वारा उस नियमका श्रवण भी नहीं होता है। इसलिये श्रद्धा [कीर्तनादिमें] अधिकारका कारण नहीं हो सकती।

इसी प्रकार भक्तिको भी अधिकारीका विशेषण मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि [विशेषण माननेके पहले यह विचार लेना आवश्यक है कि यहाँ भक्तिका स्वरूप क्या है?] क्या श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकारोंसे भगवान्‌का भजन करना ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधभजनलक्षणा भावलक्षणा वा ? न तावद् भजनलक्षणा तस्यामेवाधिकारहेतोर्जिज्ञासितत्वात्, नापि भावलक्षणा; सा हि फलं निमित्तं वा ? तत्र यदि फलम्, काम्यमानतयैव तस्या अधिकारिविशेषणत्वं न स्वरूपेण, तथा च सति भक्तिकामस्याधिकारः स्यान्न भक्तस्य। न च तस्याप्यधिकारः, ब्रह्महादेर्हननादिजनितदोषनिरासार्थिनोऽधि-

---

भक्तिका स्वरूप है ? या वह भावरूपा है ? नवविध भजन तो उसका स्वरूप हो नहीं सकता; क्योंकि उसीमें अधिकार होनेके हेतुकी जिज्ञासा हुई है [अर्थात् 'श्रवण-कीर्तनादिमें भक्तिमान्का ही अधिकार है' इस कथनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि, भक्ति कीर्तनादिसे भिन्न कोई वस्तु है जिससे युक्त होनेपर ही मनुष्यका कीर्तनादिमें अधिकार हो सकता है, यदि कीर्तनादि नवविध भजनको ही भक्तिका स्वरूप मानें तो वह कीर्तनादिरूपा भक्ति स्वयं अपनेमें ही अधिकारका हेतु कैसे हो सकती है ?]। वह भक्ति भावरूपा भी नहीं है; क्योंकि वैसा माननेपर यह प्रश्न उठता है कि भावरूपा भक्ति श्रवण-कीर्तनादिका फल है या निमित्त ? यदि फल है तो कामनाका विषय होनेके कारण ही वह अधिकारीका विशेषण हो सकती है, स्वरूपसे नहीं। ऐसी दशामें भक्तिकी कामना करनेवालेका ही उसमें अधिकार हो सकता है भक्तका नहीं। भक्तिकी कामनावालेका भी उसमें अधिकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतत्वात् । न च भक्तिकामाधिकारे दोषनिरासोऽप्यन्तर्भवति, अक्षीणदोषस्य भक्तेरनुदयात्—

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।

इति वचनादिति वक्तव्यम्, तस्य द्वारमात्रत्वेनानुद्देश्यत्वात् ।

ननु तर्हि निमित्तं भक्तिः श्रवणादिविधेः; तत्र च तस्याः

नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हत्या आदि दोष दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्महत्यारे आदिका वहाँ अधिकार बताया गया है। यदि कहो—

"जिनके पाप क्षीण हो गये हैं उन मनुष्योंकी ही श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति होती है।"

इस वचनके अनुसार जिसके पाप क्षीण नहीं हुए हैं उसमें भक्तिका उदय ही नहीं हो सकता; अतः भक्तिकी कामनावालेके अधिकारमें दोष-निराकरणका भी अन्तर्भाव हो जाता है। [अर्थात् जब पाप क्षीण हुए बिना भक्ति हो ही नहीं सकती तो जिसे भक्तिकी कामना है उसे पापक्षयकी कामना भी है ही; अतः पापक्षयकी कामनावालेका अधिकार भी भक्तिकामोंके अधिकारके अन्तर्गत ही है] तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि पापक्षय भक्तिका द्वार (विधेय) मात्र ही है, उद्देश्य नहीं। ['पापक्षय होनेपर ही भक्ति होती है' इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि पापक्षय उद्देश्य है और भक्ति विधेय, पर यह मत मान्य नहीं है]।

पूर्वपक्षी—तब तो भक्ति श्रवणादि विधिकी निमित्त सिद्ध होती है और भक्ति तथा पापक्षयकी कामना—ये दोनों साथ-ही-साथ उस (श्रवणादि) में अधिकारके हेतु निश्चित होते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयकामनायाश्च संवलितयोरधिकारहेतुता जातेष्टाविव पुत्र-जन्मनः तत्पूतत्वादिकामनायाश्च ।

इदमप्यसाधीयः, भक्तेरेव श्रवणाद्यनुष्ठानात्प्रागसिद्धेः, यथोक्तं श्रीभागवते—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

हैं। जैसे जातेष्टि [यानी पुत्र उत्पन्न होनेपर उसकी शुद्धि आदिके लिये किये जानेवाले जातकर्म-संस्कार] में पुत्र-जन्म और उसकी शुद्धि आदिकी कामना—ये दोनों साथ-ही-साथ उसमें अधिकारके हेतु माने गये हैं।

सिद्धान्ती—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ['जातेष्टि' शब्दके 'पुत्रे जाते या इष्टिः' इस विग्रहमें सप्तमी विभक्तिसे यह बात ज्ञात होती है कि पुत्रके जन्म लेनेपर ही उसकी शुद्धिके लिये जातकर्म-संस्कार होता है; अतः पुत्रका जन्म और उसकी शुद्धि आदिकी कामना—ये दोनों साथ ही अधिकारके हेतु निश्चित होते हैं, परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यदि भक्ति होनेपर ही श्रवणादिका अनुष्ठान होता है—ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि] श्रवणादि विधिके अनुष्ठानसे पहले भक्ति ही सिद्ध नहीं होती; जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

"जिनका श्रवण और कीर्तन पावन है, जो संतोंके सुहृद् हैं, वे भगवान् कृष्ण अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें रहते हुए उनके अशुभोंका नाश करते हैं।" "इस प्रकार सदा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitisaqtion by eGangotri

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

अत एवेदमपि प्रत्युक्तं यद् भावोदयादुपरितनानां पापानां भगवद्भजनं प्रायश्चित्तम्, प्राचीनानां तु स्मार्तमिति, श्रवणादिधौतपापस्यैव भावोदयप्रतिपादनात् । नष्टप्रायेति च नष्टानामप्यभद्राणां सत्सु कामादिषु पुनः पुनरुद्भवात् तन्निवृत्तेश्च भावैकसाध्यत्वात् ।

भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे जब मनुष्यके अशुभ कर्म प्रायः नष्ट हो जाते हैं तब पुण्यश्लोक भगवान्में नैष्ठिकी भक्ति होती है ।"

इसीसे, जो ऐसा मानते हैं कि 'भगवद्भजन भावोदयके बाद होनेवाले पापोंका ही प्रायश्चित्त है, उसके पहलेके पापोंके लिये तो स्मृति-कथित प्रायश्चित्त ही कर्तव्य है ।' उनके मतका भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि श्रवणादिसे जिसके पाप धुल गये हैं उसी पुरुषमें भावोदय होना कहा गया है । [अतः यदि उपर्युक्त मत मान लिया जाय तो 'भावका उदय होनेपर ही श्रवणादिरूप भजनमें प्रवृत्ति होगी और श्रवणादिरूप भजनसे ही भावका उदय होगा' इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषकी आपत्तिका वारण नहीं हो सकता] 'नष्टप्रायेषु' इसके द्वारा यह कहा गया है कि 'कामादिके रहनेपर नष्ट हुए अशुभोंकी भी पुनः प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिये कामादिकी भी निवृत्ति एकमात्र भावसे ही साध्य है ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

इति वचनात्।

प्रीतेरधिकारहेतुत्वखण्डनम्

ननु तर्हि नैष्ठिकी भक्तिरास्ताम्, तस्याः श्रवणाद्यभ्यासपटिमसाध्यत्वात्; प्रीतिमात्रं पुनः प्रागपि जन्मान्तरसंस्कारवशात्संभवतीति तस्यैवाधिकारहेतुतेति।

तदसत्, प्रमाणाभावात्। "सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्"

"उस समय (भावोदय हो जानेपर) रजोगुण और तमोगुणके कार्य जो काम और लोभ आदि हैं उनसे चित्त प्रभावित न होकर शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हो प्रसन्न (निर्मल) हो जाता है।"

—इस वचनसे यही बात सिद्ध होती है।

पूर्वपक्षी—[यदि ऐसी बात है] तो नैष्ठिकी भक्ति अलग रहे; क्योंकि वह श्रवणादिका प्रौढ अभ्यास करनेसे ही साध्य हो सकती है। परन्तु प्रेममात्रका होना तो जन्मान्तरके संस्कारवश श्रवणादिके पहले भी सम्भव है, अतः वही श्रवणादिमें अधिकार होनेका हेतु रहे।

सिद्धान्ती—यह कथन असङ्गत है; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस विषयमें "जो सब प्रकार भगवान्में भावयोग (भावभक्ति) करते हैं", "जो अन्य भावनाएँ त्याग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः" इत्यादि तत्र प्रमाणम्, तच्च नैष्ठिकीमेवावलम्बते ।

भावरूपाया भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वस्य निराकरणम् प्रसङ्गान्महद्दर्शनमाहात्म्यवर्णनं च

यत्तु यन्नामकीर्त्तनं भक्त्येति; तस्यापि न कीर्त्तनाङ्गं भक्तिरित्यर्थः, गुणफलाधिकारो हि सः, स्वत एव पापक्षयसाधनं कीर्त्तन-

---

कर भगवान्‌के चरणोंको भजता है उस प्रिय भक्तके हृदयमें स्थित होकर भगवान् परमेश्वर उसके दुष्कर्म-जन्य दोषोंको दूर करते हैं" इत्यादि वचन ही प्रमाणरूपमें उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे नैष्ठिकी भक्तिका ही आश्रय लेते हैं [केवल प्रीतिको विषय नहीं करते] ।

और ऐसा जो कहा है कि "यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् (जिनका भक्तिपूर्वक किया हुआ नामकीर्तन [सम्पूर्ण पापोंका] सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है)" इसका भी यह अर्थ नहीं है कि 'भक्ति कीर्तनका अङ्ग है [इसलिये भक्तिपूर्वक किया हुआ नामकीर्तन ही पापक्षयादि फलका साधक हो सकता है]।' वह तो गुणयुक्त फलका अधिकार बताया गया है [अर्थात् यह कहा गया है कि भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन करनेसे उसके फलमें विशेष्यता होती है]। तात्पर्य यह कि जो स्वतः ही पापक्षयका साधन है उस कीर्तनरूप कर्मका आश्रय लेकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्माश्रित्य फलगतातिशयमुद्दिश्य भक्तेर्विधानादनुत्तमं विलापनमिति; "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इतिवत्। फलगतातिशयश्चात्र पापकारणानां रागादीनां निवृत्तिः, रागादिनिवृत्तेर्भक्तिसाध्यत्वस्याभिधानात्। "केचित्केवलया भक्त्या" इत्यत्रापि भजनक्रियैव भक्तिः; न भावः, तस्या एवाप्र-

---

फलमें विशेष्यता लानेके उद्देश्यसे भक्तिका विधान किया गया है, अतः जिस प्रकार [छान्दोग्योपनिषद्में] कहा है कि [यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कर्म करते हैं तथापि मनुष्य] "जिसी कर्मको उसकी जानकारी प्राप्त करके श्रद्धा और मनोयोगपूर्वक करता है वही अत्यन्त प्रबल होता है" उसी प्रकार यहाँ भी [यद्यपि कीर्तन स्वतः ही समस्त पापोंका विलापन (नाशक) है तथापि भक्तिका योग होनेसे फलमें विशेष्यता होती है; अतएव] "अनुत्तमं विलापनम्—पापनाशका परम उत्तम साधन है"—ऐसा कहा गया है। पापके कारणभूत रागादि दोषोंका दूर हो जाना ही यहाँ फलमें विशेष्यता है; क्योंकि रागादि-निवृत्ति भक्तिसे ही साध्य बतलायी गयी है। "केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः" इस वाक्यमें भी कीर्तनादिरूप भजन-क्रिया ही भक्ति कही गयी है भाव नहीं; कारण यह कि प्रकरण समाप्त होनेतक भजन-क्रियारूप भक्तिका ही विस्तार दिखलाया गया है।

---

१. कुछ वासुदेवपरायण पुरुष केवल भक्तिसे ही [अपने पाप नष्ट कर देते हैं]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करणसमासैः प्रपञ्चनात्। 'वासुदेवपरायणाः' इत्यत्रापि न भावः, कैवल्यविरोधात्।

ननु समानवाक्योपात्तस्य भावस्य व्यवच्छेदायोगात् तदतिरिक्तसाधनव्यवच्छेद एव कैवल्यम्।

'वासुदेवपरायणाः' इसमें भी भावका कथन नहीं है; क्योंकि ['केचित् केवलया भक्त्या' के] केवल पदसे उसका विरोध है [यदि भावका ग्रहण मान लें तो भाव और भजन-क्रिया दोनोंसे पापक्षय होनेके कारण 'केवल भक्तिसे' यह कथन विरुद्ध पड़ेगा]।

पूर्वपक्षी—[यदि 'भक्त्या' और 'परायणाः' शब्द दो वाक्योंमें होते तो दोनोंका अर्थ 'भजन-क्रिया' कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं थी, परन्तु यहाँ तो दोनोंका एक ही वाक्यमें प्रयोग है, अतः एक ही अर्थमें दो शब्दोंका प्रयोग व्यर्थ होनेके कारण दोनोंका दो अर्थ लेना आवश्यक है, ऐसी दशामें 'भक्ति' शब्दसे 'भजन-क्रिया' और 'वासुदेवपरायणाः' शब्दसे 'वासुदेवमें भाव (परा प्रीति) रखनेवाले भावुक भक्त' अर्थ लिया जा सकता है, इस प्रकार] एक वाक्यमें अर्थतः प्राप्त हुए 'भाव' को अलग करना असम्भव है, इसलिये ऐसा क्यों न मान लें कि भावयुक्त भजनके अतिरिक्त जो स्मृतिकथित प्रायश्चित्त आदि साधन हैं उन को पृथक् करना ही केवल शब्दका तात्पर्य है। [अभिप्राय यह कि भावुक भक्त केवल भजनसे ही पापक्षय कर लेते हैं, उन्हें स्मार्तप्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं पड़ती]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैवम्, श्रुतिविरोधिनो वाक्यस्य दुर्बलत्वात् । श्रुतिरिह केवलया भक्त्येति तृतीया । वासुदेवपरायणा धुन्वन्त्यघमिति तु वाक्यम् । अतो गर्भितोऽयं हेतुः—यस्माद्वासुदेवपरायणास्तस्मात्सकलमघं धुन्वन्तीति सर्वानुस्यूतः सर्वाधारश्च देवः परमयनमाश्रयो येषां तेषां सर्वेश्वरसनाथानामुचितमेव सर्वाघविजयित्वमिति भावः । अपि च स्वरूपेण तदाश्रयत्वे मुख्योऽयं शब्दः, भावस्य तु तदा-

---

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि श्रुतिविरोधी वाक्य दुर्बल होते हैं । यहाँ केवलया भक्त्या (केवल भक्तिसे) इस वाक्यमें जो तृतीया विभक्ति (करण कारक) है वही श्रुति है [अर्थात् पापक्षयके साधनरूपसे तृतीयाविभक्त्यन्त 'केवल भक्ति' शब्दका ही मुख्यतया श्रवण होता है] 'वासुदेव-परायणा अघं धुन्वन्ति (वासुदेवपरायण जन अपना पाप नष्ट करते हैं)' यह अंश तो वाक्य है [इसमें साधनका निर्देश नहीं है] इसलिये 'वासुदेवपरायणाः' यह हेतुगर्भ विशेषण है; यथा—'वे वासुदेवपरायण हैं, इसलिये अपने सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं ।' ['वासुदेवपरायणाः' का अर्थ यों है—] सबमें ओत-प्रोत और सबके आधारभूत देव (भगवान् वासुदेव) ही जिनके परम (उत्तम) अयन—आश्रय (सहारा) हैं, वे वासुदेवपरायण हैं । भाव यह कि जो सबके ईश्वर वासुदेवसे सनाथ हो चुके हैं उनका समस्त पापोंपर विजय पाना उचित ही है । इसके अतिरिक्त स्वरूपतः भगवान् वासुदेवका आश्रय लेनेके अर्थमें तो 'वासुदेवपरायणाः' शब्द मुख्य है, किन्तु भावके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लम्बनत्वे गौणः, तस्मान्न भावस्य कीर्त्तनाङ्गत्वे प्रमाणमिदम्।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।

इत्यत्रापि विषयसौन्दर्यादेव प्राप्तस्य रागस्मरणस्य सुकरत्व-प्रतिपादनार्थमनुवादः।

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥

भगवदाश्रित होनेके अर्थमें गौण है; [अतः मुख्यतः प्रतिपादित अर्थका ही ग्रहण करना उचित है] इसलिये भावको कीर्तनका अङ्ग बतलानेमें यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता।

"जिन्होंने एक बार भी यहाँ भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंमें उनके गुणोंमें अनुराग रखनेवाला अपना मन लगा दिया है..."

—इस वाक्यमें भी विषयभूत परमात्माके सौन्दर्यसे ही [अनुरक्त हुए पुरुषके लिये] प्राप्त रागपूर्वक स्मरणकी सरलता बतलानेके लिये 'भाव' का अनुवाद किया गया है।

"विद्वान् पुरुष इस प्रकार विचारकर निश्चय ही भगवान् अनन्तमें सब प्रकारसे अपना भाव (प्रेम) स्थापित करते हैं। वे मेरा दण्ड पाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि यदि उनमें पातक हो भी तो उसे उरुगाय (अनन्तकीर्ति) परमेश्वर-का नाम-कीर्तन नष्ट कर देता है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्रापि पातकाभावादेव दण्डानर्हत्वम् ; तदभावश्च तत्कारणाभावात्। अत एवोक्तमथ यद्यमीषां स्यात्पातकमिति । रागाद्यभावेऽपि यदि कथञ्चित्प्रमादात्पातकं स्यादित्यर्थः; तदपि हन्त्युरुगायवाद इत्यपि न भावसहकृतं कीर्तनम्, अपिशब्दान्न केवलं भावोदयात्प्राचीनमेव; अपि तूपरितनमपि पातकं हन्त्युरुगायस्य बहुभिधानस्यानन्तानन्दसुधासिन्धोर्बहुभिर्गीयमानस्य वा सकलजगत्प्रशस्य-

---

यहाँ भी पातक न होनेके कारण ही उनमें दण्ड पानेकी योग्यताका अभाव है और पापका अभाव उसके हेतु (रागादि) का अभाव होनेके कारण है। इसीसे 'यदि उनमें पातक हो' ऐसा कहा है। तात्पर्य यह कि रागादि न होनेपर भी यदि किसी प्रकार प्रमादवश पातक हो जाय तो। 'उसे भी उरुगाय (महायशस्वी भगवान्) का कीर्तन नष्ट कर देता है' यह कथन भी यही सिद्ध करता है कि भावके साथ कीर्तन नहीं [अपि तु केवल कीर्तन ही पाप नष्ट कर देता है]। 'अपि' शब्दसे यह व्यक्त होता है कि केवल भावोदयसे पूर्वके पापको ही नहीं, अपि तु बादके पापको भी नष्ट करता है । उरुगायका अर्थ है बहुभिधान—अनन्त आनन्दामृतके समुद्र अथवा जो बहुतोंके द्वारा गाये जाते हैं, समस्त संसार जिनके पावन यशकी स्तुति करता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुण्यकीर्त्तेर्वाद: कीर्त्तनम् । भावस्तु विद्यमानोऽप्युदास्ते, अतितुच्छत्वात्पापनिवृत्तेरिति हि तस्यार्थ: ।

ये देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधव: समदृशो भगवत्प्रपन्ना: ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्ता-
न्नैषां वयं त्वधिकृता: प्रभवाम दण्डे ॥

इत्यस्याप्ययमेवार्थ: । कथम् ? ये समदृश: सर्वात्मभावेन भगवन्तं पश्यन्ति, अतएव साधवो रागादिदोषरहितास्तान्नोपसीदत—तेषां समीपमपि मा यात, न ह्येषां वयं स्वामिन:, पापिनां हि निग्रहे

उन भगवान्का वाद—कीर्तन [पापको नष्ट कर देता है]। भाव तो विद्यमान होकर भी उदासीन रहता है; क्योंकि उसके लिये पापनिवृत्तिरूप फल बहुत तुच्छ है—यह उक्त वचनका भावार्थ है ।

ये देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधव: समदृशो भगवत्प्रपन्ना: ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्ता-
न्नैषां वयं त्वधिकृता: प्रभवाम दण्डे ॥

—इसका भी यही अर्थ है। किस प्रकार ? [सो दिखलाते हैं—] जो समदर्शी हैं; सर्वात्मभावसे (सब जीवोंके आत्मारूपसे) भगवान्को देखते हैं अतएव जो साधु—रागादि दोषोंसे रहित हैं उनके यहाँ गमन मत करना—उनके निकट भी मत जाना, हम उनके स्वामी नहीं हैं, क्योंकि पापियोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वयमधिकृताः, न तेषां पापगन्धोऽपि । अथ कथञ्चित्स्यात् पातकं तथापि वयं दण्डे न प्रभवामः, भगवत्प्रपन्ना हि ते, भगवत्प्रपदनेन कीर्त्तनादीनामन्यतमेन दास्यलक्षणेन वा भजनेनैव निरस्तपापाः, अतएव सकलजगत्प्रसिद्धां पापोत्पत्तिं प्रतिपद्यमानाः । श्रुतिपुराण-सिद्धान्तरहस्यगहनगर्भितां तु तन्निःसरणसरणिमविदुषां भवादृशां भ्रान्त्यापि कथञ्चिदुपगमनं स्यादिति हरेर्गदया सर्वतो गुप्तांस्तान्नो-पसीदतेति । अपि च देवानां मध्ये ये सिद्धा माहात्म्यविशेषसम्पन्नाः

निग्रह करनेके लिये ही हम अधिकारी बनाये गये हैं, उन महात्माओंमें तो पापका लेश भी नहीं रहता। यदि किसी प्रकार उनमें पाप हो तो भी उन्हें दण्ड देनेमें हम समर्थ नहीं हैं; क्योंकि वे भगवान्की शरणमें हैं, वे तो कीर्तन आदिमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर अथवा दास्यरूप भजनके द्वारा ही भगवान्की शरण जानेसे पापरहित हो गये हैं, इसीलिये समस्त विश्वमें प्रसिद्ध पापोत्पत्तिको वे जानते हैं। जो श्रुति और पुराणोंके सिद्धान्तभूत गहन रहस्यमें छिपी हुई है, उस पापोद्धार-पद्धतिको न जाननेवाले तुझ-जैसे यमदूतोंका भूलसे भी किसी प्रकार वहाँ जाना सम्भव है, इसलिये [हम जता रहे हैं कि] भगवान् विष्णुकी गदासे सब ओरसे सुरक्षित हुए उन लोगोंके पास न जाना। इसके अतिरिक्त देवताओंमें जो विशेष महत्त्वसे युक्त इन्द्र आदि सिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरन्दरादयः तैः स्वतःपूतैरप्यतिशयेन पूतत्वाय परिगीता पवित्रभूता गाथा येषां लक्षणापेतमपि यन्नामाङ्कितं पद्यं वा प्राकृतभाषारचितं वा तेषां पूतत्वे कतमः सन्देह इति ।

"स्वपादमूलं भजतः" इत्यत्र तु विविदिषावाक्यविनियुक्तात्कर्मणोऽन्यत्सर्वमेव मुक्तिविरुद्धं कर्म विकर्मशब्देनोच्यते, न निषिद्ध-

---

पुरुष हैं वे भी यद्यपि स्वतः पवित्र हैं तथापि और भी अधिक पवित्र होनेके लिये जिनकी पवित्र गाथाका अर्थात् जिनके लक्षणरहित नामाङ्कित पद्यका अथवा प्राकृतभाषारचित यशोग्रन्थका गान करते हैं उनके पवित्र होनेमें क्या सन्देह है ?

'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य...'* इस वाक्यमें तो विविदिषा[1] (जिज्ञासा) सम्बन्धी वाक्यमें नियुक्त [स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप आदि] कर्मोंको छोड़कर अन्य सभी मुक्तिविरोधी [सकाम आदि] कर्म 'विकर्म' शब्दसे कहे जाते हैं, केवल

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥

—इस श्लोकका अर्थ पहले मूलमें ही दिया जा चुका है ।

१. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'

यह विविदिषा (जिज्ञासा) वाक्य है, इसका अर्थ यों है—इस उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्मको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपस्यासे जाननेकी इच्छा करते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्ममात्रम्, तस्य कीर्त्तनादिमात्रान्निवृत्तेर्दर्शितत्वात् । श्रीपराशरसंहितायामपि "न चलति····" इत्यादिभिरुपलक्षितानां सततं मनसि जनार्दनं दधानानां पापहेतूनां रागादीनामुच्छेदो विवक्षितः, पापक्षयः पुनः कीर्त्तनमात्रात् ।

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

निषिद्ध कर्म ही नहीं; क्योंकि उसकी निवृत्ति तो कीर्तनमात्रसे ही दिखलायी जा चुकी है। श्रीपराशरसंहिता (विष्णुपुराण) में भी "न चलति निजवर्णधर्मतो यः···(जो अपने वर्णधर्मसे विचलित नहीं होता·····)" इत्यादि वचनोंद्वारा उपलक्षित (वर्णित) तथा मनमें सदा भगवान् जनार्दनको धारण करनेवाले भक्त पुरुषोंके पापके कारणभूत रागादिमात्रका ही [भावरूपा भक्तिसे] नाश बतलाना इष्ट है। पापका नाश होना तो यहाँ भी कीर्तनमात्रसे ही कहा गया है; जैसा कि इस [निम्नाङ्कित] वचनसे सिद्ध होता है—

[यमराज दूतको समझाते हुए कहते हैं—] "हे दूत ! [सुनो—] जो लोग 'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणीधर ! हे अच्युत ! हाथमें शङ्ख, चक्र धारण करनेवाले हे परमेश्वर ! आप मेरे शरणदाता हों'—इस प्रकार भगवान्को टेरते रहते हैं, उन पापरहित पुरुषोंको तू बहुत दूरसे ही त्याग देना।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति वचनात् । भक्तानां नरकपातस्यानाशङ्कनीयत्वादेव न तदर्थमयमारम्भः, अपि तु तत्रत्यासन्नजनवर्जनार्थम्; यदाह—"व्रज तान् विहाय दूरात्" "त्यज भट दूरतरेण तानपापान्" "व्रज भट दूरतरेण मानवानाम्" इति च, अतएवोपक्रमेऽपि "परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्" दूरत इति व्याख्येयम्। न च स्तुतिमात्रत्वमेषाम्, उपपत्तिमत्त्वात्। तथा हि—

सकलमिदमहञ्च वासुदेवः
परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥

भक्तोंके नरकमें गिरनेकी तो आशङ्का उचित ही नहीं है, अतः उन भक्तोंका त्याग बतानेके लिये इस वचनका आरम्भ नहीं हुआ है, अपितु जहाँ भक्त हों वहाँके आस-पासमें रहनेवाले लोगोंका त्याग बतलानेके लिये हुआ है; जैसा कि कहते हैं—"ऐ दूत ! उन्हें दूरसे ही त्याग कर चले जाना" "हे दूत ! उन पापरहित पुरुषोंको बहुत दूरसे ही त्याग देना" "उन मनुष्योंके बहुत दूरसे होकर जाना" इत्यादि। इसीलिये इस प्रसंगके आरम्भमें भी कहा है—"मधुसूदनकी शरणमें गये हुओंको छोड़ देना," यहाँ भी 'दूरसे ही छोड़ देना' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ये उद्धृत किये हुए वचन स्तुतिमात्र नहीं हैं, क्योंकि इनकी उपपत्ति देखी जाती है, जो इस प्रकार है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । अस्य अनन्ते श्रवणादिभिरावर्जिते हृदयगते सति तत्प्रसादादेवाहमिदमिति भोक्तृभोग्यरूपं सकलं जगद्वासुदेवो माययाच्छन्नचित्प्रकाश एव न तस्मादतिरिच्यते, स हि परमपुमान् पुरुषस्य निरुपाधिकं स्वरूपं परमेश्वरश्च सर्वाधिष्ठानं स एकः स्वरूपेण, एवं सजातीयविजातीयस्वगतभेदविरहान्नितान्तनिर्भेदं भगवत्तत्त्वमिति मतिरचला भवति येषां तान् दूराद्विहाय व्रज भट । तदवलोकनपरिपवित्रिता हि प्राणिनो नैवास्मद्गोचरे वर्त्तन्त

[इसका अर्थ यों है—] श्रवण आदि साधनोंसे आवर्जित (अधीन किये गये) भगवान् अनन्तके हृदयस्थित हो जानेपर उनके अनुग्रहसे ही "मैं' 'यह' इत्यादि भोक्ता-भोग्यरूप समस्त संसार वासुदेव ही है, इसकी ज्ञान-ज्योति मायारूप आवरणसे छिप गयी है, यह वासुदेवसे भिन्न नहीं है, वे वासुदेव परम-पुरुष हैं—पुरुषका निरुपाधिक स्वरूप एवं सबके अधिष्ठानभूत परमेश्वर—वे ही हैं, वे स्वरूपसे एक ही हैं [दो नहीं], इस प्रकार भगवत्तत्त्वमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद न होनेसे वह नितान्त भेदरहित है।'—ऐसी जिनकी स्थिर बुद्धि हो गयी है, हे दूत ! उन्हें दूरसे ही त्यागकर चले जाना; क्योंकि उनके दर्शनमात्रसे [अथवा दृष्टिपातसे] ही परम पवित्र हुए जो प्राणी हैं, वे हमलोगोंके अधिकारमें नहीं रहते—ऐसा इसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यर्थः । एतदेव स्पष्टीकृतम्—पुरुषवरस्य चैतस्य दृष्टिपाते न तव गतिरथ वा ममास्तीति, महद्दर्शनस्य च पावनत्वं प्रसिद्धमेव—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥

इत्यादौ ।

दर्शनं चात्र तत्कर्तृकं तत्कर्मकं वा, उभयस्यापि पावन-

तात्पर्य है । इस कथनके द्वारा इसी बातको स्पष्ट किया गया है कि इस श्रेष्ठ पुरुषकी दृष्टि जितनी दूरतक पड़ती है वहाँ तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं हो सकती ।

"केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं हैं [साधु पुरुष भी तीर्थ हैं] मिट्टी और पत्थरकी मूर्तियोंमें स्थापित देवता ही नहीं देवता हैं [साधु पुरुष भी देवता हैं], वे (जलमय तीर्थ और मूर्तिमय देवता) तो बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु साधु पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं [अतः वे उन तीर्थ और देवताओंसे बढ़कर हैं ।]"

इत्यादि वचनोंमें महात्माओंके दर्शनकी पावनता प्रसिद्ध ही है ।

[साधु पुरुष दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं] इसमें 'दर्शन' शब्दसे तत्कर्तृक[1] या तत्कर्मक[2] इन दोनों प्रकारके दर्शनोंका ग्रहण है; क्योंकि दोनों ही समानरूपसे पवित्र

---

१. जहाँ साधु पुरुष ही किसीको देखें, वहाँ दर्शन-क्रियाके कर्ता साधु ही हैं, अतः वह तत्कर्तृक दर्शन है । २. जहाँ साधु पुरुष दूसरोंके द्वारा देखे जायँ वहाँ दर्शन-क्रियाके कर्म साधु पुरुष हैं, अतः वह तत्कर्मक दर्शन है । साधुओंका दर्शन करनेवाले और साधुओंकी दृष्टिमें पड़नेवाले—दोनों ही तरहके पुरुष पवित्र हो जाते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वाविशेषाद्, "व्रज भट दूरतरेण तानपापान्" इत्यपि न स्तुतिपरम्, कमलनयनकीर्त्तनध्वनिर्हि सर्वतोविसारी कुड्यादिव्यवधानेऽपि वेधकश्च, अतस्तदन्तराले वर्तमानानामन्धबधिराणामपि सर्वेषामनङ्गुलिप्रेक्षणीयत्वात् तान् दूरतरेण व्रजेत्युपपन्न एव तरबर्थः। अपापानिति च न स्वगतपापाभावो विवक्षितः किन्तु परगतपापनिषेधकत्वं प्रयोजनवशात्।

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।

करनेवाले हैं। "व्रज भट दूरतरेण तानपापान्" यह भी स्तुतिपरक नहीं है, कारण कि कमललोचन भगवान् विष्णुकी कीर्तन-ध्वनि सब ओर फैलनेवाली और दीवारका अन्तर होनेपर भी उसे बेधकर पहुँचनेवाली है, इसलिये उसके अन्दर वर्तमान समस्त प्राणियों यहाँतक कि अन्धे और बहिरों-की भी ओर अंगुलीके इशारेसे भी देखना उचित नहीं है; इसलिये "उनसे दूरतर (बहुत दूर) होकर जाना" इस कथनमें ['दूरतर' शब्दके] तरप् प्रत्ययका [बहुत दूर] अर्थ युक्तियुक्त ही है। 'अपापान्' इस पदसे भी स्वगत पापका अभाव नहीं विवक्षित है, अपि तु स्वसमीपवर्ती दूसरोंके पापका निवारण करना ही विवक्षित है; क्योंकि दूसरोंके लिये ही उसका प्रयोजन है।

"हे दूत! यम और नियमसे जिनके पाप धुल गये हैं, जिनका चित्त नित्यप्रति भगवान् विष्णुमें लगा रहता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपगतमदमानमत्सराणां
व्रज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

इत्यत्रापि नियमे स्वाध्यायस्यान्तर्भावात् तस्य च परदेवता-प्रकाशकमन्त्रोच्चारणात्मकत्वाद् भक्त्यावेशवशादुच्चैरुच्चारणस्यापि सम्भवाद् विवक्षित एव तरबर्थः। उत्तमभागवतास्तु दुर्लभदर्शनास्तेषां हि बहिर्विरलः प्रचारः, प्रचरन्तोऽप्यनुपासितशरीरतया न सर्वरूप-

---

जिनके मद, मान और मात्सर्य दूर हो गये हैं उन मानवोंके बहुत दूरसे होकर जाना।"

—इस वचनमें भी तरप् प्रत्ययका ['बहुत दूरसे' यह] अर्थ विवक्षित ही है; क्योंकि नियमके अन्दर स्वाध्यायकी गणना है और स्वाध्यायका स्वरूप अपने इष्टदेवको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रका उच्चारण करना है; ऐसी स्थितिमें भक्तिके आवेशसे इष्टदेवके मन्त्रका जोर-जोरसे उच्चारण होना भी सम्भव है [अतः थोड़ी दूरके लोगोंके लिये तो उस उच्चारण-से ही पवित्र हो जानेकी सम्भावना है; इसलिये बहुत दूरसे होकर जाना आवश्यक ही है]। किन्तु जो उत्तम भगवद्भक्त हैं उनका तो दर्शन ही दुर्लभ है, क्योंकि उनका बाह्य जगत्में बहुत कम आना-जाना रहता है, यदि वे घूमते-फिरते भी हों तो भी सर्वसाधारणके द्वारा उनके शरीरकी उपासना की हुई न होनेके कारण वे सबको दिखायी नहीं देते। उनकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लभ्यन्ते, तेषामपि युगमात्रावलोकिनां कथंचित्कश्चिल्लोचनगोचर-मवतरतीति दूरादित्युक्तम् ।

> यस्य देवे च मन्त्रे च गुरौ च त्रिषु निश्चला।
> न व्यवच्छिद्यते भक्तिस्तस्य सिद्धिर्न दूरतः ॥

इत्यादौ तु सिद्धिरपवर्गादिलक्षणा; न पापक्षयलक्षणा, वचनान्तरानुरोधात् । तस्मात्केवलं कीर्त्तनादि पापक्षयहेतुः, न तत्र भक्तिरङ्गम्, अधिकारिविशेषणं वा ।

दृष्टि भी केवल दो ही हाथ आगेतक रहती है, अतः उनकी दृष्टिका विषय भी कोई कथंचित् ही हो पाता है, इसीलिये 'सकलमिदमहं च' इस श्लोकमें 'दूरतरेण' न कहकर 'दूरात्' यह कहा है।

"देवता, मन्त्र और गुरु इन तीनोंमें जिसकी अटल भक्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती उसको सिद्धि मिलना दूर नहीं है।"

इत्यादिमें तो अपवर्ग (मोक्ष) आदि सिद्धिका ही कथन है, पापक्षयरूप सिद्धिका नहीं; क्योंकि अन्य वचनोंकी सम्मति-से यही बात सिद्ध होती है। इसलिये केवल कीर्तन आदि ही पापक्षयके कारण हैं, भक्ति न तो कीर्तन आदिका अङ्ग है और न कीर्तनादिके अधिकारीका ही विशेषण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिधेयज्ञानस्य कीर्तनाङ्गतायाः प्रत्याख्यानम्

अभिधेयज्ञानमपि नाङ्गं प्रमाणाभावादेव।

ननु दर्शितं प्रमाणम्।

सत्यं दर्शितम्, न तु तदङ्गत्वे प्रमाणम्, "यद् व्याजहार विवशो" "हरिरित्यवशेनाह" "साङ्केत्यं पारिहास्यं वा" "हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः" "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते" "हरिरिति

इसी प्रकार कोई प्रमाण न मिलनेके कारण ही अभिधेय (कीर्तनीय परमेश्वर) का ज्ञान भी [कीर्तनादिका] अङ्ग नहीं है।

पूर्वपक्षी—प्रमाण तो [इस विषयमें] अनेकों दिखलाये गये हैं।

सिद्धान्ती—यह सत्य है, [कीर्तनके विषयमें] प्रमाण दिखलाये गये हैं, परन्तु वे [अभिधेय-ज्ञानके] कीर्तनका अङ्ग होनेमें प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि "यद्व्याजहार विवशो......" "हरिरित्यवशेनाह..." "साङ्केत्यं पारिहास्यं वा..." "हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः" "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते" "हरिरिति सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः" इत्यादि*

---

* ये सभी वचन, जो यहाँ प्रतीकरूपमें कहे गये हैं, पहले पूर्णरूपमें आ चुके हैं, और उन-उन स्थलोंपर इनका अर्थ भी लिखा जा चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः" इत्यादिबहुतरप्रमाणविरोधात्, न चैतेषामतत्परत्वम्, अभ्यासगतिसामान्याभ्यामित्यवादिष्म।

नन्वपिशब्दयोगादेषामतत्परत्वम्।

मैवम्, भागासिद्धत्वाद्धेतोः, "यद् व्याजहार विवशो" इत्यादावदर्शनात्।

बहुत अधिक प्रमाणोंसे विरोध है। इन वचनोंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है—ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि अभ्यास[1] और गतिसामान्यसे[2] इनका स्वार्थमें तात्पर्य सिद्ध होता है—यह हम बतला चुके हैं।

पूर्वपक्षी—परन्तु 'अपि' शब्दका योग होनेसे यह सिद्ध होता है कि इन वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; कारण यह है कि [अपि शब्दका योग होनेसे—यह] हेतु भागासिद्धि[3] दोषसे दूषित है, क्योंकि "यद्व्याजहार विवशो···" इत्यादिमें अपि शब्दका योग नहीं देखा जाता।

---

१. एक ही ग्रन्थमें किसी विषयकी बार-बार आवृत्तिको अभ्यास कहते हैं।

२. अनेकों ग्रन्थोंमें किसी विषयकी सामान्यरूपसे उपलब्धि होनेको 'गतिसामान्य' कहते हैं।

३. जहाँ साध्यकी सिद्धि करनी हो उसे पक्ष कहते हैं, साध्यमें जो हेतु होता है उसका पक्षतावच्छेदकमात्र [अर्थात् सम्पूर्ण पक्ष] में व्यापक होना आवश्यक है; यदि किसी पक्षमें वह व्यापक न हो तो भागासिद्धि दोषसे दूषित हो जाता है, ऐसी दशामें वह साधक नहीं होता। यहाँ ऊपर उद्धृत सभी वाक्योंको पक्षतावच्छेदक मानकर उनमें अविवक्षितस्वार्थत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु तत्राप्यध्याहार्योऽपिशब्दस्तदर्थस्य विवक्षितत्वात्, अन्यथा ज्ञानपूर्वककीर्त्तनस्यापावनत्वप्रसङ्गात् ।

तदयुक्तम्, न हि श्रुतबाधयाध्याहरन्ति, अपि तु श्रुतोपपत्तये।

पूर्वपक्षी–वहाँ भी 'अपि' शब्दका अध्याहार कर लेना उचित है; क्योंकि 'अपि' शब्दका अर्थ वहाँ विवक्षित है; अन्यथा ज्ञानपूर्वक किये हुए कीर्तनके अपावन (पवित्र न करनेवाला) होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।*

सिद्धान्ती–यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुत अर्थका बाध करनेके लिये अध्याहार नहीं किया करते, अपि तु श्रुतकी उपपत्ति (सिद्धि) के ही लिये करते हैं [तुम तो अपिके अध्याहारसे श्रुत अर्थको स्वार्थमें तात्पर्य न रखनेवाला

(स्वार्थमें तात्पर्यका अभाव) सिद्ध करना इष्ट है और इसके लिये 'अपि शब्दका योग' ही हेतुरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। यह हेतु 'यद्यथाजहार विवशः' इत्यादिमें व्यापक नहीं है, क्योंकि वहाँ अपि शब्दका प्रयोग नहीं है। अतः इसमें भागासिद्धि दोष है, इसलिये यह हेतु साधक नहीं हो सकता।

* 'अपि' शब्दका अध्याहार होनेपर यह भाव व्यक्त होता है कि बिना ज्ञानके विवश होकर भी किया हुआ कीर्तन यदि इतना पवित्र करनेवाला है तो ज्ञानपूर्वक और श्रद्धाके साथ किया हुआ कितना पावन होगा ? इस तरह जान-बूझकर किये हुए कीर्तनका महत्त्व अधिक सिद्ध होता है, यदि [भीका वाचक] 'अपि' शब्द न रहे तो उक्तरूपसे व्यञ्जना नहीं हो सकती, अतः जान-बूझकर किये हुए कीर्तनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं च सिद्धमेवावशात् कीर्त्तनस्य पावनत्वम्। अपि च, अपिशब्द-योगे तदपि स्यात्, न तु तदेवेत्येतावत्, न पुनस्तन्न भवत्येव।

नन्वपिशब्दयोगे तात्पर्यमन्यत्र स्यात्; अतात्पर्यविषये बाधकाभावसव्यपेक्षमेव प्रामाण्यम्, एषां च बाधकस्य विद्यमानत्वान्न प्रामाण्यमिति।

इदमसाधु, ज्ञानाख्यगुणविधायकं हि तस्य बाधकम्; न च

बताकर उसका बाध करते हो!]; इस प्रकार विवश होकर नामकीर्तनकी पावनता सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त 'अपि' शब्दका योग रहनेसे यही प्रकट होता है कि [जिसका 'अपि' शब्दसे आक्षेप होता है] वह भी हो सकता है, परन्तु यह व्यक्त नहीं होता कि केवल वही हो और जो श्रुत अर्थ है वह हो ही नहीं। [अतः विवश होकर और जान-बूझकर—दोनों ही प्रकारसे किया हुआ कीर्तन पवित्र करनेवाला है—यह सारांश हुआ]

पूर्वपक्षी—किन्तु 'अपि' शब्दका योग रहनेपर तात्पर्य अन्यत्र ही होगा और जिस विषयका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है उसमें बाधकके अभावकी अपेक्षा रखती हुई प्रमाणता रहती है, इन वाक्योंके बाधक विद्यमान हैं, अतः ये प्रमाणभूत नहीं हैं।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान नामक गुणका विधायक वचन ही उसका (पापक्षयरूप फल-वचनका)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"यतस्तद्विषया मतिः" इत्यादेर्विधायकत्वम्, उपपत्त्यर्थवादो ह्यसौ, सर्वानर्थनिर्बर्हणीं ब्रह्मविद्यामुत्पादयतः पापनिर्हरणे कियान् प्रयास इति। "नाम स्वस्त्ययनं हरेः"[1]इति स्वस्तिशब्देन मोक्षोऽभिधीयते, स्वस्तीत्यविनाशिनामेति नैरुक्ताः। मोक्षसाधनत्वं च न विधीयते पदार्थशक्तेरविधेयत्वात्, किन्तु सिद्धमेव सङ्कीर्त्यते श्रुतसाध्यत्वोपपत्त्यर्थम्, तद्वदत्रापि।

नन्वर्थवादाद्विधिः श्रेयान्।

बाधक हो सकता है। "जिससे भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है" इत्यादि वचन विधायक नहीं हैं अपि तु ये उपपत्तिमूलक अर्थवाद हैं। [किस प्रकार अर्थवाद हैं यह दिखलाते हैं—] जो भगवन्नाम समस्त अनर्थोंको निवृत्त करनेवाली ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति करनेवाला है, उसको पापनाश करनेमें कितना प्रयास करना पड़ेगा? "नाम स्वस्त्ययनं हरेः (भगवान्का नाम मोक्षका आश्रय है)" इस वाक्यमें 'स्वस्ति' शब्दसे 'मोक्ष' कहा गया है; निरुक्तवेत्ताओंका कथन है कि 'अविनाशी' (नित्य मोक्ष) का नाम 'स्वस्ति' है। नाम मोक्षका साधन है—ऐसा भी विधान नहीं किया जाता, क्योंकि जो पदार्थकी शक्ति होती है वह विधेय नहीं होती; अपि तु श्रुत विषयकी साध्यताकी उपपत्तिके लिये उसका सिद्धरूपसे ही वर्णन किया जाता है; इसी प्रकार यहाँ ('यतस्तद्विषया मतिः') इस वचनमें भी विधि नहीं है।

पूर्वपक्षी—किन्तु 'अर्थवादसे तो विधि ही श्रेष्ठ है' [इस न्यायसे विधि ही मानना अच्छा है।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र श्रेयान् यत्र गुणवादः प्रसज्येत, इह पुनरर्थवादत्वेऽपि यथार्थवाद एवेति नायं न्यायः। अपि च बहुतराणां स्वरसत एव प्रतीयमानं प्रमाणान्तरैरविरुद्धमनधिगतमुपयुक्तमर्थमनु-

सिद्धान्ती–[हाँ, विधि श्रेष्ठ है, परन्तु] वहाँ श्रेष्ठ है जहाँ गुणवादका प्रसंग उपस्थित होता हो। यहाँ तो अर्थवाद होनेपर भी [गुणवाद नहीं] यथार्थवाद ही है। अतः यहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त बहुत-से वचनोंके जो स्वरसतः (बिना किसी क्लिष्ट कल्पनाके) प्रतीत होनेवाले उपयोगी अर्थ हैं, जिनमें न तो दूसरे-दूसरे प्रमाणोंसे विरोध पड़ता है और न वे पहलेसे ज्ञात ही हैं [तात्पर्य यह कि जो सर्वथा मौलिक और प्रामाणिक अर्थ हैं] उनका अनुवाद (चर्चा) करके उन वचनोंमेंसे ['यतस्तद्विषया मतिः' इत्यादि] दो-

१. अर्थवाद तीन तरहके होते हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। जहाँ अन्य प्रमाणोंसे विरोध हो वह गुणवाद कहलाता है, जैसे 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंमें यूप (यज्ञस्तम्भ) को सूर्य तथा यजमानको प्रस्तर कहा गया है; यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध है। अन्य प्रमाणोंद्वारा ज्ञात अर्थके बोधक वचनको अनुवाद कहते हैं, जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम् (अग्नि शीतकी दवा है)' इत्यादि। 'अग्निसे शीतका कष्ट दूर होना' प्रत्यक्ष है। जो अन्य प्रमाणोंसे न तो ज्ञात हो और न विरुद्ध ही हो उस अर्थका बोधक वाक्य भूतार्थवाद है, जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत् (इन्द्रने वृत्रासुर [को मारने] के लिये वज्र उठाया था)' इत्यादि। इनमेंसे गुणवादका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता। शेष अर्थवाद यथार्थवाद ही हैं, उनका अर्थ प्रामाणिक होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद्य द्वित्राणां वा विधित्वं कल्प्यताम्; सर्वेषां च स्वं स्वमर्थमजहतामर्थवादत्वमिति मीमांसायामपङ्क्तिभेद एव श्रेयान् । अपि च कैमुत्यविवक्षायां दृष्टान्ता नोपपद्यन्ते—

अज्ञानादथ वा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्त्तितमघं पुंसां दहत्येधो यथानलः ॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।

तीनको ही विधि [और शेषको अर्थवाद] मान लिया जाय अथवा अपने-अपने मुख्य अर्थका त्याग न करते हुए सभी वचनोंको उपपत्तिमूलक अर्थवाद माना जाय ? इस प्रकारका सन्देहमूलक विचार उपस्थित होनेपर पङ्क्तिभेद (किसीको विधि और किसीको अर्थवाद माननेकी विषमता) न करना ही अच्छा प्रतीत होता है। इसके सिवा [यदि कहो, अनजानमें किये हुए नामकीर्तनका महत्त्व बतलानेवाले सभी वचन कैमुत्य-विवक्षामें हैं, तो ठीक नहीं; क्योंकि] कैमुत्य[1]-विवक्षामें—

"पुण्यकीर्ति भगवान्‌का जो नाम है उसका यदि जान-बूझकर या बिना जाने भी कीर्तन किया जाय तो वह मनुष्योंके पापोंको उसी प्रकार जला देता है जैसे आग ईंधनको ।" "जिस प्रकार प्रबल औषध स्वेच्छासे उपयोगमें लाये जानेपर अपने गुणोंको न जाननेवाले मनुष्यके लिये भी लाभकारी होता ही है, उसी प्रकार

१. अनजानमें नाम-कीर्तन करनेसे यदि पापोंका नाश हो जाता है, तो जान बूझकर कीर्तन करनेपर तो कहना ही क्या है ?—यही कैमुत्य-विवक्षा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अजानतोऽप्यात्मगुणान् कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥
हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

इत्यादयः, साध्यवैकल्यात्। न हि तेषु कैमुत्यमस्ति; अपि तु ज्ञानाज्ञानयोः साधारण एव साधनभावः, अपि च "नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम्" "हरिरित्यक्षरद्वयम्" इति वदन् शब्द एव विवक्षितो नार्थानुसंधानमित्यभिसंधत्ते । अन्यच्च "यतस्तद्विषया

उच्चारण किया हुआ मन्त्र अपना प्रभाव न जाननेवालेके प्रति भी लाभदायक होता ही है।" "दूषित चित्तवाले पुरुषोंके भी स्मरण करनेपर भगवान् विष्णु उनके पापोंको हर लेते हैं, जैसे अनिच्छासे भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है।"

इत्यादि दृष्टान्तोंकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होती; क्योंकि यहाँ साध्य (कैमुत्य) की विकलता है। इन वचनोंमें कैमुत्य-विवक्षा नहीं है, अपि तु जानकर या विना जाने—दोनों ही दशाओंमें नाम-कीर्तनको समानरूपसे पापक्षयका साधन वतलाया गया है। अपि च, "[जिस समय अजामिलने] 'नारायण' इस चार अक्षरका उच्चारण किया" " 'हरि' यह दो अक्षर···" इत्यादि वचनोंका आरम्भ करते हुए यही बतलाते हैं कि ['नारायण' और 'हरि' आदि] शब्दमात्रका ही उच्चारण करना इष्ट है, उनके अर्थका अनुसन्धान करना नहीं। [इससे भी यह नहीं सिद्ध होता कि ज्ञान कीर्तनका अङ्ग है] । इसके सिवा, 'यतस्तद्विषया मतिः (जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मतिः" इत्यादौ न विधिः कल्पयितुं शक्यते, साधिकारं हीदं वाक्यम्, न च साधिकारे वाक्ये गुणविधिमनुमन्यन्ते न्यायविदः। वैरूप्यं हि तदा प्रसज्येत, प्रवृत्तिरपि स्वविषयज्ञानापेक्षिणी न पुनर्नामिज्ञानापेक्षिणी। तस्मान्न ज्ञानमङ्गं कीर्तनस्य, नाप्यधिकारहेतुः।

नामोच्चारणसे भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है)' इत्यादि वचनमें 'ज्ञान नामक गुणका विधान है' ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि यह वचन साधिकार है*। साधिकार वचनमें न्यायवेत्तागण गुण-विधिका अनुमान नहीं किया करते; क्योंकि ऐसा करनेपर विरूपताका प्रसंग† उपस्थित होगा। [यदि कहो उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञान कीर्तनका अङ्ग भले ही न रहे, कीर्तनमें प्रवृत्तिका हेतु तो हो ही सकता है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि] प्रवृत्ति भी अपने विषयके [अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति होनेवाली है उस नामोच्चारणके] ज्ञानकी ही अपेक्षा रखनेवाली है, नामी (परमेश्वर) के ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है; इसलिये ज्ञान न तो कीर्तनका अङ्ग है और न कीर्तनमें अधिकार होनेका हेतु ही है।

---

* 'सर्वेषामप्यववतान्……यतस्तद्विषया मतिः' इस वाक्यमें नामोच्चारणका पापक्षयफलसे सम्बन्धरूप अधिकारका प्रतिपादन किया गया है।

† उक्त वाक्यमें पहले तो पाप-क्षयके उद्देश्यसे नाम-कीर्तनका विधान किया जाता है फिर नाम-कीर्तनके उद्देश्यसे अभिधेय (कीर्तनीय परमात्मा) के ज्ञानरूप गुणका विधान होता है, अतः एक ही नामोच्चारण उद्देश्य भी ठहरता है और विधेय भी, इसी प्रकार प्रधानता-गौणता आदि परस्पर विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होती है। इसलिये उक्त वचनमें 'ज्ञान नामक गुणका विधान है' ऐसा अनुमान करना असंगत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुतप्तानतुतप्तभेदमूलकव्यवस्थायाः खण्डनम्

यदप्युक्तम्—अनुतप्तानतुतप्तभेदेन सकृत् कृतमावर्त्तितं च कीर्तनं व्यवस्थितमिति; तदपि नातीवाभिप्रेतम्। तथा हि—विधाद्वय-मप्येतत् किं विधिसामर्थ्यान्निवर्तकं पातकस्य; किं वा स्वसामर्थ्यात् ? तत्र यदि विधिसामर्थ्यात् तर्हि भवितव्यमुभयत्राप्यनुतापेन, अनु-तप्ता एव हि प्रायश्चित्तविधावधिक्रियन्ते। यदि स्वसामर्थ्यात् तर्हि न कुत्रचिदनुतापोपयोगः, न खलु पदार्थस्वभावः पुरुषगतां योग्यता-

---

तुमने जो कहा था कि 'अनुतप्त (चिन्तित) और अननुतप्त (चिन्तारहित) के भेदसे एक बार तथा बार-बार किया हुआ कीर्तन पवित्र करनेवाला है [अर्थात् अनुतप्त पुरुष एक ही बारके कीर्तनसे अपने पापोंका क्षय कर सकता है और अननुतप्त पुरुष बार-बारके कीर्तनसे]—ऐसी व्यवस्था है, वह भी अधिक मान्य नहीं है, इसका कारण बतलाते हैं—क्या नाम-कीर्तनके—ये दोनों ही प्रकार विधिकी सामर्थ्यसे पाप-निवर्तक हैं या अपनी सामर्थ्यसे ? यदि विधिकी सामर्थ्यसे (अनुतप्तविषयक शास्त्रीय वचनके बलसे) ये पापके निवर्तक हैं तब तो दोनों ही जगह अनुताप होना चाहिये, क्योंकि अनुतप्त पुरुष ही प्रायश्चित्त-विधानके अधिकारी होते हैं [जिसको पापोंकी चिन्ता ही नहीं, वह उससे छूटनेके लिये प्रायश्चित्त क्यों करेगा ?] और यदि अपनी सामर्थ्यसे ही वे पाप दूर करते हैं, तो कहीं भी अनुतापका उपयोग नहीं है, क्योंकि यह एक निश्चित बात है कि पदार्थका स्वभाव किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मपेक्षते, न हि तपनस्तपस्विनयनाङ्गनगतामेव तमस्तमालमण्डली-मुन्मूलयति न तु चाण्डालचक्षुश्चत्वरवर्त्तमानामित्यस्ति नियमः।

अपि चेह स्वमहिम्नैव पावनत्वमुचितं न तु विधिसामर्थ्यात्। विधेर्हि विधाद्वयम्, लिङादियुक्तं वाक्यम्, लिङाद्यर्थश्च; तत्र प्रथमो विधिः प्रमाणमेव, प्रमाणं च प्रमेये न कथंचिदविद्यमानं महिमानमुत्पाद-

---

पुरुषकी योग्यताकी अपेक्षा नहीं करता। सूर्यदेव तपस्वियोंके ही लोचनाङ्गनमें फैले हुए तिमिर-समूहका नाश करते हैं, चाण्डालके नेत्राङ्गणमें वर्तमान अन्धकार-राशिको दूर नहीं करते—ऐसा नियम नहीं है।

इसके अतिरिक्त यहाँ नाम-कीर्तनका अपनी ही महिमासे पवित्रकारक होना उचित है, विधिकी सामर्थ्यसे नहीं। विधिके दो प्रकार हैं—लिङ् आदिसे युक्त वाक्य और लिङ् आदिका वाच्य अर्थ। उनमेंसे पहली विधि (लिङ् आदिसे युक्त वाक्य) केवल प्रमाणरूप है और प्रमाण केवल अपनी सामर्थ्यसे किसी ऐसी महिमाको नहीं उत्पन्न कर सकता जो

---

१. यहाँ आदि शब्दसे तव्य, तव्यत् और अनीयर आदि प्रत्ययोंका ग्रहण होता है। 'कीर्तयेत्, कीर्तितव्यः, कीर्तनीयः' इत्यादि क्रियाओंसे युक्त वाक्य लिङादियुक्त वाक्य हैं और इनका वाच्य कीर्तन आदि कार्य ही लिङादिका अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यति, अपि तु यथावस्थितमेव वस्तुतत्त्वमनवगतमवगमयत्येव। उक्तं हि मीमांसाभाष्यकृद्भिः "उपायं तु न वेद तस्योपायः कथनीयः" इति। नैष्कर्म्यसिद्धिकारैरपि—

उपायान् प्राप्तिहानार्थान् शास्त्रं भासयतेऽर्कवत्।

इति, द्वितीयः पुनः फलसाधनत्वमेव न तस्य पुनः साधनाधीनसाधनत्वम्, तस्मात्स्वमहिम्नैव पावनत्वं स्वमहिम्नैव चेदमंहसां निवर्त्तकं कीर्त्तनम्। आवृत्तेरुच्चाटनमन्त्रो जप्त एव श्रद्धादीनामपि,

---

प्रमेय (नाम-कीर्तनादि) में विद्यमान न हो; अपि तु, वह वस्तुगत यथार्थ तत्त्वका ही, जो पहलेसे ज्ञात नहीं है, ज्ञान कराता है। मीमांसाके भाष्यकारने कहा भी है कि "मनुष्य उपाय नहीं जानता, अतः उसके लिये उपाय ही बतलानेकी आवश्यकता है।" नैष्कर्म्यसिद्धिकार (श्रीसुरेश्वराचार्यजी) ने भी कहा है—

"प्राप्ति (इष्टका ग्रहण) और हान (अनिष्टका त्याग) ही जिनके प्रयोजन हैं, ऐसे उपायोंको शास्त्र सूर्यकी भाँति प्रकाशित कर देता है।"

दूसरी विधि (लिङादिका बोध्य अर्थ नाम-कीर्तनादि) तो [प्रमेय होनेके कारण] फलका साधन ही है, वह साधनके अधीन रहकर साधन नहीं है। इसलिये यह नाम-कीर्तन अपनी ही महिमासे पवित्रकारक और अपनी ही महिमासे पाप-निवर्तक भी है। [इसमें आवृत्ति और श्रद्धा आदिकी भी आवश्यकता नहीं है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये] आवृत्ति और श्रद्धा आदिके उच्चाटन(अभाव)का मन्त्र जपा ही जा चुका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न हि मिहिरस्तिमिरं विहन्तुमुदयमावर्त्तयति श्रद्धादिकं वापेक्षते। न च मन्तव्यमावृत्तस्यैव तादृशः प्रभावः, न तु सकृत्कृतस्येति; सकृत्कृतस्यापि पावनत्वप्रतिपादकानां वचनानामनेकेषां दर्शितत्वात्। न च तेषामवयवानुवादानां द्वादशकपालप्रशंसार्थतावदावृत्तिगुण-

---

है। सूर्य अन्धकारको नष्ट करनेके लिये [एक ही दिन] वार-वार उदय नहीं लेते और न श्रद्धा आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं। वार-वार किये हुए कीर्तनका ही वैसा महान् और व्यापक प्रभाव होता है, एक वारके कीर्तनका नहीं—ऐसा भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एक वार किये हुए कीर्तनकी भी पावनताके प्रतिपादक अनेकों वचन दिखलाये जा चुके हैं। यदि कहो, जिस प्रकार [द्वादश कपालयागके] अवयवोंके अनुवादक [यदष्टाकपालः इत्यादि] वचन द्वादशकपाल विधिके प्रशंसार्थक माने गये हैं* उसी प्रकार [एक बार किये हुए कीर्तनके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले] उन वचनोंका आवृत्तिगुणयुक्त कीर्तनकी प्रशंसामें ही तात्पर्य है [क्योंकि वे अनेक वार की आवृत्तिके अवयवभूत एकत्व-संख्याका अनुवाद

---

* "यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति (जिस पुरुषका अष्टाकपाल-याग पूर्ण हो जाता है उसे गायत्री ही ब्रह्मतेजसे पवित्र कर देती है)" यह वचन "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् (विश्वानर (अग्नि) देवता-सम्बन्धी द्वादशकपाल चरु अर्पण करे)" इस विधिविहित यागके अवयव अष्ट संख्याका अनुवादक होनेसे अर्थवाद माना गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

युक्तकीर्त्तनप्रशंसार्थतेति वाच्यम्, स्वार्थे प्रामाण्यस्य प्रबन्धेन प्रतिपादितत्वात्। तस्माद् व्यवस्थैव परं परिशिष्यते, सा च न सम्भवतीत्यभिहितमेव।

अनुतापविषयकवचनव्याख्या

ननु तर्हि कथमनुतापमावृत्तिं चाभिदधद्वाक्यजातं व्याख्येयम्?

व्याख्यायते—कृते पापेऽनुताप इत्यस्य तावत्पापक्षयसाधनं कीर्त्तनमित्येतावानेवार्थः, तथा हि—प्रायश्चित्तशब्दस्तावत्कीर्त्तने न मुख्यः।

करनेवाले हैं—] तो ऐसा भी कथन उचित नहीं है; क्योंकि उनकी स्वार्थमें प्रमाणता विस्तारके साथ बतलायी जा चुकी है। इसलिये तुमने जो कहा था कि 'अन्ततो गत्वा [अनुतप्तके लिये एक वार और अन्यके लिये वार-वार कीर्तनकी] व्यवस्था ही शेष रहती है' उसके विरुद्ध हमने भलीभाँति बता दिया कि व्यवस्था सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी–तो अनुताप और आवृत्ति—दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंकी व्याख्या कैसे करनी चाहिये?

सिद्धान्ती–उनकी व्याख्या करते हैं, [सुनो]—"कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते। प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्" इसका इतना ही तात्पर्य है कि 'कीर्तन पापक्षयका साधन है।' इसीको स्पष्ट करते हैं—'प्रायश्चित्त' शब्द कीर्तन अर्थमें प्रधान (मुख्य) नहीं है; क्योंकि—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।

इति व्याख्यानात् । न च कीर्त्तनं तयोरन्यतरदुभयं वा, अतो गौणोऽयं यथा प्रायश्चित्तं हितसाधनं तथेदमपि, हितं च द्विविधम्, सुखप्राप्तिरनर्थपरिहारश्च; तत्राप्यनर्थपरिहारलक्षणं हितं विध्यपेक्षितत्वं समर्पयति ।

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।

इति । यो हि यस्मादनुतप्तस्तस्य तन्निवृत्तिरेव हितं ततश्च पापादनुतप्तस्य कीर्त्तनं हितसाधनमित्युक्ते पापक्षयसाधनमित्युक्तं भवति ।

"'प्रायः' तपको कहते हैं और 'चित्त' शब्द निश्चयका वाचक है।"

इस प्रकार प्रायश्चित्त शब्दकी व्याख्या की गयी है। तप और निश्चय—इन दोनोंमेंसे कोई एक या दोनों ही—कीर्तन नहीं हैं, अतः कीर्तन अर्थमें प्रायश्चित्त शब्द मुख्य वृत्तिसे वाचक नहीं, गौण है। जिस प्रकार प्रायश्चित्त हितसाधक है उसी प्रकार कीर्तन भी है। हित भी दो प्रकारका है—सुखकी प्राप्ति और अनर्थका निवारण। उनमें भी अनर्थनिवारणरूप हित विधिकी अपेक्षाका ही बोध कराता है। यथा—

"पाप करनेपर जिस पुरुषको पश्चात्ताप होता है"

इत्यादि। जो जिससे अनुतप्त होता है उसके लिये उसीकी निवृत्ति हित है, अतः 'पापसे अनुतप्त हुए पुरुषका कीर्तन हितसाधक है' ऐसा कहनेपर यही प्रतिपादित होता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परशब्दश्च केवलशब्दपर्यायः, कीर्तनमेव पुष्कलं साधनमित्यर्थः। एकमिति सकृदिति च हरिकीर्तनस्य सर्वस्यैव स्मारकत्वात् संस्मरण-मित्यनुवादः, स च प्ररोचनफलः; समीचीनं ह्येतदिति, स्वर्गकामादि-पदमपि समीहितलक्षणस्य विधेः प्रथमापेक्षितसमीहितविशेषण-

---

कीर्तन पापक्षयका साधक है। 'पर' शब्द 'केवल' शब्दका पर्याय है, तात्पर्य यह कि केवल कीर्तन ही पुष्कल (मुख्य) साधन है। 'एकम्' और 'सकृत्' शब्द सबको ही हरिकीर्तनका स्मरण दिलाते हैं, इसलिये 'संस्मरण' शब्द उसीका अनुवाद है और 'यही अच्छा साधन है' ऐसा कहकर प्ररोचन (कीर्तनमें रुचि बढ़ाना) ही उसका फल है। [इसलिये उपर्युक्त व्याख्या-के अनुसार यही सिद्ध होता है कि 'कृते पापेऽनुतापो वै' इत्यादि वचन एक वारके कीर्तनमें अनुतप्त पुरुषके अधिकारका बोध करानेवाले नहीं हैं, अपि तु, 'पापसे चिन्तित पुरुषोंके लिये एक नाम-कीर्तन ही सबसे बढ़कर पापनाशका साधन है' ऐसा कहकर उन्हें पापक्षयरूप फलकी इच्छासे कीर्तनकी ओर आकृष्ट करनेवाले हैं] इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनोंमें आये हुए 'स्वर्गकाम' आदि पद भी अभिलषित वस्तुको लक्षित करानेवाली यज्ञ-विधिके पहले ही अपेक्षित कामनाके विशेषणभूत स्वर्गादिकी प्राप्तिका ही बोध करानेवाले हैं [अर्थात् यज्ञसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है यह बताकर स्वर्ग-कामियोंको उसकी ओर आकृष्ट करना ही उनका उद्देश्य है]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समर्पणपरमेव न पुरुषपरम्, अर्थतस्तु 'स्वर्गकामोऽधिकारी' इति मीमांसाहृदयवेदिनां निर्णयः ।

नन्विहापि तर्ह्यनुतप्तस्याधिकारः प्राप्त एव ।

मैवम्, अत्यन्तसुकरत्वेनान्यथापि प्रवृत्तिसम्भवात् । अशाब्दत्वादेव च फलकामनायाः प्रकारान्तरेणापि प्रवृत्तस्य पापक्षयो भवेदेव ।

वे पुरुषपरक नहीं हैं [अर्थात् यज्ञमें स्वर्गकामी पुरुषके अधिकारका बोध करानेमें उनका तात्पर्य नहीं है] 'स्वर्गकामी पुरुष ही यज्ञका अधिकारी है' यह बात तो अर्थतः प्राप्त होती है, [यह उक्त वाक्यका वाच्यार्थ नहीं है]—इस प्रकार मीमांसाशास्त्रके मर्मज्ञोंका निर्णय है ।

पूर्वपक्षी—तब तो यहाँ (एक बारके कीर्तनमें) भी [अर्थतः] अनुतप्तका अधिकार प्राप्त ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अत्यन्त सुकर होनेके कारण अन्य प्रकारसे भी इसमें प्रवृत्ति होनी सम्भव है; तथा [जिस प्रकार यज्ञमें 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि रूपसे स्वर्गादि फलकी कामनाका शब्दतः उल्लेख हुआ है उस प्रकार] कीर्तनमें फलकी कामनाका शब्दतः उल्लेख नहीं हुआ है इसलिये प्रकारान्तरसे भी प्रवृत्त हुए पुरुषका पापक्षय होगा ही ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्वेवं तर्ह्यस्वर्गकामस्यापि यागादौ प्रवृत्तस्य स्वर्गः किं न स्यात् ?

को वा ब्रूते प्रवृत्तस्य न स्यादिति ? किन्तु प्रवृत्तिरेव तस्मिन्फलकामनामन्तरेण न सम्भाव्यते; दुर्भरगरिमत्वात्, कौतूहलादिकमपि न सकलाङ्गकलापव्यापिनीं प्रवृत्तिमुत्पादयितुमलम्, अतस्तत्कामस्यैव तत्राधिकारः। इह पुनः फलाभिसंधिमन्तरेणापि स्वभावसुभगतया सुकरतया च सुलभा प्रवृत्तिरिति सर्वस्यैवाविकलवागिन्द्रियस्याधिकारः, अत एव सुकरेषु कर्मसु फलकामनां

पूर्वपक्षी—यदि ऐसी बात है तो जिसे स्वर्गकी कामना नहीं है वह भी यदि यागादिमें प्रवृत्त हो तो उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त होगा ?

सिद्धान्ती—कौन कहता है कि [उनमें] प्रवृत्त हुए पुरुषको स्वर्ग नहीं प्राप्त होगा ? परन्तु यागादिमें फल-कामनाके बिना प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है; क्योंकि यह कार्य इतना भारी है कि इसका भार सँभालना कठिन है। कौतूहल आदि भी सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त होनेवाली प्रवृत्तिको उत्पन्न नहीं कर सकता [अर्थात् इतने दुष्कर कार्यमें कोई कौतूहलवश भी नहीं प्रवृत्त हो सकता] अतः उस स्वर्गादिकी कामनावालेका ही वहाँ (यज्ञमें) अधिकार है। किन्तु इस कीर्तनमें फलकामनाके बिना भी प्रवृत्ति सुलभ है; क्योंकि यह स्वभावसुन्दर एवं सुकर है तथा जिनकी वाक्-इन्द्रिय विकृत नहीं हुई हो उन सभीका इसमें अधिकार है। इसीलिये सुकर कार्योंमें फल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनापि प्रवृत्तिः सम्भवति, प्रवृत्तस्य च फलसिद्धेरनिवार्यत्वात्। तस्याश्च संसारहेतुभावान्मुमुक्षोः काम्यकर्मत्यागं समादिशद्भगवान्—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

इति। तस्मादनुतापो नाधिकारे हेतुः, नाप्यङ्गं कीर्त्तनस्य; अवशेनेत्यादिप्रमाणविरोधात्। कृष्णानुस्मरणं परमित्यत्रापि परमुत्कृष्टं प्रायश्चित्तमत्यन्तशुद्धिसाधनमावृत्तिगुणकं कृष्णकीर्त्तनमिति विवक्षितम्। अत्यन्तशुद्धिश्च सह वासनाभिः पापानां परिक्षय इति

कामनाके बिना भी प्रवृत्ति सम्भव है; क्योंकि जो प्रवृत्त हो चुका है उसके लिये फलकी सिद्धि अनिवार्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त फलकी कामना जन्म-मरणरूप संसारका कारण होती है, इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने [गीतामें] मुमुक्षुको काम्यकर्मके त्यागका आदेश दिया है—

"विद्वानोंने काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास माना है"

इसलिये अनुताप [सकृत् कीर्तनमें] अधिकार होनेका कारण नहीं है और न कीर्तनका ही अङ्ग है; क्योंकि [ऐसा माननेपर] 'अवशेनापि' इत्यादि प्रमाणसे विरोध पड़ता है। "कृष्णानुस्मरणं परम्" यहाँ भी यही कहना इष्ट है कि श्रीकृष्णका आवृत्तिगुणयुक्त (बार-बार किया हुआ) कीर्तन परम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है अर्थात् अत्यन्त शुद्धिका साधनभूत है। वासनाओंके साथ पापोंका क्षय हो जाना ही अत्यन्त शुद्धि है—यह विस्तारके साथ बतला ही चुके हैं; इसलिये उपर्युक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रपञ्चितमेव। ततश्च भविष्यद्भिः पापैरनुपश्लेषः फलमावृत्तेः, कीर्त्तनमात्रस्य पुनः प्राचीनपापक्षय इत्युक्तं भवति। अत एवोक्तमुत्तरश्लोकेन "कृते पापेऽनुतापो वै यस्य" इति। अन्यथा हि सामान्येन पापादनुतापो यस्येत्यवदिष्यत्।

आवृत्तानावृत्तकीर्त्तनविषयकवचनव्याख्यानम्

एवं सर्वत्रावृत्तानावृत्तकीर्त्तनविषयाणि वचनानि व्याख्येयानि। अत्रावृत्तिविषयाणि तावत्—

विवेचनसे यही प्रतिपादित होता है कि होनेवाले पापोंसे सम्पर्क न होना आवृत्तियुक्त कीर्तनका फल है और प्राचीन पापोंका क्षय हो जाना यह एक वारके कीर्तनका फल है। अतएव (ऐसी व्यवस्था होनेके कारण ही) अगले श्लोकके द्वारा कहा है—"पाप करनेके बाद जिसको पश्चात्ताप होता है" इत्यादि। यदि उक्त व्यवस्था न होती तो सामान्यरूपसे यही कहते कि 'जिसको पापसे अनुताप होता है' ['पाप करनेके बाद' ऐसा न कहते]

इसी प्रकार सर्वत्र आवृत्तियुक्त और आवृत्तिरहित कीर्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले वचनोंकी व्याख्या करनी चाहिये* । यहाँ पहले आवृत्तिविषयक वचनोंका उल्लेख करते हैं—

---

* अर्थात् ऐसा समझना चाहिये कि एक बारका कीर्तन सम्पूर्ण प्राचीन पापोंके क्षयका साधन है, और कीर्तनकी आवृत्ति अत्यन्त शुद्धिका साधन है। वासनासहित प्राचीन पापोंका क्षय हो जाना और भविष्यमें भी पापोंसे सम्पर्क न होना ही अत्यन्त शुद्धि है। ध्यान देनेपर कीर्तनसम्बन्धी वचनोंसे उक्त अभिप्रायकी स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है। यही बात आगे दिखाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतो हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥

इत्यत्रावृत्तस्य भगवत्कीर्तनस्यात्यन्तशुद्धिहेतुत्वं स्पष्टमेव ।

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्त्तनात् ।

इत्यत्रापि मुमुक्षूणामधिकृतत्वादत्यन्तशुद्धिरेव विवक्षिता ।

"यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन फिर कुमार्गकी ओर दौड़ता है, तो यह निश्चित है कि प्रायश्चित्त पापका अत्यन्त शोधक नहीं होता, इसलिये कर्मका आत्यन्तिक विनाश चाहनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌के गुणोंका बार-बार कीर्तन ही निश्चितरूपसे चित्तकी शुद्धि करनेवाला है।"

इस वचनमें 'आवृत्तियुक्त भगवत्कीर्तन अत्यन्त शुद्धिका साधन है' यह बात स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है।

"मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये तीर्थपाद भगवान् [के नामों] का बार-बार कीर्तन करनेसे बढ़कर कर्म-बन्धका उच्छेद करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।"

यहाँ भी आवृत्तियुक्त कीर्तनमें मुमुक्षुओंका अधिकार बताया गया है, इसलिये कीर्तनकी आवृत्तिसे अत्यन्त शुद्धि ही विवक्षित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किङ्करा दण्डपाशौ वा नियमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केवलालम्बनः सदा ॥

इत्यत्रापि यस्यात्मा केवलालम्बनस्तस्य सदा न समर्था इत्यन्वयः, वचनान्तरानुरोधात् ।

गोमूत्रयावकाहारो ब्रह्महा मासिकैर्जपैः ।

इत्यादावपि मोक्षसाधनत्वादष्टाक्षरब्रह्मविद्यायाः, मोक्षस्य च परमशुद्धिरेव विवक्षिता न पापक्षयमात्रम् । ततश्च तत्तदावृत्तिविशेषा-

---

किङ्करा दण्डपाशौ वा नियमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केवलालम्बनः सदा ॥

यहाँ भी [एक बारके नामोच्चारणसे सारे पापोंका नाश बतानेवाले] अन्य वचनोंकी सम्मतिसे यही ज्ञात होता है कि 'यस्यात्मा केवलालम्बनस्तस्य सदा न समर्थाः' (जिसका आत्मा केवल (एक वार) भगवान् [के कीर्तन] का अवलम्ब ले चुका है उसके लिये यमराजके दूत आदि सर्वदा ही असमर्थ हैं)—ऐसा ही अन्वय है ।

"गोमूत्र और यवकी लप्सी खाकर एक महीनेतक 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करनेसे ब्रह्महत्यारा शुद्ध हो जाता है ।"

इत्यादि वचनमें भी आवृत्तिसे अत्यन्त शुद्धिका होना ही वतलाया गया है; क्योंकि यह अष्टाक्षर मन्त्ररूपा ब्रह्मविद्या मोक्षकी साधनभूत है और मोक्षके लिये परम शुद्धि ही विवक्षित है केवल पापक्षय ही नहीं । इसलिये उन-उन मन्त्रोंकी मासिक-पाक्षिकादि विशेष प्रकारकी आवृत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्तत्पापवासनाविनिवृत्तिस्ततश्च पुष्कलशुद्धिरिति। अथ वा सकृत्कीर्त्तनादेव प्रक्षीणेऽपि पापे कस्यचिदश्रद्धारोपितमपूतत्वमात्मनि मन्यमानस्य तन्निबन्धनं दुःखं न निवर्त्तते; तस्य तदारम्भकपातकप्रध्वंसायावृत्तिविशेषयुक्तं मन्त्राध्ययनं विधीयते।

आवृत्तकीर्तनस्य प्रारब्धक्षयार्थत्वमनावृत्तस्य चाप्रारब्धप्राचीनाघसंहारार्थत्वमिति निश्चयः

प्रारब्धपरिक्षये च युक्तमेवावृत्त्यपेक्षणम्, आरोग्यादिषु तथादर्शनात्।

करनेसे भिन्न-भिन्न पापवासनाओंकी निवृत्ति होती है। और उससे आत्यन्तिक शुद्धि होती है। अथवा, एक वारके कीर्तनसे ही पापक्षय हो जानेपर भी यदि कोई एक बारके कीर्तनके प्रभावपर विश्वास न होनेके कारण अपनेमें झूठे ही आरोपित की हुई अपवित्रता मानता है तो उस पुरुषका उस कल्पित अपवित्रताके कारण होनेवाला दुःख निवृत्त नहीं होता; अतः उसके लिये उस दुःखके आरम्भक पापोंका नाश करनेके लिये विशेष प्रकारकी आवृत्तिसे युक्त मन्त्रके जपका विधान है।

प्रारब्ध-क्षयके लिये तो आवृत्तिकी अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि नीरोग होने आदिके लिये [औषधसेवन आदिकी] आवृत्ति देखी जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु यथोक्तावृत्तिविहीनाभ्यामपि श्रवणकीर्त्तनाभ्यां प्रारब्ध-परिक्षयोऽपि श्रीस्कन्दपुराणनरसिंहपुराणयोर्दृश्यते ?

सत्यम्, तत्तु श्रीमत्पञ्चाक्षरनारदादिमहापुरुषानुग्रहसहचारित-येति निश्चीयते; तस्मादावृत्तिविधीनामन्यार्थत्वादप्रारब्धप्राचीनपापक्षये सकृत्कीर्त्तनमेव साधनमिति निरपवादम्। अत्र वचनानि सन्त्यनन्तानि, तथा हि—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥

पूर्वपक्षी—परन्तु श्रीस्कन्दपुराण और नरसिंहपुराणमें तो पूर्वोक्त आवृत्तिसे रहित भी जो श्रवण और कीर्तन हैं उनसे प्रारब्धका भी क्षय होना देखा जाता है।

सिद्धान्ती—ठीक है, परन्तु श्रीपञ्चाक्षरमन्त्र और श्रीमान् नारदादि महापुरुषोंके अनुग्रहकी सहायतासे ही वैसा होना निश्चित होता है; अतः आवृत्तिविधायक वचनोंका [प्रारब्ध और वासनाका नाश करना आदि] दूसरा ही प्रयोजन होनेके कारण प्रारब्धभिन्न प्राचीन पापके क्षयके लिये एक वारका ही कीर्तन साधन है, यह सिद्धान्त निर्दोष है। इस विषयमें असंख्य वचन हैं [जिनमेंसे कुछ] इस प्रकार हैं—

"जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक वार भी उच्चारण किया है उसने मानो मोक्षकी ओर जानेके लिये कमर कस ली है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । परिकरबन्धश्चात्र प्रक्षीणपापत्वमेव, तत् खलु प्रथमं सोपानमपवर्गप्रासादारोहणस्य । तथा—

हत्यायुतं पानसहस्रमुग्रं
गुर्वङ्गनाकोटिनिषेवणं च ।
स्तेयान्यसंख्यानि हरेः प्रियेण
गोविन्दनाम्ना निहतानि सद्यः ॥

इत्यत्रापि सद्यस्तदानीमेवेत्यावृत्तिनैरपेक्ष्यं दर्शयति ।

प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन् ।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः ॥

यहाँ कमर कसनेका तात्पर्य पापोंका क्षय हो जाना ही है, वह (पापक्षय) मोक्षरूप महलपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है । तथा—

"हजारों हत्याएँ, सहस्रों बार उग्र मद्यपान, करोड़ों बार गुरुपत्नियोंका सेवन और असंख्यों बार चोरी करने आदि पापोंको भगवान्‌के प्रियतम 'गोविन्द' नामने तुरन्त नष्ट कर दिया ।"

इस वचनमें भी सद्यः (तुरन्त) कहकर आवृत्तिकी अपेक्षाका न होना ही दिखलाते हैं ।

"प्रातःकाल, रात्रि, सन्ध्या अथवा मध्याह्न आदि समयमें भगवान् नारायणका [एक बार भी] स्मरण करनेवाला मनुष्य उसी समय अपने पापोंका क्षय कर लेता है ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्रापि सद्य इत्युपजीव्यते, नरमात्रस्याधिकृतत्वाद् विश्वासादिनिरपेक्षता। प्रातरादीनां च विकल्पो न तु समुच्चयः, सद्यस्त्वव्याघातात्। ततश्च कालविशेषो नादरणीय इत्यर्थः।

तथा—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

यहाँ भी 'सद्यः (उसी समय)' यह शब्द उपजीव्य (इसी बातका पोषक) है; मनुष्यमात्रका कीर्तनमें अधिकार होनेके कारण विश्वास तथा आवृत्ति आदिकी निरपेक्षता दिखायी गयी है। प्रातः आदि समयोंका यहाँ विकल्प ही है, समुच्चय नहीं; क्योंकि समुच्चय माननेपर 'सद्यस्त्व ('उसी समय' इस कथन) का व्याघात होगा* अतः कीर्तनके लिये कालविशेषका आदर अपेक्षित नहीं है। तथा—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

---

* अर्थात् ऐसा मानना चाहिये कि प्रातः आदि कालोंमेंसे किसी भी कालमें कभी एक वार कीर्तन करनेसे तत्काल पाप नष्ट हो जाते हैं, यदि उक्त सभी समयोंमें कीर्तन कर लेनेपर ही पापका नाश मानें तो 'तत्काल पाप नष्ट होते हैं' यह कथन विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि मुँहसे 'नाम' निकलते ही पापका नाश हो जाय तभी 'तत्काल नाश होना' कहा जा सकता है, यदि प्रातःसे सन्ध्यातक नामोच्चारणके वाद पाप नष्ट हुआ तो क्या जल्दी हुई ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यत्रापि; सद्य इति विवक्षितम् । सिंहत्रस्तैर्मृगैरिवेत्यस्यायमर्थः—यथा कश्चिद्राजकुमारः सिंहशिशुं परिगृह्य पञ्जरे निधाय पुष्णाति तेन च यूना परिचयप्ररूढानुरागेण वनान्तरे विहरति, तस्माच्चकितैर्वनगजव्याघ्रादिभिर्मुच्यते दूरात्; तथा वदनपङ्कजस्थान्नरहरिनामधेयकण्ठीरवाद् भीतैः पातकैः पुरुषः परिह्रियत इति । तथा—

यत्कीर्त्तनं यच्छ्रवणं यदर्पणं
यद्वन्दनं यत्स्मरणं यदर्हणम् ।

इस वचनमें भी 'सद्यः' पद विवक्षित है। 'सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव' इसका यह अर्थ है—जिस प्रकार कोई राजकुमार सिंहके बच्चेको पकड़कर उसे पींजड़ेमें रखकर पालता है, फिर अधिकाधिक परिचयसे प्रेम बढ़ जानेके कारण वह उस सिंहके युवावस्थामें पहुँच जानेपर भी उसके साथ वनके भीतर घूमता रहता है, उस समय [राजकुमारको जंगलमें अकेले पाकर भी] उस पालतू सिंहके भयसे चकित हुए जंगली हाथी और बाघ आदि हिंसक जीव दूरसे ही राजकुमारको छोड़कर हट जाते हैं। उसी प्रकार पुरुषके मुखारविन्दमें निवास करनेवाले भगवान् नृसिंहके नामरूपी सिंहसे भयभीत होकर पाप भी उस पुरुषको दूरसे ही त्याग देते हैं। तथा—

यत्कीर्तनं यच्छ्रवणं यदर्पणं यद्वन्दनं यत्स्मरणं यदर्हणम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

इति। अस्यार्थः—अर्पणमत्रात्मनिवेदनम्, अर्हणमर्चनम्; अत इह षड्भक्तयो गृह्यन्ते । ताश्च प्रत्येकं किल्बिषविधूननेन सम्बध्यन्ते । न च ताभिर्विशिष्टं किल्बिषविधूननमेव वाक्यार्थः, तस्य

लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥*

इसका भाव यों समझना चाहिये—यहाँ 'अर्पण' शब्दका अर्थ 'आत्मनिवेदन' है और 'अर्हण' का अर्थ 'अर्चन (पूजन)' है। अतः इस श्लोकमें [नवधा भक्तियोंमेंसे] छः प्रकारकी भक्तियोंका ग्रहण किया गया है । उनमेंसे प्रत्येक भक्तिका किल्विष-विधूनन (पापनाशरूप कार्य) से सम्बन्ध है । यदि कहें, 'एक साथ मिली हुई उन छहों प्रकारकी भक्तियोंसे विशिष्ट रूपमें (बहुत बड़ी मात्रामें) पापोंका नाश होता है—ऐसा ही इस वाक्यका अभिप्राय है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट पापनाशका फलरूपसे विधान नहीं किया जा

---

* श्लोकार्थ यों है—एक बार भी जिनके नामोंका कीर्तन, जिनके गुणोंका श्रवण, जिनको किया हुआ आत्मसमर्पण, जिनका वन्दन, जिनका स्मरण अथवा जिनका पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है उन कल्याण-कारी यशवाले भगवान्‌को बार-बार प्रणाम है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

फलत्वेनाविधेयत्वात् । न च तासां पार्ष्ठिकः परस्परान्वयः, क्रियात्वात् । न चात्र चादिः श्रूयते समासो वा द्वन्द्वः, येनाग्नेयादीनामिव समुच्चयः स्यात् । तस्मात् "लोकस्य सद्यो विधुनोति

सकता [कारण कि ऐसा माननेपर 'भक्तियोंके समुच्चयसे अधिक पापका नाश होता है और एक-एकके द्वारा स्वल्प पापका नाश होता है' ऐसी अवाञ्छनीय कल्पना होने लगेगी] । यदि कहें, उन छहों विभक्तियोंका पार्ष्ठिक अन्वय* है [अर्थात् पहले उनका पृथक्-पृथक् पापक्षयके साथ अन्वय हो जानेके बाद फिर परस्पर अभेद-सम्बन्धसे अन्वय है], तो ठीक नहीं, क्योंकि ये कीर्तन आदि क्रियारूप हैं [और क्रियाओंमें पार्ष्ठिक अन्वय नहीं होता]† । इसके अतिरिक्त यहाँ [समुच्चयबोधक] 'च' आदि निपात अथवा द्वन्द्व-समासका भी श्रवण नहीं होता, जिससे आग्नेय आदिकी भाँति समुच्चय हो । अतः 'लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषम्' इन चार

---

* जैसे 'नीलं घटमानय' (नील घड़ा लाओ) । इस वाक्यमें पहले नील और घट दोनोंका पृथक्-पृथक् 'आनय (लाओ)' क्रियासे सम्बन्ध होता है, यथा—'घटमानय, नीलमानय' (घड़ा लाओ, नील लाओ), फिर नीलका अभेद-सम्बन्धसे घटमें अन्वय होता है, तब यह वाक्य होता है—'नीलाभिन्नं घटमानय' (नीलसे अभिन्न अर्थात् नीलरूप ही घट लाओ) । यही पार्ष्ठिक अन्वय कहलाता है । यदि यहाँ भी छहों विभक्तियोंका परस्पर पार्ष्ठिक अन्वय मानें तो कीर्तन, श्रवणादि सभी मिलकर ही पाप-क्षयके साधक सिद्ध हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं ।

† क्रियाओंमें पार्ष्ठिक अन्वय नहीं होता, क्योंकि 'अरुणया एकहायन्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किल्बिषम्" इतिपदचतुष्टयस्य तन्त्रेणावृत्त्या वा षडिमानि वाक्यानि। ततश्च तासां समशिष्टत्वादन्योन्यनिरपेक्षाणां पापक्षय-साधनत्वम्, तच्च सद्य एवेत्यावृत्तिनिरपेक्षतेति। अनुवादोऽप्ययमेता-दृशं विधिमनुमापयतीति तद्द्वारेण प्रमाणमेव। श्रीरामवाक्यं च—

पदोंको तन्त्र (वक्ताकी विवक्षा) अथवा आवृत्तिसे छः वार पढ़नेपर छः वाक्य कल्पित होते हैं [और उनका क्रमशः 'यत्कीर्तनम्' आदि छः भक्तियोंके साथ सम्बन्ध होता है *] इस-लिये उन छहों वाक्योंका समानरूपसे अनुशासन होनेके कारण एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए सभी स्वतन्त्ररूपसे पापक्षयके साधन हैं। वे भी तत्काल ही पापक्षयके साधन होते हैं, ऐसा कहकर यहाँ आवृत्तिकी अपेक्षाका अभाव ही सूचित किया गया है। यद्यपि यह वचन अनुवाद है [क्योंकि इसमें विधिका श्रवण नहीं होता] तथापि इसी तरहकी विधिका अनुमान करानेवाला है; अतः वह अनुमानके द्वारा प्रमाणभूत ही है। [एक वारके ही कीर्तनादिकी महिमाके विषयमें] श्रीराम-चन्द्रजीका भी वाक्य है—

पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' (लाल रंगकी एक सालकी उम्रवाली और पीले नेत्रोंवाली बछियासे सोमरस खरीदे) इत्यादि वाक्योंमें क्रियाके साधनभूत 'अरुणया' आदि विशेषणोंका ही परस्पर पाष्ठिक अन्वय देखा जाता है, क्रियाओंमें उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः यहाँ कीर्तनादि छः विभक्तियोंका परस्पर पाष्ठिक अन्वय नहीं हो सकता।

* आवृत्ति करके प्रत्येक भक्तिके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर ऐसे वाक्य बनेंगे—'यत्कीर्तनं लोकस्य किल्बिषं सद्यो विधुनोति (जिनका नामकीर्तन लोगों-के पापोंको तत्काल नष्ट करता है)' 'यच्छ्रवणं लोकस्य किल्बिषं सद्यो विधुनोति (जिनके गुणोंका श्रवण लोगोंके पापोंको तत्काल नष्ट करता है)' इत्यादि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा दास्य इति जन्मव्रतं मम ॥

इति । अवतारान्तराणि कदाचित्कपटमप्यरिषु प्रयुञ्जते प्रयोजनवशात्, न भक्तेषु; श्रीरामचन्द्रः पुनः परिपन्थिष्वपि न मनाङ्मनोविसंवादिनीं वाणीं प्रयुङ्क्ते । अन्यान्यप्येवंजातीयकान्युदाहार्य्याणि, तस्मादप्रारब्धप्राचीनपापक्षयः सकृत्कीर्त्तनादेवेति ।

नन्वनागतानामनुपश्लेषोऽपि सकृत्कीर्त्तनादेव दृश्यते—

"जो एक वार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर याचना करता है, उसे मैं सदाके लिये अभय कर देता हूँ—यह मेरा जन्मसे ही व्रत है ।"

अन्य अवतार तो आवश्यकता पड़नेपर भक्तोंके प्रति नहीं, किन्तु शत्रुभाव रखनेवालोंके प्रति उनके हितके लिये ही कदाचित् लोकदृष्टिसे कपटका व्यवहार भी कर लेते हैं, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी तो अपनेसे विरोध रखनेवालोंके प्रति भी तनिक भी मनके विरुद्ध वाणीका प्रयोग नहीं करते । 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस वचनके समान और भी अनेकों वचन उदाहरणरूपसे उद्धृत किये जा सकते हैं । इसलिये उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि 'अप्रारब्ध प्राचीन पापका क्षय एक वारके कीर्तनसे ही हो सकता है ।'

पूर्वपक्षी—[तुम तो एक वारके कीर्तनसे केवल प्राचीन पापोंका ही क्षय होना बताते हो] परन्तु [पुराणोंमें तो] एक वारके कीर्तनसे ही अनागत (भविष्य) पापोंका संसर्ग न होना भी देखा जाता है । यथा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्त्तमानं च यत्पापं यद्भूतं यद्भविष्यति ।
तत्सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्त्तनम् ॥

इति ।

तदसत्, अत्राप्यावृत्तेरुपसंहारात्। न चाशुशब्दस्तदुपसंहार-विरोधी, आशुभावो हि शीघ्रता, सा च सातिशया, अतिशयश्चापेक्षिकः, ततश्च साधनान्तरेभ्यः सकाशादाशुत्वम्; न पुनः सद्यःसाधनत्वमिति ।

"वर्तमान, भूत और भविष्यमें होनेवाले भी जो पाप हैं उन सभीको गोविन्दका नाम-कीर्तनरूपी अनल शीघ्र ही दग्ध कर देता है ।"

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि इस वचनमें भी आवृत्तिका उपसंहार है। यदि कहो, 'आशु' शब्द आवृत्तिके उपसंहारका विरोधी है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि आशुभाव शीघ्रताको कहते हैं, और वह शीघ्रता अतिशययुक्त होती है, अतिशय भी अपेक्षाकृत होता है, अतः अन्य साधनोंके निकट उसमें आशुता (शीघ्रता) है, तत्कालसाधनता नहीं है ।*

---

* जैसे 'वायुयान शीघ्र जाता है' इस कथनका यह अभिप्राय है कि वायुयान अन्य वाहनोंकी अपेक्षा शीघ्र जाता है, इसी प्रकार 'नामकीर्तन शीघ्र पाप दग्ध करता है' इसका यही अर्थ है कि वह अन्य साधनोंकी अपेक्षा शीघ्र दग्ध करता है । उस शीघ्रताका तत्काल अर्थ नहीं है । इसलिये उक्त वचनमें शीघ्रताका वाचक 'आशु' शब्द रहनेपर भी उसे आवृत्तकीर्तनविषयक माननेमें कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

कीर्तनस्य सर्वाघसंहारित्वे मृत्युकालस्याविवक्षितत्वम्

यत्पुनरुक्तं मरणावसरे कृतस्य कीर्त्तनस्य विश्वासाद्यभावेऽपि सर्वाघसंहारित्वमिति, तदप्यसत्;

म्रियमाणो हरेर्नाम गृह्णन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥

इति स्वयमेव मरणकालस्याविवक्षितत्वप्रतिपादनात् ।

और यह जो कहा था कि मरणके अवसरपर ही किया हुआ कीर्तन विश्वास आदि न होनेपर भी समस्त पापोंका नाशक होता है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि—

"मृत्युके समय श्रद्धा विना ही पुत्रके नाममें व्यवहृत भगवान्‌का नाम उच्चारण करनेवाला अजामिल भी यदि भगवद्धामको चला गया तो जो श्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करता है उसके लिये तो कहना ही क्या है ?"

इस वचनसे स्वयं ही मरणकालकी अविवक्षाका प्रतिपादन किया गया है [क्योंकि उक्त वचनसे यह ध्वनि निकलती है कि मृत्युकालमें नाम लेनेका यदि ऐसा फल है तो स्वस्थ रहकर आजीवन नाम लेनेका कितना महान् फल होगा, इससे मृत्यु-कालकी अप्रधानता स्वतः सिद्ध होती है ।]

बाधा नहीं है । अतः 'एक बारके कीर्तनसे ही भविष्यमें भी पापोंका संसर्ग नहीं होता' इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्वपिना ग्रस्तमविवक्षितं भवति, तत्प्रतियोगि च कैमुत्येन सम्बध्यते; तत्र श्रद्धायाः कैमुत्येनान्वयादश्रद्धेयमेवापिशब्देन सम्बध्यते; पुत्रोपचरितमपि हरेर्नाम गृणन्निति। तस्मात्तस्या एवाविवक्षा न म्रियमाणतायाः।

पूर्वपक्षी—किन्तु जो 'अपि' शब्दसे ग्रस्त रहता है वही अविवक्षित होता है, और उसके प्रतियोगीका ही कैमुत्यसे सम्बन्ध होता है। यहाँ श्रद्धाका ही कैमुत्यसे अन्वय होनेके कारण अश्रद्धेय अर्थका ही 'अपि' शब्दसे सम्बन्ध है। यथा—पुत्रमें व्यवहृत हुए हरिनामका भी उच्चारण करनेवाला [अजामिल यदि भगवद्धामको चला गया] इत्यादि। अतः अश्रद्धाकी ही यहाँ अविवक्षा है म्रियमाणता (मृत्युकाल) की नहीं।*

---

* 'म्रियमाणो हरेर्नाम' इस श्लोकमें कैमुत्यन्यायकी प्रवृत्ति है। इस न्यायको स्पष्ट करनेके लिये यह दृष्टान्त दिया जाता है—'स लोहदण्डमपि चर्वितुं शक्नुते किमुत अपूपान्' (वह लोहेके डण्डेको भी चबा सकता है, फिर 'पूआ' के लिये तो कहना ही क्या है)। कैमुत्यन्यायके स्थलमें जो वाक्य आते हैं, उनमें दो भाग होते हैं, एक 'अपिग्रस्त' ('भी' से युक्त) और दूसरा कैमुत्यसे सम्बद्ध (उसके लिये तो कहना ही क्या है, इस वाक्यसे अन्वित) होता है। जो अपि (भी) से युक्त होता है, वह वहाँ विवक्षित (अपेक्षित) नहीं होता जो कैमुत्यसे (किमुत शब्दके अर्थसे) अन्वित होता है, वही विवक्षित होता है। जैसे 'वह लोहेके डण्डेको भी चबा सकता है' यहाँ लोहदण्ड अपिग्रस्त है, अतः यह अविवक्षित है; और 'फिर 'पूआ' के लिये तो कहना ही क्या है' यहाँ 'पूआ' कैमुत्यसे अन्वित वाक्य है अतः यही विवक्षित है, अतः उक्त वाक्यमें 'लोहदण्ड' चबाना नहीं 'पूआ' खाना ही अपेक्षित है। इसी प्रकार उपर्युक्त श्लोकमें 'किमुत श्रद्धया गृणन्' (जो श्रद्धासे भगवान्‌का नाम लेता है, उसके लिये तो कहना ही क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रोच्यते—हरेर्नामग्रहणमिह विशेष्यं तस्य च म्रियमाणः पुत्रोपचारितं श्रद्धया चेति विशेषणानि; प्रधानान्वयित्वाद् गुणानाम् । विशेषणं च विवक्षितमविवक्षितं वा, तत्र कैमुत्येनान्वयो विवक्षितस्य, अविवक्षितस्य पुनरपिना । तत्र यदि म्रियमाणो मुख्योऽधिकारी तर्हि स्वस्थोऽप्येवं किमुत म्रियमाण इत्यवक्ष्यत्, न चैवमवोचत, तस्मान्म्रियमाणो नश्यच्चेताः श्रद्धातुमसमर्थोऽपि

सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—यहाँ भगवन्नाम-ग्रहण विशेष्य है और म्रियमाण, पुत्रोपचारित तथा श्रद्धया—ये तीन शब्द उसके विशेषण हैं; क्योंकि गुणोंका प्रधानके साथ ही अन्वय होता है । विशेषण भी विवक्षित अथवा अविवक्षित होता है, उनमें विवक्षितका यहाँ 'मृत्यु' के साथ और अविवक्षितका 'अपि' के साथ अन्वय होता है । वहाँ यदि म्रियमाण (मुमूर्षु) पुरुष मुख्य अधिकारी होता तो ऐसा कहते कि 'यदि स्वस्थ पुरुष [भी कीर्तनसे] ऐसा हो जाता है तो जो मर रहा है उसके लिये तो कहना ही क्या है ?' परन्तु ऐसा कहा नहीं; इसलिये मरता हुआ अजामिल, जिसकी चेतना नष्ट हो रही थी, श्रद्धामें असमर्थ होकर भी पुत्रमें व्यवहृत हरिनामका

है) इस वाक्यमें श्रद्धाका कैमुत्यसे अन्वय होनेके कारण श्रद्धा ही विवक्षित है और 'पुत्रके लिये व्यवहृत नामका भी मरते समय [जब कि श्रद्धाकी सम्भावना-तक नहीं है] उच्चारण करके अजामिल भगवद्धामको प्राप्त हुआ' यहाँ अश्रद्धाका ही अपि (भी) से अन्वय होनेके कारण अश्रद्धा ही अविवक्षित है । मृत्युकाल अविवक्षित नहीं है—यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुत्रोपचरितमपि गृणन्नजामिलो हरेर्धामैवागात् किमुत श्रद्धया हरिमेव गृणन्नित्यविवक्षितैव म्रियमाणता । श्रद्धापि मुक्त्यर्थमेव विधीयते न पापक्षयमात्रार्थम्, अगाद्धामेति वचनात् । सा च—

यद्यस्तीति न वक्तव्यं पुत्र संदिग्धकं वचः ।
सर्वस्माद्धिकोऽस्त्येव शिवः परमकारणम् ॥

इत्याद्युक्तलक्षणा, न तु कीर्त्तनविधिविषयिणी; तस्याः फलोपकारित्वस्य निराकृतत्वात् । अपि चाजामिलस्यापि न मुख्या

उच्चारण करता हुआ यदि भगवद्धामको ही प्राप्त हुआ तो जो श्रद्धासे भगवान्के नामका साक्षात् उच्चारण करता है उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ऐसा कथन होनेसे मृत्युकालकी अविवक्षा स्पष्ट ही है । श्रद्धाका भी मुक्तिके ही लिये विधान है; पापक्षयमात्रके लिये नहीं; इसमें 'अगाद्धाम' (भगवद्धामको चला गया) यह वचन ही प्रमाण है । और वह श्रद्धा—

"हे पुत्र ! यदि [भगवान् शिवमें तुम्हारी] श्रद्धा है तो उनके विषयमें सन्देहयुक्त वचन नहीं कहना चाहिये [वल्कि यह दृढ निश्चय रखना चाहिये कि] सवके परमकारण भगवान् शिव सबसे उत्कृष्ट हैं ।"

इत्यादि वचनोंद्वारा वताये हुए लक्षणोंवाली [अर्थात् परमात्माको ही विषय करनेवाली] है, वह कीर्तन-विधिको विषय वनानेवाली नहीं है; क्योंकि 'श्रद्धा कीर्तनके फलमें उपकारक होती है [अतः कीर्तनमें श्रद्धा होना नितान्त आवश्यक है]'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म्रियमाणता, कीर्त्तनोत्तरकालमप्यवस्थानप्रतिपादनात्; तस्य च तावतैव पापक्षयप्रतिपादनादविवक्षित एव मरणकालः। "नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति" इत्यत्रापि विवशसाहचर्यादसुविगमो न विवक्षितः, न हि विवशत्वं विधीयते; तद्वदसुविगमोऽपि। ततश्चासुविगमेऽपीत्यर्थः, न पुनरसुविगम एवेति। एवं 'मरणे हरिमुच्चरेत्' इत्यत्रापि मरणेऽपि हरिशब्दमुच्चरेदिति व्याख्येयं

इस बातका खण्डन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अजामिलकी मुक्तिमें भी मृत्युकालकी प्रधानता नहीं है; क्योंकि कीर्तनके बाद भी कुछ दिनोंतक उसके जीवित रहनेका कथन है और कीर्तनमात्रसे ही उसके पापोंके नष्ट हो जानेका प्रतिपादन किया गया है; इससे सिद्ध होता है कि मृत्युकाल अविवक्षित ही है। "जो लोग प्राण-त्यागके समय भी विवश होकर हरि-नामका उच्चारण करते हैं" इस वाक्यमें भी 'विवश' शब्द [अविवक्षित है और उसी] के साहचर्य (साथ होने) से प्राणत्यागका समय भी विवक्षित नहीं है। जैसे 'विवश होनेपर ही कीर्तन करना चाहिये' इस प्रकार विवशताकी विधि नहीं है उसी प्रकार 'प्राणत्यागका समय होनेसे ही कीर्तन मोक्षका साधक होता है; अतः वह आवश्यक है' ऐसी विधि भी नहीं है। इसलिये 'नामानि येऽसुविगमे' इस श्लोकमें आये हुए 'असुविगमे' इस शब्दका 'प्राणत्यागके समयमें भी' यही अर्थ है, 'प्राणत्यागके समयमें ही' ऐसा अर्थ नहीं है। इसी प्रकार 'मरणे हरिमुच्चरेत्' इस वाक्यकी भी 'यदि मरणकालमें भी 'हरि' का उच्चारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समानविषयत्वात् । तत्सालोक्यादिफलेषु पुनरुपासनेष्वन्त्यप्रत्ययोऽभ्यर्हितः, "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति श्रुतेः । ततश्च—

प्रयाणकाले मनसाचलेन
बुद्ध्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

इत्यादिषु विवक्षित एव कालः ।

करे' यही व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि पूर्व वाक्यके समान ही इसका भी विषय है। [इस प्रकार नामकीर्तनमें तो मृत्युकाल अविवक्षित है] परन्तु भगवत्सालोक्य आदि फल देनेवाली उपासनाओंमें अन्त्य (मरणकाल) की प्रतीति उत्तम मानी गयी है; इस विषयमें "पुरुष इस संसारमें जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही यहाँसे परलोकमें जानेपर भी होता है" यह श्रुति प्रमाण है। इसलिये—

"वह योगी मरण-कालमें अविचल मन, बुद्धि और योगबलसे युक्त हो प्राणको दोनों भौंहोंके बीचमें स्थिर करके उस दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।"

इत्यादि वचनोंमें काल विवक्षित ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देशकालवैशिष्ट्यप्रतिपादकवचनानां पुरश्चरणादिकर्माङ्गत्वम्

ये पुनर्ग्रहणादयः कालविशेषाः पर्वताग्रादयश्च देशविशेषास्तत्र तत्रोक्तास्ते पुरश्चरणादिकर्माङ्गभूताः । पुरश्चरणं च मन्त्राणां संस्कारकम्, आधानमिवाग्नीनाम् । संस्कृतानां च तेषामैहिकामुष्मिकफलसाधनेषु कर्मसु विनियोग इति तत्रैवोपयोगस्तेषां न तु पापक्षयायोपयोग इति ।

प्रत्याहारादिधर्माणां कीर्तनाङ्गत्वनिरासः

ये च प्रत्याहारादयो धर्माः—

मनःसंहरणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसंपत्तिहेतवः ॥

किन्तु जो ग्रहण आदि कालविशेष और पर्वतशिखर आदि देशविशेष ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र कहे गये हैं वे पुरश्चरण आदि कर्मोंके अंगभूत हैं। जैसे विधिपूर्वक किया हुआ अग्न्याधान अग्निका संस्कारक होता है उसी प्रकार पुरश्चरण भी मन्त्रोंका संस्कारक है। संस्कारयुक्त हो जानेपर उन मन्त्रोंका ऐहिक और पारलौकिक फलके साधक कर्मोंमें विनियोग होता है, इसलिये उनका वहाँ ही उपयोग है, पापक्षयके लिये उनका उपयोग नहीं है।

"मनःसंयम, शौच (पवित्रता), मौन, मन्त्रार्थचिन्तन, अव्यग्रता (स्थिरता) और अनिर्वेद (खेदका अभाव)—ये जप-सिद्धिके हेतु हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादिशास्त्रोक्ताः, तेऽपि न जपमात्रोपयोगिनः, तत्संपत्तिहेतुत्वाभिधानात् । संपत्तिश्च विशिष्टेष्टप्राप्तिसाधनत्वलक्षणा; तस्यां चोपयुज्यन्त एव ते। पापक्षयः पुनः कीर्त्तनादेवेति पटहघोषः पुराणानाम् ।

अथ वा जपस्यैवैते धर्मा न तु कीर्त्तनस्य; अन्यो हि जपोऽन्यच्च कीर्त्तनं भिन्नविषयत्वात्तयोः । तत्र मन्त्रोच्चारणं जपः,

---

इत्यादि शास्त्रोंमें बतलाये हुए जो प्रत्याहार (मनोनिग्रह) आदि धर्म हैं, वे भी केवल जपमात्रके ही लिये उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि उन्हें जपकी सिद्धिका कारण कहा गया है और अत्यन्त उत्तम मनोरथ (मोक्ष) की प्राप्तिका साधन होना ही जपकी सिद्धि है, उसमें वे प्रत्याहारादि धर्म उपयोगी होते ही हैं। [मोक्षके लिये तो आवृत्ति, श्रद्धा, मनोनिग्रह, आदि सभीकी उपयोगिता हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु पापक्षयमात्रके लिये इनकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि] पापक्षय तो कीर्तनमात्रसे ही हो जाता है—यह बात पुराण ढिंढोरा पीट-पीटकर कहते हैं।

अथवा ये जपके ही धर्म हैं, कीर्तनके नहीं। जप दूसरी वस्तु है और कीर्तन दूसरी वस्तु; क्योंकि उन दोनोंके विषय भिन्न-भिन्न हैं। उनमें मन्त्रोच्चारणको जप कहते हैं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामोच्चारणं तु कीर्त्तनम्, मन्त्रोऽपि नाम स यः स्वरादिविशिष्टो देवताप्रकाशको वर्णसमुदायः; विशिष्टदेवतावाचकं तु पदमात्रं नाम।

क जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्।

इत्यत्र तु कीर्त्तनमेव जपशब्देनोच्यते संबुद्ध्यन्तत्वाद्वासुदेवशब्दस्य। श्रीमद्द्वादशाक्षरविवक्षायां हि चतुर्थ्यन्तेन तेन भवितव्यम्। न तु जपगता एव धर्मा देवतासामान्यात्कीर्त्तनेऽतिदिश्यन्ते; श्रीविष्णुधर्मे—

नामोच्चारण कीर्तन कहलाता है। मन्त्र भी वही है जो स्वर आदिसे विशिष्ट एवं देवताका प्रकाशक वर्णसमुदाय (वैदिक मन्त्र) रूप हो और किसी विशिष्ट देवताका वाचक पदमात्र नाम कहलाता है।

क जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्।

यहाँ 'जप' शब्दसे कीर्तन ही कहा जाता है; क्योंकि इसमें वासुदेव शब्द सम्बोधन है। [यदि कहें, 'वासुदेव' यह पद द्वादशाक्षरमन्त्रका बोधक है, तो ठीक नहीं; क्योंकि] श्रीद्वादशाक्षरमन्त्रकी विवक्षा होनेपर तो वासुदेव शब्दका ['वासुदेवाय' इस प्रकार] चतुर्थ्यन्त निर्देश होना चाहिये। यदि कहा जाय, जप और कीर्तनमें एक ही देवता होनेसे जपके [मनःसंयमादि] धर्म ही कीर्तनमें आरोपित कर लिये जाते हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि श्रीविष्णुधर्ममें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत् ।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः ॥

इति देशकालशौचानामनपेक्षणीयत्वप्रतिपादनादेव केवल-श्रुतिविरोधाच्च ।

क्वचिच्छ्रूयमाणधर्माणां मोक्षसाधनकीर्तनाङ्गत्वम्

ननु कीर्त्तनेऽपि श्रूयन्ते धर्माः—

नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको
निर्द्वन्द्व ईक्षितपथो मितभुक् प्रशान्तः ।

"सुदर्शन-चक्र जिनका चिह्न है, ऐसे भगवान् विष्णुके नामका सदा ही सर्वत्र कीर्तन करे, उनके कीर्तनमें कभी अशौच (अपवित्रता) नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं ही सबको पवित्र करनेवाले हैं ।"

इस प्रकार देश, काल और शौच आदिकी अपेक्षा न रखनेका ही प्रतिपादन किया गया है तथा अन्य धर्मोंका आरोप करनेपर केवल शब्दके श्रवणसे भी विरोध होता है [अर्थात् 'केवल कीर्तन ही पापक्षयका साधक है' इत्यादि कथनसे विरोध पड़ता है; क्योंकि अन्य धर्मोंका आरोप होनेपर वे भी पापक्षयमें सहायक समझे जायँगे, केवल कीर्तन ही नहीं]।

पूर्वपक्षी—कीर्तनमें भी तो [सहकारी] धर्मोंका श्रवण होता है । यथा—

"यदि भगवान् अच्युतमें मन स्थिर न रहता हो तो मिताहारी होकर, [एकान्तमें] अकेले रहकर, नींदको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यच्युते भगवति स्वमनो न सज्जे-
न्नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ॥

इति । सत्यं श्रूयन्ते; ते तु मोक्षसाधनस्य कीर्त्तनस्याङ्गभूताः, न पुनरघविघातकस्य; यद्यच्युते मनो न सज्जेदिति समाधेरनुकूलत्वेन कीर्त्तनस्य विधानात्, समाधेश्च मोक्षफलत्वेन प्रसिद्धेः ।

कीर्तनस्य ज्ञानद्वारकमोक्षसाधनत्वसमर्थनम्

ननु कीर्त्तनं क्रिया, न च क्रियासाधनो मोक्षः, तस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमयुक्तिभिर्ज्ञानैकोपायत्वेनाचार्यैरवधारितत्वात् ।

जीतकर, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे विचलित न होकर अपने मार्गका ज्ञान रखते हुए शान्तभावसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेवाले नामोंका निस्संकोच होकर कीर्तन करे।"

सिद्धान्ती—हाँ, सचमुच ही कीर्तनमें [सहकारी] धर्मोंका श्रवण होता है, किन्तु वे धर्म मोक्षके साधनभूत कीर्तनके अङ्ग हैं, पापनाशक कीर्तनके नहीं; क्योंकि 'यदि अच्युतमें मन स्थिर न रहता हो तो' ऐसा कहकर समाधिके अनुकूल कीर्तनका विधान किया गया है और समाधिका फल मोक्ष है—यह प्रसिद्ध ही है।

पूर्वपक्षी—कीर्तन तो क्रिया है, क्रिया मोक्षका साधन नहीं हो सकती; क्योंकि आचार्योंने श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, आगम और युक्तियोंसे यही निश्चय किया है कि मोक्षके लिये एकमात्र ज्ञान ही साधन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानसाधनत्वमेव तस्य मोक्षसाधनत्वम्, अत एव समाधेः कार्य्यें विधानम्, न हि समाधिरपि मोक्षसाधनम्, किं तर्हि? ज्ञानसाधनमेव, तदपि न साक्षाच्छ्रवणवत्, अपि तु प्रतिबन्ध-निरासद्वारेण, एवं कीर्त्तनमपि।

कीर्तनतो मोक्षोपलब्धौ क्रमनिरूपणम्

तत्रायं क्रमः—कीर्त्तनात् पापक्षयः, तदावृत्त्या तद्विषयाणां वासनानां प्रचयः, अपचयश्च पापवासनानाम्; ततो भगवज्जनसेवा-सातत्यम्, ततस्तदुपवर्णितमहिमनि भगवति पुण्यश्लोकशेखरे भगवती

सिद्धान्ती—कीर्तन भी ज्ञानका साधन होकर ही मोक्षका साधन है, इसीलिये समाधिके कार्य (फलस्वरूप) ज्ञानमें साधनरूपसे उसका विधान है। समाधि भी मोक्षका साधन नहीं है, तो किसका है? ज्ञानका ही साधन है, वह भी श्रवणकी भाँति ज्ञानका साक्षात् साधन नहीं है बल्कि ज्ञानके प्रतिबन्धक विघ्नोंको दूर करनेके द्वारा ही उसका साधन है। इसी प्रकार कीर्तन भी है।

वहाँ (कीर्तनसे मोक्ष होनेमें) यह क्रम है—एक बारके कीर्तनसे पापका क्षय होता है, कीर्तनकी आवृत्ति करनेसे कीर्तनविषयक वासनाओंकी वृद्धि और पाप-वासनाओंका ह्रास होता है, इसके पश्चात् भगवान्‌के भक्तजनोंकी सेवामें निरन्तर लगन होती है, फिर उन (भक्तजनों) के द्वारा वर्णन की हुई महिमासे युक्त भगवान् पुण्यश्लोकशिरोमणिमें सौभाग्यशालिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैष्ठिकी भक्तिः, ततः शोकादीनामत्यन्तोच्छेदः, ततः सत्त्वस्य परमोत्कर्षः, ततस्तत्त्वसाक्षात्कारः, ततो मुक्तिरिति । अयमर्थः श्रीभागवते सविस्तरमुपवर्णितः; तत्र तत्रोक्तं च भगवता—

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।

इति । तत्र श्रुतिशिरःसिद्धान्तं यस्य श्रुतवतोऽपि कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तत्त्वज्ञानमुत्पन्नमपि निमीलितमिव, तस्य भगवद्भक्तिरुक्तया रीत्या प्रतिबन्धं निरुध्य तत्त्वज्ञानमुन्मीलयति, यः पुनरश्रुतवेदान्त-

---

नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है, उससे शोक आदिका अत्यन्त नाश हो जाता है। तत्पश्चात् सत्त्वगुणकी अत्यधिक मात्रामें वृद्धि होती है, फिर तत्त्वका साक्षात्कार और उसके बाद मुक्ति हो जाती है। यह विषय भागवतमें विस्तारके साथ वर्णित है और उन-उन प्रसङ्गोंमें भगवान्‌ने यह भी कहा है कि—

"मेरा भक्त इसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।"

वहाँ [ऐसी व्यवस्था है] वेदान्त-सिद्धान्तका भलीभाँति श्रवण कर लेनेके बाद भी किसी प्रतिबन्धक दोषके कारण जिसका ज्ञान प्रकट होकर भी ढँका-सा रहता है उसके लिये भगवद्भक्ति पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिबन्धकको हटाकर तत्त्वज्ञान प्रकाशित कर देती है। परन्तु जो वेदान्त-सिद्धान्तका श्रवण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्त एव जगदेकनियन्तुर्निर्यन्त्रणदयामृतमहार्णवस्य महाविष्णोः प्रह्लादहृदयसुधासरित्पतिपर्य्यङ्कशायिनः श्रीनृसिंहस्य नामानि निरन्तरमावर्तयति; तस्य भगवान् स्वयमेव देहावसानसमये संसारतारकमात्मज्ञानमनुगृणाति । श्रूयते हि तापनीये—

"देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे इति तान् प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्देवं स्तुध्वं ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति च ।"

किये विना ही जगत्के एकमात्र नियन्ता, निर्बाध करुणारूप अमृतके महासागर तथा प्रह्लादके हृदयरूपी सुधासागरकी शय्यापर शयन करनेवाले नृसिंहस्वरूप भगवान् महाविष्णुके नामोंकी निरन्तर आवृत्ति करता है उसको देहावसानके समय स्वयं भगवान् ही संसारतारक आत्मज्ञानका उपदेश करते हैं। नृसिंहतापनीयोपनिषद्में ऐसी श्रुति है—

"देहत्यागके समय भगवान् तारक परब्रह्मका उपदेश करते हैं—ऐसा उन देवताओंके प्रति ब्रह्माजीने कहा; तुम सब इन मन्त्रोंसे भगवान्‌की स्तुति करो, इससे वे प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका दर्शन देते हैं। जो पुरुष इन मन्त्रोंसे नित्य ही भगवान्‌की स्तुति करता है, वह उनका साक्षात्कार करता है और उसे अमृतपद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है तथा जो इस प्रकार जानता है उसे भी उक्त फलकी प्राप्ति होती है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र च 'स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति' इत्येतावदुपजीव्यते; जपकीर्तनयोः साधारण्यात्, साधारण्यं च प्रसिद्धमेव। तथा हि—'स्तुतः प्रीतो भवति' इति स्वात्मनि परत्र च दृष्टमेव, प्रीतश्च स्वात्मानं दर्शयेदेव, अवञ्चनरसत्वात् प्रेम्णः।

सर्वैर्नामभिर्मन्त्रैर्वा भगवतः स्तवनकीर्तनयोः श्रुतिसम्मतत्वम्

स्तुतिस्तु श्रीमन्मन्त्रराजेन मन्त्रान्तरैर्वा नामभिर्वा, नाम्नां च सर्वेषामेव श्रुतिसंमतत्वात्।

यहाँ कीर्तनमें भी "स्तुति करनेपर भगवान् प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका दर्शन देते हैं" यह बात लागू होती है; क्योंकि जप और कीर्तनके फलमें समानता है; और वह समानता प्रसिद्ध ही है। [भगवान् स्तुतिसे प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं—] इसी बातको [लोकदृष्टान्तद्वारा] स्पष्ट करते हैं—जिसकी स्तुति की जाती है वह प्रसन्न होता है—यह अपनेमें और दूसरेमें भी देखा ही गया है तथा जो प्रसन्न होता है वह अपने स्वरूपका दर्शन देता ही है; क्योंकि प्रेम वह रस है जिसमें वञ्चना (धोखा) के लिये स्थान नहीं है।

भगवान्‌की स्तुति श्रीमन्त्रराज (द्वादशाक्षर) से, अन्य मन्त्रोंसे अथवा केवल नामोंसे भी हो सकती है, क्योंकि भगवान्‌के सभी नाम श्रुतिसम्मत हैं। [इस विषयमें]—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

इति श्रूयते । दीर्घतमसो वाक्यमेतत्; अस्यार्थः—उकारः छन्दःपूरणार्थः, हे जानन्तः स्वार्थकुशला जनास्तं देवम्, अस्ति कश्चिदीश्वर इत्याबालगोपालप्रसिद्धम्, पूर्व्यं पुरातनं सर्वस्याधिष्ठान-मधिष्ठातारं च; ऋतस्य गर्भम् उपनिषदस्तज्जन्यज्ञानस्य वा जठरे वर्त्तमानम् औपनिषदसिद्धान्तसिद्धयाथात्म्यं स्तोतारः—श्रौतै-

---

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

—ऐसी श्रुति है । यह मन्त्र दीर्घतमाका वचन है । इसकी व्याख्या इस प्रकार है—['तमु' इस पदमें] उकार छन्दःपूर्तिके लिये है । हे जाननेवाले—स्वार्थकुशल लोगो ! 'कोई ईश्वर है' इस प्रकार जो बच्चों और ग्वालोंतकमें प्रसिद्ध हैं, तथा जो पूर्व्य—पुरातन अर्थात् सबके अधिष्ठान एवं अधिष्ठाता हैं, इसी प्रकार जो ऋतके गर्भ हैं यानी उपनिषद् अथवा उससे होने-वाले ज्ञानके उदरमें (भीतर) वर्तमान हैं, तात्पर्य यह कि उपनिषद्के सिद्धान्तसे जिनके यथार्थ स्वरूपकी सिद्धि होती है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तान्त्रिकैः पौराणिकैः पौरुषेयैर्वा स्तुध्वमिति विपरिणामः, न चैवमेव स्तोतव्यमिति कश्चिदस्ति नियमः, यथा विद यथा जानीथ तथा स्तुध्वं मन्त्रैः स्तुध्वमिति भावः। ततश्च जनुषा पिपर्त्तन, छान्दसस्तनबादेशः कर्मकर्त्तृव्यत्ययश्च, जनुषा जन्मना पिपर्त्तन पिपृत पूर्यध्वं जन्मनः पूर्त्तिं प्राप्नुत जन्मानि समापयतेति भावः। अथ

उन देव (परमेश्वर) की तुमलोग वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक अथवा पौरुषेय वचनोंसे स्तुति करो। यहाँ [क्रियाका विधि-सूचक अर्थ होनेके कारण] 'स्तोतारः' के स्थानमें 'स्तुध्वम् (स्तुति करो)' इस प्रकार विपरिणाम (परिवर्तन) कर लेना उचित है। पूर्वोक्त प्रकारसे उनकी [महिमाका वर्णन करते हुए ही] स्तुति करनी चाहिये—ऐसा नियम नहीं है; तुमलोग भगवान्को जैसा समझते हो—जैसा जानते हो, उसी प्रकार स्तवन करो—वैसे ही मन्त्रोंद्वारा स्तुति करो—यह तात्पर्य है। 'जनुषा पिपर्तन' यहाँ ['थ' प्रत्ययके स्थानमें] वैदिक प्रक्रियाके अनुसार 'तनप्' आदेश हुआ है और कर्म तथा कर्ताका व्यत्यय भी हुआ है*। भाव यह है कि उक्तरूपसे स्तवन करके तुमलोग जन्मसे पूर्ण हो जाओ—अपने जन्मकी पूर्णता लाभ करो अर्थात् अपने जन्मको समाप्त कर डालो [अब पुनः न जन्म लेना पड़े, मुक्त हो जाओ]। अथवा 'तं देवं

* अर्थात् कर्ताका कर्मके रूपमें प्रयोग हुआ है और कर्मका करणके रूपमें; तथा कर्ताका निर्देश ही नहीं हुआ है। होना तो यह चाहिये कि 'युष्माभिः जनुः पूर्यताम् (तुमलोग जन्मको पूर्ण (समाप्त) कर लो)' किन्तु है इस प्रकार—'यूयं जनुषा पूर्यध्वम् (तुम जन्मद्वारा स्वयं पूर्ण हो जाओ)।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चा तं देवं जनुषा पिपर्त्तन स्वच्छन्दचरितेन बहुविधेन जन्मना पूरयत मत्स्याद्यवतारैरन्वितं वर्णयतेत्यर्थः । अथैवमपि वयं स्तोतुमसमर्थाः, अस्य भगवतः श्रीमन्नामाप्याविवक्तन सदा कीर्त्तयत 'हे विष्णो व्यापक ते महः प्रकाशं त्वत्स्वरूपप्रकाशिकां सुमतिं शोभनां मतिं भजामहे' इति । अत्रापि व्यत्ययः 'भजामहै' इति । ब्रह्मविद्यामाशासानाः कीर्त्तयतेत्यर्थः ।

जनुषा पिपर्तन' उन परमेश्वरको स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किये हुए नाना प्रकारके जन्मों (अवतारों) से पूर्ण करो; तात्पर्य यह कि मत्स्य आदि अवतारोंसे युक्त उन भगवान्का वर्णन (गुणगान) करो। [यदि ऐसा समझो कि] हम इस प्रकार भी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो उन भगवान्के श्रीयुक्त नामोंका ही सदा कीर्तन किया करो; [तथा कीर्तन करते समय ऐसा सङ्कल्प करो कि] 'हे विष्णो!—हे व्यापक परमेश्वर! हम आपके महः—प्रकाशको अर्थात् आपके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली सुमति—सुन्दर बुद्धिको धारण करें।' भाव यह हुआ कि ब्रह्मविद्याकी आशा रखते हुए कीर्तन करो। यहाँ ('भजामहे' इस क्रियामें) भी [लोट् लकारका लट् लकारके रूपमें] व्यत्यय हुआ है, अर्थके अनुसार 'भजामहै' होना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततश्चापवर्गफलकज्ञानसाधनत्वमेवापवर्गसाधनत्वं कीर्त्तनस्य। मन्त्रोऽप्ययं विधायको भविष्यति।

विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य नियोगेनापनीयते।
स्वतो विधास्यति ह्येष नियोगात् स्मारयिष्यति॥

इति न्यायेन।

नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतकानि श्रुतिपुराणवचनानि

एवमन्येऽपि नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतका मन्त्राः सन्त्यनेकशः—

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष ही जिसका फल है ऐसे ज्ञानका साधन होकर ही कीर्तन मोक्षका साधन है। [यहाँ यह शंका होती है कि यह श्रुतिवाक्य तो कर्ममें विनियुक्त मन्त्र है, यह विधि (कर्तव्यमें नियुक्त करनेवाला) कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—] यह श्रुति-वाक्य यद्यपि मन्त्र है तथापि—

"किसी कर्ममें विनियोग होनेसे मन्त्रकी विधि-शक्ति दूर नहीं की जा सकती; यह मन्त्र स्वतः तो विधायक होगा और विनियोग होनेसे विधिका स्मरण करानेवाला होगा।"

इस न्यायके अनुसार विधायक हो सकता है*।

इसी प्रकार नाम-मन्त्रको ही पुरुषार्थका साधन प्रमाणित करनेवाले और भी अनेकों मन्त्र हैं—

---

* जैसे 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' यह श्रुतिवाक्य मन्त्र भी है और विधि भी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम"। "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि"। "भूरि नाम मनामहे"। इत्यादयः। तेषां च तैस्तैरसाधारणैः 'अमृतानां प्रथमस्य' इत्या-

---

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम"* "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि"† "भूरि नाम मनामहे"‡

इत्यादि। [यदि कहें, 'ये उपर्युक्त मन्त्र भगवद्विषयक ही हैं' इसमें क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर देते हैं—ये सभी मन्त्र जहाँ पढ़े गये हैं, वहाँका प्रकरण देखनेपर] 'अमृतानां प्रथमस्य' § इत्यादि विशेष लिङ्गोंसे

---

* मन्त्रार्थ—देवताओंमेंसे किस सर्वश्रेष्ठ देवताके उत्तम नामका हम उच्चारण करें।

† मन्त्रार्थ—हे स्वतन्त्र यशवाले प्रभो! मैं सदा ही आपके नामका कीर्तन करता हूँ।

‡ मन्त्रार्थ—हम [मरणशील मनुष्य आप अविनाशी परमेश्वरके] नामका बार-बार उच्चारण करते हैं।

§ "कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" इत्यादि प्रथम मन्त्रके भगवद्विषयक होनेमें उसके बादवाले मन्त्रका "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम् (अमरोंमें प्रथम अग्नि (परमात्मा) के [नामोंका] हम उच्चारण करते हैं)" यह प्रथम चरण ही लिङ्ग (हेतु) है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे मन्त्रके अन्य अंश भी उनके भगवद्विषयक होनेमें प्रमाण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

दिभिर्लिङ्गैर्भगवद्विषयत्वम् 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायेन। पुरुषार्थ-साधनत्वं च नाम्नो ज्ञानद्वारेणैवाभिप्रेतं पूर्वेण समानार्थत्वात्। पुराणवाक्यं च—

ज्ञात होता है कि ये मन्त्र 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' * इस न्यायके अनुसार [जैसे आकाश शब्द 'ब्रह्म' अर्थका बोधक माना जाता है उसी प्रकार] भगवद्विषयक हैं। नामको भी ज्ञानके द्वारा ही पुरुषार्थ-साधक मानना अभीष्ट है; क्योंकि पूर्वोक्त [तमु स्तोतारः इत्यादि] मन्त्रके समान ही इन मन्त्रों-का भी अर्थ है। [नाम-मन्त्रको पुरुषार्थ-साधक बतानेवाला] पौराणिक वचन भी है—

---

* इसका अर्थ यह है—आकाश ब्रह्म है; क्योंकि आकाशके ब्रह्म-वाचक होनेमें लिङ्ग (प्रमाण) है। इस न्यायका स्पष्टीकरण यों है—"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" (इस लोककी गति क्या है? इसके उत्तरमें कहा 'आकाश है') इस मन्त्रमें आया हुआ आकाश शब्द ब्रह्मका वाचक है क्योंकि इस विषयमें निम्नाङ्कित मन्त्र लिङ्गभूत है—"सर्वाणि ह भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (सभी भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं)। यह निश्चय है कि ब्रह्म ही समस्त विश्वकी गति है और ब्रह्मसे ही सभी भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उपर्युक्त मन्त्रोंमें 'आकाश' शब्द ब्रह्मबोधक माना गया है। इसी प्रकार 'अमृतानां प्रथमस्य' (देवताओंमें प्रथम देवका) इस कथनसे प्रथम देव परमेश्वरका ही बोध होता है, अतएव "कस्य नूनम्" इत्यादि मन्त्र भगवद्विषयक ही हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंको भी उनके विशेष लिङ्गोंसे भगवद्विषयक समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यावज्जीवं प्रणवमथ वावर्त्तयेद्रुद्रियं वा
याजुर्वेदं वसतिमथ वा वारणस्यां विदध्यात् ।
हित्वा लज्जां कलिमलकुलच्छेदकानीरयेद्वा
विष्णोर्नामान्यनिशममृतत्वाप्तिरेषा चतुर्धा ॥

इति । वाराणसीवासस्य तारकब्रह्मबोधद्वारेणामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं काशीखण्डादिषु प्रसिद्धम्, तत्समभिव्याहारादनुकीर्तनस्यापि तद्वदेवेति । एवं चामृतत्वसाधनस्य कीर्त्तनस्य धर्मा गतभीत्वादयो न

"जबतक जीवे प्रणव (ॐकार) का जप करे, अथवा यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीका पाठ करे, या काशीमें निवास करे अथवा लज्जा छोड़कर भगवान् विष्णुके कलिमलनाशक नामोंका निरन्तर कीर्तन करे—ये अमृतत्व-प्राप्तिके चार प्रकार (उपाय) हैं।"

काशीका निवास तारक ब्रह्मके ज्ञानद्वारा अमृतत्व-प्राप्तिका साधक है—यह बात [पद्मपुराणान्तर्गत] काशी-खण्ड आदिमें प्रसिद्ध है। उसके साथ उक्त होनेसे आवृत्त कीर्तन भी उसीकी भाँति (ज्ञानद्वारा ही) अमृतत्व-प्राप्तिका साधक है। इसी प्रकार ['नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको' इस श्लोकमें कहे हुए] निर्भयत्व आदि भी अमृतत्वसाधक कीर्तनके ही धर्म हैं, पापक्षयके साधनभूत कीर्तनके नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयसाधनस्य । पापक्षयस्तु यथाकथंचिज्जिह्वाङ्गनमागतान्नाममात्रादेवेति । अत एव सौरपुराणे निरन्तरं हननापहारादिषु प्रवृत्तस्यापरानपि तत्रैव प्रवर्तयितुमाहर प्रहर संहरेति व्याहरतो व्याडिनाम्नो व्याधस्य पदान्तरावयवत्वेन प्रसङ्गागतादपि हरशब्दात् सर्वाघसंहारो वर्णितः, तदभ्यासाहितात्संस्कारप्रचयादनन्तरजन्मनि तत्त्वज्ञानमपि वर्णितम् ।

नामकीर्तनस्येतिकर्तव्यतादिनिरपेक्षत्वेऽपि विधित्वसमर्थनम्

ननु यदि न काचिदितिकर्तव्यता कीर्त्तनस्य कथं विधानम् ?

पापक्षय तो जिस-किसी प्रकारसे भी जिह्वापर आये हुए नाममात्रसे ही हो जाता है। इसीसे सौरपुराणमें—निरन्तर हत्या और चोरीमें लगे रहनेवाले तथा दूसरोंको भी उन्हीं कर्मोंमें लगानेके लिये 'आहर (हर लाओ) प्रहर (मारो) संहर (संहार कर डालो)' इत्यादि कहते हुए व्याडिनामक व्याधके मुँहमें अन्य शब्दके अवयवरूपसे प्रसङ्गवश आये हुए भी 'हर' शब्दके उच्चारणसे समस्त पापोंके संहारका वर्णन किया गया है । और उस 'हर' शब्दके उच्चारणकी आवृत्तिसे उत्पन्न संस्कारकी वृद्धि होनेके कारण दूसरे जन्ममें उस व्याधको तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति हुई—इस बातका भी वर्णन मिलता है ।

पूर्वपक्षी—यदि कीर्तनकी कोई इतिकर्तव्यता (इस प्रकार करना चाहिये—ऐसी विधि) नहीं है तो उसका विधान ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अङ्गप्रधानवत्यां भावनायां युगपत्पुरुषनियोगः" इति शाबरभाष्यम्, भट्टवार्त्तिकं च—

किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ ।
इति ।

क्यों हुआ ? शाबर-भाष्यमें भी कहा है—'अङ्ग-प्रधानवती भावनामें [अर्थात् अमुक फलकी सिद्धिके लिये प्रधान उपाय क्या है ? और उस प्रधान उपायको काममें लानेके लिये उसके साथ सहकारी या अङ्ग (अप्रधान) साधनके रूपमें और क्या-क्या कर्तव्य है ? इस विचारमें] पुरुषकी एक ही साथ प्रवृत्ति होती है।' भट्टका वार्तिक भी इसी बातको स्पष्ट करता है—

"किम् (किस फलके उद्देश्यसे ?) केन (किस साधन-से ?) और कथम् (किस प्रकार [यज्ञादि कर्म करे ?])—इन शब्दोंसे अपेक्षित जो [फल, करण (मुख्य साधन) तथा इतिकर्तव्यता (सहकारी या अप्रधान साधन)] के अंश हैं उनसे पूर्ण जो विधिसूचक लिङ् लोट् आदि प्रत्यय है वही [यजेत (यज्ञ करे)] इत्यादि रूपसे विधि (आज्ञा देने) में समर्थ होता है।"*

---

* जैसे 'यजेत (यज्ञ करे)' इस विधिमें प्रश्न होते हैं कि 'किमुद्दिश्य यजेत ? केन यजेत ? कथं यजेत ? (किस फलके उद्देश्यसे ? किस साधनसे और किस प्रकार यजन करे ?)' इन प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर यों है—स्वर्गमुद्दिश्य यजेत, विश्वजिता यजेत, शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यतया यजेत (स्वर्गादि फलके उद्देश्यसे, 'विश्वजित्‌नामक यज्ञसे और शास्त्रोक्त प्रकारसे यजन करे)' इस प्रकार स्वर्गादि फल, विश्वजित् साधन और शास्त्रोक्त इतिकर्तव्यताके अंशोंसे पूर्ण लिङादि प्रत्ययान्त 'यजेत' आदि वचन विधि (आज्ञा देने) में समर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

सत्यवदनादीनामिवेति ब्रूमः, न हि तत्र किञ्चिदङ्गमुपदिश्यते, नाप्यतिदेष्टुं शक्यते, तल्लिङ्गाभावात् । न चैतावता प्रतीयमानो विधिरपलपितुं शक्यते, तथेहापि भविष्यति ।

ननु तत्रापि लौकिकं किञ्चिदुपकारकमस्त्येव सर्वथैवानुपकृतत्वे तु तत्रापि विधानं नाभविष्यदेव ?

सिद्धान्ती–इसके उत्तरमें हम इतना ही निवेदन करते हैं कि जिस प्रकार सत्य-वादन आदिका विधान है उसी प्रकार कीर्तनका भी है। ['सत्यं ब्रूयात्' इत्यादि वचनोंमें] जहाँ सत्य बोलनेका उपदेश है, वहाँ [ऐसे बोलना चाहिये—इत्यादि रूपसे] किसी अंग (इतिकर्तव्यता) का उपदेश नहीं है और न अन्यत्र यज्ञादिमें कहे हुए उस अंगका यहाँ अतिदेश (आरोप) ही किया जा सकता है; क्योंकि आरोप करनेका कोई कारण नहीं है। परन्तु इतनेहीसे [अर्थात् इतिकर्तव्यता आदिका उपदेश न होनेमात्रसे] स्पष्ट प्रतीत होनेवाली सत्यवादनकी विधिका अपलाप नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार यहाँ कीर्तनके सम्बन्धमें होगा।

पूर्वपक्षी–सत्यभाषण आदिमें भी कुछ लौकिक उपकारक हैं ही, उपकारक सामग्रीसे सर्वथा शून्य होनेपर तो वहाँ भी सत्यभाषणादिके निमित्त विधान नहीं होता ?*

१–सत्यवादन आदिके लिये विधि-वाक्य ये हैं—"सत्यं ब्रूयाद्धैर्यं कुर्याद प्राङ्मुखोऽन्नान्यश्नीत" (सच बोले, धैर्य धारण करे और पूर्वाभिमुख होकर अन्न भोजन करे)।

* जैसे सत्य बोलनेमें देखी-सुनी हुई बातोंका ठीक-ठीक स्मरण करके जिह्वाद्वारा व्यक्त करना आदि लौकिक व्यापार ही उपकारक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इहापि तर्हि मनोवाक्कायस्थानानामन्योन्यसंयोगो लौकिक एवोपकारको भविष्यति येन विना शब्दोच्चारणमेव न संभवति, अथ वा किमस्माकं विध्यन्तरसाधर्म्यसमर्थनेन ? ईदृश एवायमपूर्वो विधिः स्वरूपकथनं वा, प्रमाणान्तरानवगतं कीर्त्तनस्य पापक्षयसाधनत्वमबाधितमवगम्यमानमपह्नोतुं न शक्नुमः ।

कीर्तनीयानां भगवन्नाम्नां समस्तानां व्यस्तानां वोक्तं सामर्थ्यमिति विचारे पूर्वपक्षः

ननु किं समस्तानामेव भगवन्नाम्नामेतादृशं सामर्थ्यमुत

सिद्धान्ती–यदि ऐसी बात है तो यहाँ भी मन, वाणी और शरीरके स्थानोंका परस्पर संयोगरूप लौकिक व्यापार ही उपकारक होगा, जिसके विना शब्दका उच्चारण ही नहीं हो सकता। अथवा 'दूसरी विधियोंमें जिस प्रकार सहायक धर्म हैं उसी प्रकार कीर्तनमें भी हैं' इस बातका समर्थन करनेसे हमें क्या प्रयोजन है ? यह कीर्तन इसी रूपमें अपूर्वविधि अथवा स्वरूप-कथन है। 'कीर्तन पापक्षयका साधन है' यह बात शब्दातिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे ज्ञात नहीं है; तथा किसी अन्य प्रमाणसे बाधित भी नहीं है अतः शास्त्रोंद्वारा ज्ञात होती हुई इसकी साधनताको हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

पूर्वपक्षी–क्या सम्पूर्ण भगवन्नाम मिलकर ही इतने सामर्थ्यशाली हैं या प्रत्येक अलग-अलग भी ? सब मिलकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यस्तानामपि ? न तावत्समस्तानामेव, अवशेनेत्यादिविधिना विरोधात्, न ह्यवशेन समस्तानामुच्चारणं संभवति। अथ व्यस्तानाम्, तत्रापि किं सर्वेषामेव ? उत केषांचिदेव ? तत्र यदि सर्वेषामपि, नरकसृष्टेरानर्थक्यं प्रसज्येत; न ह्यजातिबधिरस्य कस्याप्येतत्संभाव्यते यन्नामसहस्रमध्ये किञ्चिदपि कदाचिदपि कथंचिदपि न शृणोति न गृह्णाति। अपि च यदि सर्वेषां समानं सामर्थ्यम्, एकेनैव पुरुषार्थसिद्धेरन्येषामानर्थक्यं प्रसज्ज्येत। अन्यच्च समानमहिम्नां

ही हैं—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर 'अवशेनापि यन्नाम्नि···(विवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करनेपर)' इत्यादि विधिसे विरोध होता है; जो विवश है उससे समस्त नामोंका उच्चारण होना सम्भव नहीं है। यदि अलग-अलग नामोंका भी सामर्थ्य मानें तो भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या सभी नामोंमें पृथक्-पृथक् इतना सामर्थ्य है या कुछहीमें ? इनमें यदि सभी नामोंमें सामर्थ्य मानें तो नरक-निर्माणकी व्यर्थताका प्रसङ्ग आ जाता है, क्योंकि जो जन्मसे वहरा नहीं है—ऐसे किसीके लिये भी यह सम्भावना नहीं की जा सकती कि वह सहस्रों नामोंमेंसे किसीको भी कभी भी और किसी प्रकार भी नहीं सुन सकेगा और न उच्चारण ही कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि सभी नामोंका बराबर ही सामर्थ्य है तो एकहीसे पुरुषार्थकी सिद्धि हो जानेसे अन्य नामोंके निरर्थक होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। इतना ही नहीं, एक समान महिमावाले बहुतसे नामोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम्नां समाहारे तन्महिम्नामपि समाहारादेकस्य श्रीरामनाम्नो नामसहस्रसाम्याभिधानं नावकल्पते, न हि प्रदीपसहस्रस्य यावान् प्रकाशस्तावानेकस्य प्रदीपस्य भविष्यति । सामर्थ्यस्य च वैषम्ये तु भवत्येव, यावत् खलु खद्योतसहस्रस्य तेजस्तावदेकस्यापि प्रदीपस्य । अथ केषांचिदेव, तर्हि—

सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः ।
यच्चाभिरुचितं नाम तत्सर्वार्थेषु योजयेत् ॥

इति श्रीविष्णुधर्मगतवचनविरोधः, अन्येषामानर्थक्यं च तदवस्थमेवेति ।

समाहार होनेपर उनकी महिमाओंका भी समाहार हो सकता है, ऐसी दशामें एक ही श्रीरामनामको सहस्र नामोंके समान बतलाना भी नहीं बन सकता । एक हजार दीपकोंका जितना प्रकाश होगा उतना ही प्रकाश एक दीपकका नहीं हो सकता। हाँ, यदि न्यूनाधिक सामर्थ्य हो तब तो हो ही सकता है । जैसे हजार खद्योतोंका जितना प्रकाश है उतना एक दीपकका भी हो सकता है । यदि कुछ ही नामोंका सामर्थ्य अधिक मानें तो—

"सर्वार्थशक्तिसम्पन्न देवदेव भगवान् चक्रपाणिका जो ही नाम रुचिकर प्रतीत हो उसीका सभी पुरुषार्थोंकी सिद्धिके निमित्त [कीर्तनादिद्वारा] उपयोग करे ।"

इस श्रीविष्णुधर्मके वचनसे विरोध होता है और अन्य नामोंके अनर्थक होनेका दोष भी ज्यों-का-त्यों ही रहता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र सिद्धान्तः

अत्राभिधीयते—सर्वेषामपि भगवन्नाम्नां प्रत्येकमेतादृशं सामर्थ्यम्। न च नरकसृष्टेरानर्थक्यं दग्धेऽपि कथंचित्प्राचीने पाप्मनि तदुत्तरकालभाविभिरंहोभिर्महदवमानैश्च नरकपातस्यापि संभवात्। न चावृत्तिगुणकमेव कीर्त्तनं सर्वस्यापि भविष्यतीति कश्चिदस्ति नियमः। अत एव भरतदेवस्यापि ऋषभदेवेनानुगृहीत-स्यापि प्रतिबद्धापरोक्षानुभवत्वादन्तरायैरत्यन्तसमुच्छिन्नभगव-दुपासनत्वाच्च तदुत्तरकालभाविना मृगासक्तिरूपेण कर्मणा निकृष्ट-

---

सिद्धान्ती—इस विषयमें [सिद्धान्तमत] बतलाते हैं—भगवान्के सभी नामोंमेंसे प्रत्येकका ही ऐसा सामर्थ्य है। [ऐसा माननेसे] नरककी सृष्टि भी निरर्थक नहीं होगी; क्योंकि प्राचीन पापके किसी प्रकार दग्ध हो जानेपर भी उसके बाद होनेवाले पापोंसे और महात्माओंके अनादरसे नरकमें गिरना भी सम्भव है। [यदि कहें, कीर्तनकी आवृत्ति कर लेनेसे कोई भी नरकमें नहीं गिरेगा; अतः नरक-सृष्टि व्यर्थ ही है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि] सबके द्वारा कीर्तन-की आवृत्ति ही होगी—ऐसा नियम नहीं है। अतएव जिनपर भगवान् ऋषभदेवका अनुग्रह भी हो चुका था उन राजा भरतको भी अपना प्रत्यक्ष अनुभव विघ्नसे आवृत्त हो जानेके कारण तथा विक्षेपोंके द्वारा भगवान्की उपासना उच्छिन्न हो जानेसे उसके बाद होनेवाले मृगासक्तिरूप कर्मके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देहारम्भः, अथ वा मृगत्वमपि तज्जातिस्मरणवैराग्यभूतदयादिगुणोपेतत्वान्मोक्षानुकूलमेवेति न तदारम्भकस्य कर्मणो निवृत्तौ प्रयतते भक्तिः। जयविजययोश्च वैकुण्ठवासिनोरपि ब्रह्मविदवमानादधःपतनम्, ब्रह्मविदवमानजनितं हि दुरितं दुरत्ययं भगवदुपासनेनापि भगवद्भक्तावमानजनितं च। प्रपञ्चितं चैतत्तृतीयस्कन्धे—

सोऽहं भवत्समुपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।

द्वारा निकृष्ट [मृग-] देहकी प्राप्ति हुई। [यदि कहें, भजनकी आवृत्तिसे वह आसक्ति दूर क्यों नहीं हुई? तो इसका उत्तर देते हैं-] अथवा उनकी मृग-योनि भी पूर्वजन्मकी स्मृति, वैराग्य और जीवदया आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण मोक्षके अनुकूल ही थी, इसलिये उसके आरम्भक कर्मकी निवृत्तिके निमित्त भक्तिने प्रयत्न ही नहीं किया। [महात्माओंका अपमान करनेसे भी नरक-प्राप्ति होती है] वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाले जय और विजयका ब्रह्मज्ञानी सनकादिकोंके अपमानसे अधःपतन हुआ था। ब्रह्मज्ञानियों तथा भगवद्भक्तोंके अपमानसे होनेवाले पापसे तो भगवान्‌की उपासनाद्वारा भी उद्धार पाना कठिन है। [श्रीमद्भागवतके] तृतीय स्कन्धमें—

"आप-जैसे महात्माओंसे ही जिसको परम पवित्र यश प्राप्त हुआ है वही मैं विष्णु आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाली अपनी भुजाओंको भी काट सकता हूँ [इन पार्षदोंको दण्ड देनेकी तो बात ही क्या है?]"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादिना। नवमे चाम्बरीषोपाख्याने—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

इत्यादिना। वेनस्य तु भगवन्निन्दाप्रतिबद्धसामर्थ्यं सकृत्कीर्त्तनमावर्त्यमानमपि न पापक्षयायालम्, शिशुपालादीनां पुनर्निर्भरवैरानु-

---

इत्यादि वचनोंद्वारा तथा नवम स्कन्धके अम्बरीषोपाख्यानमें भी—

"हे द्विजवर दुर्वासाजी! मैं परतन्त्र-सा होकर अपने भक्तोंके अधीन रहता हूँ। मैं भक्तजनोंका परमप्रिय हूँ, मेरे प्यारे साधु भक्तोंने मेरे हृदयको वशीभूत कर लिया है।"

इत्यादि वचनोंद्वारा इस प्रसङ्गका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। [यदि कहें राजा वेनने भी तो निन्दाके व्याजसे भगवान्‌के नामोंकी आवृत्ति की थी, उसकी सद्गति क्यों नहीं हुई? तो इसका उत्तर देते हैं–] वेनने [भगवान्‌की निन्दा करते समय] जो एक बार कीर्तन किया वही भगवान्‌की निन्दासे हतवीर्य (प्रभावहीन) हो गया, अतएव निन्दाके लिये ही भगवान्‌के नामकी बार-बार आवृत्ति करनेपर भी वह नाम पापक्षयके लिये पर्याप्त नहीं हुआ* [यदि ऐसी बात है, तो शिशुपालकी मुक्ति क्यों हुई? इसका उत्तर यों है—] शिशुपाल आदिको तो अत्यन्त

---

* इसके अतिरिक्त वेनने महात्माओंका अपमान भी किया था, महात्माओंके अपमानजन्य पापसे भगवान्‌की उपासनाद्वारा भी उद्धार पाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्धपरिकल्पितसंपदः समाधेरिव निन्दादोषस्यापि दग्धत्वात् पुरुषार्थप्राप्तिरिति स्वयमेव सप्तमाद्ये समर्थितं श्रीशुकेन ।

यदप्युक्तम्—एकेनैव पुरुषार्थसिद्धेरन्येषामानर्थक्यमिति, तदप्ययुक्तम्, पुरुषभेदेन सर्वेषामपि पुरुषार्थसाधनत्वोपपत्तेः ।

वैरानुबन्धके कारण भगवान् श्रीकृष्णमें चित्तकी तन्मयतारूप सम्पत्ति प्राप्त हो गयी थी, जो समाधिके समान ही थी, अतः उससे निन्दादोषके भी दग्ध हो जानेके कारण उसको पुरुषार्थकी प्राप्ति हो गयी—इसका समर्थन श्रीमद्भागवतमें सप्तम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें स्वयं श्रीशुकदेवजीने ही किया है ।

और जो यह कहा था कि 'एक नामसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि हो जानेसे अन्य नाम निरर्थक हो जायँगे' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि पुरुषभेदसे सभी नामोंकी पुरुषार्थसाधनता सिद्ध हो जायगी [अर्थात् भिन्न-भिन्न पुरुष अपनी विभिन्न रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न नामोंका कीर्तन करेंगे इस प्रकार सभी नाम विभिन्न पुरुषोंके उपयोगमें आ सकते हैं; अतः वे व्यर्थ नहीं हो सकते] ।

कठिन है—यह पहले वता आये हैं । इसलिये वेनको उस पापका दण्ड मिलना आवश्यक था; साथ ही निन्दा-व्याजसे किये हुए कीर्तनका भी फल उसे मिला ही । स्वयं भगवान्ने उसके शरीरसे पृथुरूपमें प्रकट होकर उसका नरकसे उद्धार करके 'पुत्र' कहलाना सार्थक किया ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु समानमहिम्नां समाहारे तत्तन्महिम्नामपि समाहारान्नैकस्य तादृशो महिमेति, तदपि परिच्छिन्नप्रभावेषु प्रदीपादिषु घटते, न पुनर्निरङ्कुशमहिमसु भगवन्नामसु । न खलु चिन्तामणीनां निचयस्य, एकस्य वा चिन्तामणेः, कल्पशाखिनां वनस्य, एकस्य वा कल्पशाखिनः, कामधेनूनां यूथस्य, एकस्या वा कामधेनोः कश्चिदस्ति विशेषः ।

फिर जो कहा था कि 'समान महिमावाले नामोंका समाहार होनेपर उनकी महिमाओंका भी समाहार होनेसे एक [श्रीरामनाम] की हजार अन्य नामोंके समान महिमा नहीं हो सकती' वह कथन भी परिच्छिन्न (परिमित) प्रभाववाले दीपक आदिमें ही संघटित हो सकता है, निरंकुश (अपरिमित) महिमावाले भगवान्‌के नामोंमें नहीं । चिन्तामणिका समूह या एक चिन्तामणि, कल्पवृक्षोंका वन या एक कल्पवृक्ष और कामधेनुओंका समुदाय अथवा एक कामधेनु हो—इनके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं होता * ।

---

* चिन्तामणि, कल्पवृक्ष या कामधेनु—इनमेंसे किसीके भी निकट रहनेसे समस्त मनोरथोंकी पूर्ति होती है । एक चिन्तामणि, एक कल्पवृक्ष या एक कामधेनु हो तो भी सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि होती है और यदि ये हजारोंकी संख्यामें हों तो भी सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि होती है, इनके अधिक या कम होनेपर फलमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाहृतानामुच्चारणमपि नानर्थकं संस्कारप्रचयहेतुत्वाद् एकस्यैवोच्चारणप्रचयवत् । तस्माच्छ्रद्धाभक्तिज्ञानवैराग्याभ्यासदेश-कालविशेषादिनिरपेक्षं भगवन्नामकीर्त्तनमेव महदवमानातिरिक्तम-प्रारब्धं प्राचीनमंहः सर्वमेव संहरति । आवर्त्यमानं पुनर्दुर्वासना-विध्वंसद्वारेण श्रद्धाभक्तिवैराग्यज्ञानान्युत्पादयदपवर्गसाधनम्, प्रारब्ध-पापनिवर्त्तकं च कदाचिदुपासकेच्छावशात् । महदवमानस्य तु भोग एव निवर्त्तकस्तदनुग्रहो वा, न पुनरन्यत् किञ्चिदिति स्थितम् ।

जैसे एक ही नामके उच्चारणसे संस्कारकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार एक ही समय सभी सम्मिलित नामोंका उच्चारण भी संस्कारवृद्धिका हेतु होनेके कारण निरर्थक नहीं है । इसलिये श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास (आवृत्ति) तथा विशेष देश-काल आदिकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल एक बार किया हुआ भगवन्नाम-कीर्तन ही महात्माओंके अनादरके अतिरिक्त सभी प्राचीन अप्रारब्ध (सञ्चित) पापोंका नाश कर देता है और आवृत्ति करनेपर तो वह दुर्वासनाका विध्वंस करनेके द्वारा श्रद्धा, भक्ति, वैराग्य और ज्ञानका उत्पादन करता हुआ किसी समय उपासककी इच्छावश मोक्षका साधक और प्रारब्ध पापका निवर्तक भी होता है । परन्तु महात्माजनोंके अपमानरूप पापको तो उपभोग अथवा उन महात्माओंका अनुग्रह ही निवृत्त कर सकता है, दूसरा कोई साधन नहीं—यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मार्तप्रायश्चित्तवैयर्थ्याशङ्कानिरसनम्

नन्वेवं पुराणार्थे परिगृह्यमाणे स्मृतीनामत्यन्तबाध एव स्यात्, न च तदुचितम्; पुराणैरेव तदर्थस्याप्यङ्गीकारात् ।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।

इत्यादिभिः ।

तत्र समाधिः—एकत्रैव प्रवृत्तिनियमोऽन्यत्र प्रवृत्तिं प्रति-

पूर्वपक्षी—इस प्रकार पुराणार्थ गृहीत होनेपर तो स्मृतियोंका अत्यन्त बाध* ही हो जायगा और ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि पुराणोंने ही—

"वे उन पापोंका तप, दान और व्रत आदिसे शोधन करते हैं।"

इत्यादि वचनोंके द्वारा स्मृत्यर्थकी प्रामाणिकता भी स्वीकार की है।

सिद्धान्ती—यहाँ यह समाधान है—किसी एक ही कार्यमें प्रवृत्ति होनेका नियम करना ही अन्यत्र होनेवाली प्रवृत्तिको रोकता है, किन्तु कीर्तनमें प्रवृत्तिका नियम

---

* पुराणोंमें 'एक बार भगवान्‌का नाम लेनेमात्रसे ही समस्त पापोंका नाश हो जाता है' इसीका बार-बार प्रतिपादन किया गया है। और स्मृतियोंमें पापक्षयके लिये द्वादशाब्दादि प्रायश्चित्त बतलाया गया है; अतः सुलभ नाम-कीर्तनको छोड़कर कौन दुःसाध्य प्रायश्चित्त करेगा—इसलिये स्मृतिके बाधका प्रसंग आ सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बध्नाति, न च कीर्त्तने प्रवृत्तिनियमः; अश्रद्धोपहतत्वात् प्रायेण पुरुषबुद्धीनाम्, साङ्केत्यनिबन्धना प्रवृत्तिर्न नियन्तुं शक्यते; तस्मादस्त्येवावकाशः स्मृतीनाम् । दृश्यते च सुकरदुष्करयोर्विकल्पो वैद्यकेषु तत्र च किञ्चित्सुकरमपि कस्मैचित्स्वभावादेव न रोचते, अतस्तदर्थं दुष्करमपि चिकित्सान्तरं विधीयते; तद्वदिहापि दुर्वारदुर्वासनावासितचेतसः प्रायेण पराङ्मुखा एव पुरुषोत्तमात्पुरुषाः; तदर्थं प्रायश्चित्तान्तरविधानम् ।

नहीं किया गया है [अर्थात् 'व्रत आदि न करके केवल कीर्तन ही करे' ऐसा नहीं कहा गया है]; क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः अश्रद्धासे दूषित होती है, अतः पुत्र आदिके नाम या परिहास आदिके व्याजसे ही उनकी नाम-कीर्तनमें प्रवृत्ति होती है, किन्तु ऐसी प्रवृत्तिके लिये [यही होना चाहिये] ऐसा नियम नहीं किया जा सकता; इस कारण स्मृतिके लिये भी अवकाश है ही [उसका अत्यन्त बाध नहीं होता]। वैद्यक-ग्रन्थोंमें सुकर और दुष्कर चिकित्साओंमें विकल्प देखा ही जाता है, पर वहाँ कोई सुकर चिकित्सा भी किसीको स्वभावसे ही अच्छी नहीं मालूम होती, अतः उसके लिये दूसरी चिकित्सा दुष्कर होनेपर भी की जाती है। उसी प्रकार यहाँ भी दुर्वार दुर्वासनासे वासित चित्तवाले पुरुष प्रायः भगवान् पुरुषोत्तमसे विमुख ही होते हैं; अतः उन्हींके लिये [कीर्तनके अतिरिक्त] अन्य प्रायश्चित्तोंका विधान है । [इस प्रकार नामकीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तमेंसे किसीमें भी रुचिके अनुसार वैकल्पिक प्रवृत्ति मानना ही उत्तम है]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मार्तपौराणयोर्विकल्पस्य प्रतिपादनम्

अत्र यत् कैश्चिदुच्यते—एकापूर्वप्रयुक्तमनेकमेकं दृष्टमुपकारं कुर्वद् विकल्प्यते यथा व्रीहियवादयः, स्मार्त्तपौराणयोः पुनरपूर्वभेदाददृष्टार्थत्वाच्च न विकल्प इति। तत्र च वक्तव्यम्—विकल्पनिराकरणेन किमनयोः समुच्चयः? साध्यते किं वा व्यवस्था? किं वान्यतरस्यासाधनत्वम्? समुच्चयव्यवस्थे तावन्निराकृते, अन्यतरस्यासाधनत्वेऽपि तावन्नामकीर्त्तनस्य नासाधनत्वं तत्परत्वात्पुराणानाम्, अतः स्मार्त्तस्यासाधनत्वमेव परिशिष्यते, न च तस्याप्यसाधनता,

---

यहाँ कुछ लोग जो ऐसा कहते हैं कि एक ही अपूर्वद्वारा प्रयुक्त अनेक साधन जब एक ही दृष्ट उपकार (प्रत्यक्ष प्रयोजनकी सिद्धि) करते हैं तो उनमें विकल्प हुआ करता है, जैसे ['व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' इत्यादिमें] व्रीहि अथवा यव आदि विकल्पसे गृहीत होते हैं। परन्तु स्मार्त और पौराणिक कर्मोंके अपूर्वमें भेद होनेसे तथा उनके अर्थ (कार्य) अदृष्ट होनेसे उनमें विकल्प मानना ठीक नहीं—सो उसमें हमें यह कहना है कि क्या आप विकल्पका निराकरण करके समुच्चयका साधन करते हैं या व्यवस्थाका? अथवा दोनोंमेंसे किसी एककी असाधनता स्वीकार करते हैं? समुच्चय और व्यवस्थाका तो हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। यदि दोनोंमेंसे किसी एकको असाधन स्वीकार करना हो तो भी [हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि] नामकीर्तन असाधन नहीं हो सकता; क्योंकि पुराणोंका तात्पर्य उसीको साधन बतलानेमें है। अतः स्मार्त प्रायश्चित्तकी ही असाधनता शेष रह जाती है, परन्तु उसमें भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकापूर्वप्रयुक्तानामेव विकल्प इति नियमाभावात्, लौकिकानामश्वशिबिकादीनामपि गमने विकल्पदर्शनाद्, भावार्थभेदेऽपि दाहच्छेदादीनां चिकित्सायाम्। न च दृष्टार्थानामेव विकल्पः, अदृष्टार्थयोरपि ग्रहणाग्रहणयोस्तद्दर्शनात्। अथ तत्र विरुद्धसमुच्चयायोगाद्विकल्पस्तर्हीहापि निरपेक्षसाधनसमुच्चयायोगाद्विकल्प एव।

अपि च—अनेकापूर्वप्रयुक्तानामपि क्रममुक्त्यर्थानां शाण्डिल्यदहरादिविद्यानां विकल्पो दृश्यते, न च वाचनिकोऽसाविति

असाधनता है नहीं; क्योंकि एक अपूर्वद्वारा प्रयुक्त विधियोंमें ही विकल्प होता है; ऐसा नियम नहीं है। यात्रा करनेके लिये अश्व और शिविका आदि लौकिक साधनोंमें भी विकल्प देखा जाता है तथा दाह और छेदनके उपकारमें भेद होनेपर भी चिकित्सामें दाह और छेदन आदिका विकल्प होता है। यह भी नियम नहीं है कि दृष्टार्थोंका ही विकल्प होता है, जिनका अर्थ दृष्ट नहीं है ऐसे ग्रहण और अग्रहणरूप* कार्योंमें भी विकल्प दृष्टिगोचर होता है। यदि कहें, वहाँ तो परस्पर विरुद्ध कार्योंका समुच्चय हो नहीं सकता, इसलिये विकल्प है तो यहाँ (नामकीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तोंमें) भी निरपेक्ष-सापेक्ष साधनोंका समुच्चय अयुक्त है; अतः विकल्प ही होता है।

इसके अतिरिक्त अनेक अपूर्वद्वारा प्रयुक्त होनेपर भी क्रममुक्तिकी साधनभूत शाण्डिल्य और दहर आदि विद्याओं† का विकल्प देखा जाता है। यदि कहें वह वाचनिक विकल्प

---

* 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन वाक्योंमें आये हुए ग्रहण तथा अग्रहण दृष्टार्थ नहीं हैं तथापि इनमें विकल्प होता है।

† शाण्डिल्य-विद्या और दहर-विद्याका छान्दोग्योपनिषद्में वर्णन किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यं वादीनामश्रवणात्, तस्मात्तुल्यार्थत्वमेव विकल्पे प्रयोजकं नान्यत् । न च दर्शपौर्णमासज्योतिष्टोमादिसाध्यस्वर्गभेदवदेकस्य पापस्य विनाशव्यक्तिभारोऽस्ति, येन ब्रह्महा द्वादशाब्दानि चरेद्

है [अर्थात् वहाँ विकल्पका स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है, इसलिये विकल्प स्वीकार किया जाता है] तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ [विकल्पबोधक] 'वा' आदि पदोंका श्रवण नहीं होता है । इसलिये तुल्यार्थत्व (एक ही प्रयोजन-का साधक होना) ही विकल्पमें प्रयोजक है; अन्य हेतु प्रयोजक नहीं है । दर्शपौर्णमास और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा साध्य स्वर्गमें जिस प्रकार भेद होता है उस प्रकार एक ही पापके विनाशमें व्यक्ति-भेद होनेकी आपत्ति नहीं है जिससे 'ब्रह्म-हत्यारा द्वादशाब्द प्रायश्चित्तका आचरण करे, ब्रह्म-

---

१. यहाँपर यह शङ्का होती है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी इच्छावाला दर्श और पूर्णमास यज्ञोंद्वारा यजन करे) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी कामनावाला पुरुष ज्योतिष्टोमके द्वारा यजन करे) ये वचन यद्यपि एक ही स्वर्गके साधक हैं तथापि इनमें विकल्प नहीं है, अतः तुल्यार्थता विकल्पकी प्रयोजिका कैसे मानी जा सकती है ? यदि कहो, वहाँ एक स्वर्ग नहीं है बल्कि दर्श-पूर्णमासके द्वारा स्वर्गमात्रकी प्राप्ति और ज्योतिष्टोमके द्वारा स्वर्ग-साम्राज्यकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार वहाँ फलमें भेद है, तो यहाँ भी पापक्षय एक ही नहीं है, भिन्न-भिन्न है, ऐसी स्थितिमें विकल्प नहीं हो सकता । इसी शङ्काका उत्तर देनेके लिये 'दर्शपौर्णमास' आदि आगेकी पङ्क्ति है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्महा हरिं कीर्त्तयेदित्यनयोरपि भिन्नत्वाद् विकल्पः । तस्माद-बाधितार्था एव स्मृतयः । न चाविदुषः कर्मानुष्ठानायोगवदकृताधानस्योत्तरक्रतुकरणायोगवच्चाकृतभगवत्कीर्त्तनस्य प्रायश्चित्तान्तरासंभवः, येन विद्वद्वाक्यवत् 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'

हत्यारा हरिकीर्तन करे' इन वाक्योंमें भेदनिमित्तक विकल्प माना जाय । [तात्पर्य यह कि यज्ञोंद्वारा साध्य स्वर्गमें विभिन्नता है, परन्तु यहाँ एक ही पापका क्षय करनेके लिये कीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तका विधान है; अतः तुल्यार्थता ही यहाँ भेद प्रयोजक है] । इसलिये स्मृतियोंका अर्थ (प्रयोजन) अबाधित ही है । जो कर्मानुष्ठानकी विधिको नहीं जानता उसके लिये [शक्ति न होनेके कारण] कर्मानुष्ठान जिस प्रकार असम्भव है और जिसने अग्निका आधान नहीं किया है उसके लिये [अग्निकाअभाव होनेके कारण] उत्तर याग-का अनुष्ठान जिस प्रकार असम्भव है उस प्रकार जिसने भगवत्कीर्तन नहीं किया है उसके लिये अन्य प्रायश्चित्तोंका अनुष्ठान असम्भव नहीं है जिससे विद्वद्वाक्यके* समान अथवा "पूर्णाहुतिसे सब कामनाओंकी प्राप्ति कर लेता है।"

---

* तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद (जो अश्वमेधद्वारा यजन करता है, अथवा जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्यासे उद्धार पा जाता है) इस वाक्यमें 'य उ चैनमेवं वेद' इतना अंश विद्वद्वाक्य है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति वाक्यवद्वा कीर्त्तनविषयाणामपि वाक्यानामानर्थक्यादर्थवादत्व-माश्रीयेत । तस्माद्यथाश्रुत एवार्थः पुराणवचनानामुदाहृतानामिति ।

अस्य प्रकरणग्रन्थस्य प्रयोजननिरूपणम्

ननु यदि विनैव श्रद्धां कीर्त्तनादेव पापक्षयस्तर्हि किमस्य प्रकरणस्य प्रयोजनम् ? अनेन हि श्रद्धैव साध्यते ।

इस वाक्यके समान कीर्तनविषयक वाक्योंको भी उनकी व्यर्थताकी आशङ्कासे अर्थवाद मान लिया जाय * । अतः उदाहरण दिये हुए पौराणिक वचनोंका यथाश्रुत (जैसा सुना जाता है वह) अर्थ ही [ठीक] है ।

पूर्वपक्षी—यदि बिना श्रद्धाके ही कीर्तनसे पापक्षय होता है तो इस प्रकरणका प्रयोजन ही क्या है ? इससे श्रद्धाका ही तो साधन होता है ।

---

* यहाँ ऐसी शंका की गयी थी कि 'जो अश्वमेधको जानता है वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है' तथा 'पूर्णाहुतिसे सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है' इन दोनों वाक्योंमें अश्वमेधज्ञानको ब्रह्महत्याकी निवृत्तिका कारण मानना और पूर्णाहुतिको कामनाप्राप्तिका साधन बतलाना—ये दोनों बातें जिस प्रकार अर्थवाद मानी गयी हैं उसी प्रकार कीर्तनमात्रसे पापक्षयका प्रतिपादन भी अर्थवाद ही क्यों न मान लिया जाय ? इसीका उत्तर मूलमें 'न चाविदुषः…' इत्यादि वाक्यद्वारा दिया गया है । भाव यह है कि उक्त उदाहरणोंमें अश्वमेध-ज्ञान अश्वमेधयज्ञका अङ्ग है, यदि उसके ज्ञानमात्रसे ही वह फल मिल जाय तो उस महान् दुष्कर यज्ञमें किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसी दशामें यज्ञानुष्ठान व्यर्थ सिद्ध होगा। इसी प्रकार यदि पूर्णाहुतिमात्रसे ही सारी कामनाएँ मिल जायँ तो कौन अग्निका आधान करनेमें प्रवृत्त होगा ? अतः उन स्थलोंपर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्यम्, अपगतेऽपि पापे मनोगतमश्रद्धानिबन्धनं दुःखं न निवर्तते, ततस्तदपगमलक्षणाय मनःसमाधानाय प्रकरणमेतदिति प्रकरणस्य प्रयोजनम्, तस्मात्सर्वमनवद्यम् ।

ग्रन्थान्ते मङ्गलाचरणम्

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक है, परन्तु [विना श्रद्धाके ही कीर्तन करनेसे] पाप निवृत्त हो जानेपर भी अश्रद्धाजनित मानसिक सन्ताप दूर नहीं होता; इसलिये उस अश्रद्धाजनित मानसिक दुःखको दूर करनेके हेतु मनका समाधान करनेके लिये ही यह प्रकरण है—इस प्रकार प्रकरणका प्रयोजन सिद्ध होता है; अतः [इसमें जो कुछ कहा गया] सब समीचीन है ।

यह रामनामरूपी मन्त्र शुद्धचेता महात्माओंके चित्तको [हठात्] अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला तथा बड़े-से-बड़े पापोंका मूलोच्छेद करनेवाला है । मोक्षरूपिणी लक्ष्मीके लिये तो यह वशीकरण ही है । इतना ही नहीं, यह केवल गूँगोंको

यज्ञ और आधानकी सफलताके लिये उनके अङ्गभूत ज्ञान और पूर्णाहुतिकी महिमा बतलानेवाले वाक्योंको अर्थवाद मान लेना ठीक है, परन्तु यहाँ नामकीर्तन-वाक्य न तो स्मार्त प्रायश्चित्तका अङ्ग है और न इससे स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ ही होता है, इसलिये इसे अर्थवाद नहीं माना जा सकता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥ १ ॥
श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयाधरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रुधारमवशं मां नाथ नित्यं कुरु ॥ २ ॥
यदङ्कमालोकितुमाशु धावतां
मुकुन्दयात्रोत्सवमीक्षितुं च यत् ।

छोड़कर चाण्डालसे लेकर उत्तम जातितकके सभी मनुष्योंके लिये सुलभ है। दीक्षा, दक्षिणा और पुरश्चरणका यह तनिक भी विचार नहीं करता, यह मन्त्र जिह्वाका स्पर्श करते ही सभीके लिये पूर्ण फलद होता है ॥ १ ॥

हे नाथ ! आप मुझे सदाके लिये ऐसी स्थितिमें पहुँचा दें कि मैं श्रीमान्‌के 'श्रीराम ! जनार्दन ! जगन्नाथ ! नारायण ! आनन्दमय ! दयाधर ! कमलाकान्त ! और कृष्ण !' आदि नामरूपी अमृतसे पूर्ण महासागरकी लहरोंकी हिलोरोंमें डूबकर आँसू बहाता हुआ विवश और बेसुध हो जाऊँ ॥ २ ॥

जो दूसरोंके बुरे कामोंको देखनेके लिये दौड़ते हैं और जो भगवान्‌की रथयात्राके उत्सवको देखनेके लिये दौड़ते हैं—इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका अपने-अपने मार्गमें फिसल कर गिरना साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें एक-सा ही नहीं है [अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न तच्च तच्च स्खलितं समं सता-
मतो न लज्जा स्खलतामपीह नः ॥ ३ ॥

अपि च—

सुरसरित इव महाचलगहनगुहाजाड्यजालभेदिन्याः ।
हरिचरणजन्मभूमेः स्खलितमपि कृतेरलङ्कृतिर्ननु नः ॥४॥

अथ वा—

पहलेका गिरना लज्जाजनक है और दूसरेका नहीं] । इसलिये [नाममाहात्म्य-निरूपण करनेमें] यदि हम भी गिरते हैं (कुछ भूल करते हैं) तो भी उसके लिये हमें लज्जा नहीं है ॥ ३ ॥

अपि च—

जिनकी जन्मभूमि भगवान्‌के चरण हैं, जो बड़े-बड़े पर्वतोंकी गहन गुफाएँ और मोहजालका भेदन करती हैं उन श्रीगंगाजीका स्खलन (नीचेकी ओर प्रवाहित होना) भी जिस प्रकार शोभाकी बात है उसी प्रकार जिसका आविर्भाव भगवान्‌के चरणोंसे ही हुआ है, और जो महान् पर्वतोंकी गहन गुफाओंके समान मोह-जालका भेदन करनेवाली है ऐसी हमारी कृति (भगवन्नामकौमुदी) का भी स्खलन (दोष) शोभाकी ही बात है ॥ ४ ॥

अथवा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिभक्तिराजमार्गे गुरुपदनखचन्द्रिकाधौते ।
श्रुतिजननीपदपद्धतिमनुसरतां नः कुतः स्खलितम् ॥ ५ ॥

धर्मः संविद्विषयविरतिः सिद्धयश्चाणिमाद्या
यस्य श्रीमच्चरणनलिनद्वन्द्वपीठे लुठन्ति ।
यस्योन्मेषः सकलभुवनाम्भोजराजीनिमेषः
सोऽस्मत्स्वामी जयति जगतां मङ्गलं यस्य नाम ॥ ६ ॥

अपि च—

गुरुदेवके चरण-नखोंकी चन्द्रिकासे प्रकाशित भगवद्-भक्तिरूप पक्की सड़कपर माता श्रुतिके पीछे-पीछे चलते हुए हमारा स्खलन ही कैसे सम्भव है [अर्थात् हमसे दोष हो ही कैसे सकता है ?] ॥ ५ ॥

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और अणिमा[1] आदि सिद्धियाँ, जिनके शोभायमान युगलचरणकमलोंकी पादुकाओंपर लोटती हैं, जिनके तृतीय लोचनका उन्मेष (खुलना) समस्त भुवनरूप पद्मसमूहके संकोच (नाश) का कारण है तथा जिनका (शिव) नाम जगत्के लिये मङ्गलरूप है उन मेरे स्वामी शङ्करजीकी सदा ही विजय है ॥ ६ ॥

---

१. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ सिद्धियाँ हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वपादपङ्केरुहसीकरस्य
निमज्ज्य माहात्म्यमहार्णवे यः ।
दधौ पुनस्तं स्वयमेव मौलौ
स नो गुरुस्तत्कुलदैवतं नः ॥ ७ ॥

यदङ्घ्रिनखमण्डलाद्विगलितस्य पूर्वं पुन-
र्यदीयकबरीभरार्णवमुपेयुषः पाथसः ।
अशेषजगदंहसां किमपि नाम निर्णेजनं
दयामृतमहाम्बुधेः किमुत नाम तस्यैव तत् ॥ ८ ॥

जिन्होंने [विष्णुस्वरूपसे] अपने चरणारविन्दकी मकरन्दबिन्दुरूपा श्रीगंगाजीकी महिमाके महासागरमें डूबकर स्वयं ही [शिवरूपसे] उन्हें अपने शिरपर धारण कर लिया, वे मेरे गुरुदेव ही मेरे कुलदेवता हैं । [इसमें गुरुके साथ हरि, हर और कुलदेवताका अभेद दिखलाया गया है] ॥ ७ ॥

[विष्णुरूपसे विराजमान हुए] जिन भगवान्‌के चरण-नखोंसे चूकर पुनः [सदाशिवरूपमें सुशोभित होनेवाले] जिन परमेश्वरके ही जटाजूटरूपी महासागरमें मिले हुए गंगाजलका 'गङ्गा' नाम भी यदि सम्पूर्ण संसारके पापोंको धो डालनेका अद्भुत साधन है तो साक्षात् उन करुणासुधा-सागर भगवान्‌का ही नाम पापक्षयका सर्वोत्तम साधन है, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाधाय किञ्चिदपनीय न किञ्चिदन्तः
स्वात्मैव येन सुखसिन्धुरगाधबोधः ।
आविष्कृतः करुणया करवै किमस्य
तन्नाम्नि मग्नमिदमेव मनोऽस्तु पूजा ॥ ९ ॥

झटिति जगतामंहस्तूलं दहद्दहनो मह-
द्दहरकुहरध्वान्तं ध्वंसं नयन्नभसो मणिः ।
किरणलहरी चान्द्री चेतश्चकोरचमत्कृति-
र्भवतु भवतां नामज्योतिर्मुदे मदनद्रुहः ॥१०॥

जिन गुरुदेव अथवा परमेश्वरने मेरे अन्तःकरणमें किसी गुणका आधान और किसी दोषका मार्जन किये विना ही दयावश अगाधबोध एवं आनन्द-महासागररूप अपने आत्माको ही प्रकट कर दिया, उनकी मैं क्या परिचर्या करूँ ? उनके नाममें मग्न हुआ हमारा यह मन ही उनके लिये पूजनरूप हो ॥ ९ ॥

जो जगत्की पापमयी तूलराशि (रूईकी ढेरी) को अग्निके समान दग्ध करनेवाली है, महापुरुषोंके हृदयाकाशमें स्थित अज्ञानान्धकारको सूर्यके समान ध्वस्त करनेवाली है और चन्द्रमाकी किरण-लहरीके समान चित्तरूपी चकोरको चकित कर देनेवाली है वह मदन-दहन भगवान् शङ्करकी नाममयी ज्योति आपलोगोंको प्रसन्न करे ॥ १० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यपादपद्मोपजीविनः श्रीमन्नृसिंहसूनोर्लक्ष्मीधरस्य कृतौ भगवन्नामकौमुद्यां नामकीर्त्तनस्य केवलस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वप्रतिपादनं नाम तृतीयः परिच्छेदः ।*

नन्दानन्दकरं करम्बितकरं हैयङ्गवीनैर्नवैः
शोभामादधतं नवीनजलदे मीलत्सुधांशोः स्फुटम् ।
भक्तानां हृदयस्थितं सततमप्याभीरदृग्गोचरं
गोपालं भजतां मनो मम सदा संसारविच्छित्तये ॥
वद जिह्वे वद जिह्वे चतुरे श्रीराम रामेति ।
पुनरपि जिह्वे वद वद जिह्वे वद राम रामेति ॥

इस प्रकार परमहंस परिव्राजकाचार्य गुरुदेव श्रीमान् अनन्तानन्द रघुनाथजीके चरण-कमलोंके आश्रित रहनेवाले श्रीनृसिंहनन्दन लक्ष्मीधरकी कृति—भगवन्नामकौमुदीमें 'केवल नामकीर्तन ही पुरुषार्थका साधक है' इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।

जो नवीन माखनसे हाथ भरकर नन्दजीको आनन्द दे रहे हैं, नूतन मेघमें छिपते हुए चन्द्रमाकी स्फुट शोभाको धारण करते हैं, सदा अपने भक्तोंके हृदयमें रहते हुए भी व्रजके ग्वालोंको प्रतिदिन दृष्टिगोचर होते हैं उन भगवान् गोपालको मेरा मन अपने संसारबन्धनका उच्छेद करनेके लिये सदा ही भजे ।

अरी बुद्धिमती रसने ! तू 'श्रीराम-श्रीराम' कह, अरी जिह्वे ! तू बारंबार 'राम-राम' रटती रह ।

---

* प्रकाशटीकामें उपर्युक्त दस श्लोकोंपर ही टीका मिलती है, उसके अनुसार यहाँ इस ग्रन्थकी समाप्ति हो जाती है, परन्तु अन्य पुस्तकमें तीन श्लोक और उपलब्ध होते हैं, जो अनुवादसहित नीचे दिये जाते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनादौ संसारे निरवधिकजन्मस्वविरतै-
र्महाघैरेवान्तश्चितकलुषताया हि दहनम् ।
महीध्राणां भस्मीकृतिगहनसंवर्तशिखिनो
भवन्नाम्नः कुक्षेः कियदिव हरे खण्डनलवत् ॥

। इति शम् ।

हे हरे ! अनादि संसारके भीतर अनन्त जन्मोंमें निरन्तर सञ्चित किये हुए महान् पापोंसे मेरे हृदयमें जो कालिमा जम गयी है वह तो आपके नामरूपी प्रचण्ड अग्निके उदरमें तिनके-के एक टुकड़ेके बराबर भी नहीं हो सकती, उसको जलाना क्या बड़ी बात है ? प्रभो ! आपका नाम तो पर्वतोंको भी भस्म कर देनेवाले महान् प्रलयानलके समान है ।

॥ इति शिवम् ॥

श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु

कान्तिः सितामृशति निन्दितशारदेन्दु-
र्यत्रैकतो विलसितामसिताङ्गशोभाम् ।
वृन्दावनेऽनुकृतयामुनगाङ्गसङ्गं
राधामुकुन्दयुगलं तदहं नमामि ॥ १ ॥

घन इव मानसमनिशं पूरयदमितै रसोद्गारैः ।
मणिरिव कण्ठेऽमृतमिव रसनायां रामनामास्तु ॥ २ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृतकी कुछ सानुवाद पुस्तकें—

श्रीविष्णुपुराण–सानुवाद, बड़ा आकार, पृ० ५५०, चित्र ८, मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़ेकी जिल्द ... २॥।)

अध्यात्मरामायण–सानुवाद, बड़ा आकार, पृ० ४०२, चित्र ८, मूल्य साधारण जिल्द १॥।), कपड़ेकी जिल्द ... २)

एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सानुवाद, सचित्र, ८२५० छप चुका है। पृ० ४२०, मू० ॥।), सजिल्द १)

ईशावास्योपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० ५०, मू० ≡)

केनोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १४६, मूल्य ॥)

कठोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १७२, मूल्य ॥–)

मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १३२, मू० ।≡)

प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृ० १३०, मूल्य ।≡)

उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें, सजिल्द [उपनिषद्-भाष्य खण्ड १] हिन्दी-अनुवाद और शाङ्करभाष्यसहित, मू० २।–)

माण्डूक्योपनिषद्–श्रीगौडपादीय कारिकासहित, सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ... १)

ऐतरेयोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य ।=)

तैत्तिरीयोपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मू० ॥।–)

उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें, सजिल्द [उपनिषद्-भाष्य खण्ड २] हिन्दी-अनुवाद और शाङ्करभाष्यसहित, मूल्य २।≡)

छान्दोग्योपनिषद्–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ ९८४, सजिल्द [उपनिषद्-भाष्य खण्ड ३] मूल्य ३॥।)

मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य ॥।–), सजिल्द १–)

विष्णुसहस्रनाम–सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृ० २७५, मू० ॥=)

सूक्तिसुधाकर–सुन्दर श्लोकसंग्रह, सानुवाद, सचित्र, पृ० २७६, मू० ॥=)

स्तोत्ररत्नावली–चुने हुए स्तोत्र, हिन्दी-अनुवादसहित, ४ चित्र, पृ० २३० ॥)

श्रुतिरत्नावली–चुनी हुई श्रुतियाँ, सानुवाद, सचित्र, पृ० २८४, मूल्य ॥)

विवेकचूडामणि–सानुवाद, सचित्र, तीसरा संस्करण, पृ० १८५, मू० ।–)

प्रबोधसुधाकर–सानुवाद, दो चित्र, दूसरा संस्करण, पृ० ८०, मू० ≡)॥

शतश्लोकी–स्वामी शंकराचार्यकृत, सानुवाद, पृष्ठ ६४, मूल्य =)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमार्थ-ग्रन्थमालाकी मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-)

···पुस्तकमें धर्मका भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठसे सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। ···लेख तो अमृतरूप ही हैं (माधुरी)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २—पृष्ठ ६३०, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=)

मानव-धर्म—धर्मके दस प्रकारके भेद बड़ी सरल सुबोध भाषामें उदाहरणोंसहित समझाये गये हैं। मू० ≡)

साधन-पथ—इसमें साधन-पथके विघ्नों, उनके निवारणके उपायों तथा सहायक साधनोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। पृष्ठ ७२; मूल्य =)॥

तुलसीदल—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ सुन्दर लेखोंका संग्रह, भगवान्‌का एक सुन्दर चित्र भी है। पृष्ठ २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡)

परमार्थ-पत्रावली—श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह, मूल्य ।)

नैवेद्य—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ और चुने हुए लेखोंका सचित्र संग्रह, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡)

प्राचीन सद्ग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता—शांकरभाष्यका मूलसहित हिन्दी-अनुवाद २॥) २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय और भाषाटीकासहित १।)

श्रीमद्भगवद्गीता ,, (मझली) ॥≡)

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक ॥) ॥≡)

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक =)॥ ≡)॥

श्रीमद्भगवद्गीता मूल मोटे अक्षर ।-)

श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम -)॥

श्रीमद्भगवद्गीता, केवल भाषा ।)

श्रीमद्भगवद्गीता, ताबीजी =)

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध सानुवाद (सचित्र) ॥।) स० १)

अध्यात्मरामायण सटीक १॥।), २)

श्रुतिरत्नावली—श्रुतियोंका अर्थसहित संग्रह सचित्र पृ० २८४ मू० ॥)

विवेक-चूडामणि—सानुवाद (सचित्र) मूल्य ।-) सजिल्द ॥)

प्रबोधसुधाकर—सानुवाद ≡)॥

अपरोक्षानुभूति—सानुवाद =)॥

मनुस्मृति द्वितीय अ० सटीक -)॥

रामगीता—सटीक, मूल्य)॥।

विष्णुसहस्रनाम—मूल, मूल्य)॥।

प्रश्नोत्तरी—सटीक, मूल्य)॥

सन्ध्या—हिन्दी-विधिसहित)॥

बलिवैश्वदेवविधि—मूल्य)॥

पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—५ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ८०, २५००० छप चुकी है, मू० ।—); इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं ।

भक्त नारी—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ८०, २५००० छप चुकी है, मू० ।—); इसमें शबरी, मीराबाई, जनाबाई, करमैतीबाई और रबियाकी कथाएँ हैं ।

भक्त-पञ्चरत्न—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९८, २०२५० छप चुकी है, मू० ।—); इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं ।

आदर्श भक्त—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १११, मू० ।—); इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं ।

भक्त-चन्द्रिका—सुन्दर ७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९६, मू० ।—); इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं ।

भक्त-सप्तरत्न—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १०५, मू० ।—); इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं ।

भक्त-कुसुम—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९१, मू० ।—); इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं ।

प्रेमी भक्त—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १०३, मू० ।—); इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं ।

यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ—३ चित्र, पृष्ठ ९२, मूल्य ।); इसमें साध्वी रानी एलिज़ाबेथ, साध्वी कैथेरिन, साध्वी गेयों और साध्वी लुइसाकी सुन्दर उपदेशप्रद जीवनियाँ हैं ।

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है ।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

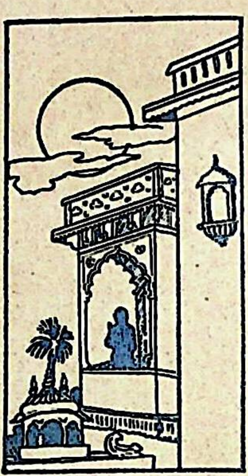

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi